शतपथ ब्राह्मण
एक सांस्कृतिक अध्ययन

डा० उर्मिला देवी शर्मा



(35)



35

शतपथ ब्राह्मण
एक सांस्कृतिक अध्ययन



शतपथ ब्राह्मण
एक सांस्कृतिक अध्ययन



श्रीमती उर्मिला देवी शर्मा
एम०ए०, पी-एच०डी०
असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर

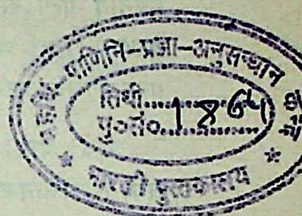
मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन्स
नई दिल्ली

प्रकाशक :
मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन्स
1, अन्सारो रोड, दरियागंज
नई दिल्ली

प्रथम संस्करण
1982

मुद्रक :
श्री भारत भारती प्राइवेट लिमिटेड,
1, अन्सारी रोड, नई दिल्ली

ŚATAPATHA BRĀHMAṆA—
EKA SĀṀSKṚTIKA ADHYAYANA
by
URMILA DEVI SHARMA



भूमिका

सुप्रसिद्ध पाश्चात्य वेदज्ञ विद्वान् मैक्समूलर ने अपने ग्रन्थ *India : What Can It Teach Us* में अपने अनवरत वेदाध्ययन के निचोड़ को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है—

> **मानव-जाति का अध्ययन करने के लिए संसार का कोई भी साहित्य वैदिक साहित्य की बराबरी नहीं कर सकता।**

निःसन्देह वैदिक वाङ्मय हमारे समाज के धार्मिक तथा सांस्कृतिक परिवेश की अमूल्य निधि है। वेद के शब्द अपने भीतर निगूढतम अर्थपरम्परा को छिपाए हुए हैं, अतः शब्द-प्रमाण के रूप में वेदों का महत्त्व अक्षुण्ण है। इसीलिए इनके प्रति अनन्तकाल से भारतीयों की अविचल श्रद्धा के प्रमाण इतिहास तथा अनुश्रुति परम्परा से प्राप्त हैं। भारतीय आर्यों के ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश-पुञ्ज इस वाङ्मय ने विदेशों में भी ज्ञानपिपासुओं की हृत्तन्त्री को बहुशः आन्दोलित किया है। अतः वेद सार्वकालिक तथा सार्वजनिक हैं।

वैदिक साहित्य का सर्वोपरि ग्रन्थ निःसन्देह ऋग्वेद है किन्तु इसके तुरन्त बाद यदि किसी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का नाम लिया जा सकता है तो वह है शतपथ ब्राह्मण। मैक्डॉनल ने भी इसे पूरे वदिक साहित्य में ऋग्वेद के बाद परम महत्त्व का ग्रन्थ बताया है। वैदिक संस्कृति की अविरल प्रवहमान सरिता को अपनी जीवन-धारा से परिप्लावित करने वाला तथा पूर्ववर्ती वैदिक संस्कृति की मुक्तालड़ियों को परवर्ती पौराणिक संस्कृति से जोड़ने वाला यदि कोई एकाकी प्रेरक आर्ष ग्रन्थ है तो वह है शतपथ ब्राह्मण। शोधकृति हेतु प्रस्तुत ग्रन्थ का चयन मेरे लिए गौरव का विषय है।

स्नातकोत्तर अध्ययनकाल से ही वैदिक वाङ्मय के अनुशीलन में मेरी विशेष अभिरुचि जाग्रत् हो चुकी थी। वेद-वाणी में व्यक्त उदात्त ऋषिमेधा का आकर्षण अपरिहार्य था अतः अध्ययन की परिसमाप्ति पर शोध-विषय-सम्बन्धी ऊहापोह प्रारंभ हुई। प्राचीन भारत के धर्म, संस्कृति, इतिहास, राजनीति आदि से सम्बन्धित दृष्टिपथ में आए सभी ग्रन्थों में शतपथ के संदर्भों की संख्या के बाहुल्य ने यह विचार प्रतिष्ठापित कर दिया कि वस्तुतः शतपथ वैदिक वाङ्मय का बहुचर्चित तथा लोकप्रिय ग्रन्थ है। जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि इतना

महनीय ग्रन्थ शोधकर्त्ताओं की उपेक्षा का पात्र कैसे रहा ? सहपाठियों तथा गुरुजनों से हुई चर्चा के फलस्वरूप पता लगा कि उपेक्षा का कारण था प्रस्तुत ग्रन्थ की विशालकायता तथा कर्मकाण्डीय विषय-जन्य नीरसता।

एक ओर लोकप्रियता तथा दूसरी ओर नीरसता की बात अटपटी सी लगी। अचानक विचार आया कि कहीं यह वस्तुस्थिति प्रस्तुत सुभाषित के मर्म की उद्घाटक तो नहीं है जिसमें कहा गया है कि सूखी धरती को खोदने पर ही भीतर रस की उपलब्धि होती है—

विशुष्कां पृथिवीं खात्वा लभते जलमन्तरे।
निर्वाते व्यजनान्नूनं लभते वायुमञ्जसा॥

शतपथ से संबन्धित अध्ययन जब मैंने प्रारम्भ किया तो पं० मोतीलाल शास्त्री कृत शतपथ ब्राह्मण के हिन्दी विज्ञान-भाष्य की भूमिका में डॉ० सम्पूर्णानंद के उद्गार पढ़े। उन्होंने लिखा है कि "वस्तुतः ब्राह्मण ग्रन्थ सूखे कर्मकाण्ड की विधि बताने वाली रचनाएँ नहीं हैं। उनमें तत्कालीन भारतीय समाज का कई दृष्टियों से चित्र मिलता है, और साथ ही दार्शनिक विचार-विमर्श भी दीख पड़ता है। एक बार रुचि उत्पन्न हो जाने पर अध्ययन जारी रखने को जी चाहता है। ब्राह्मणग्रन्थों में शतपथ का स्थान सबसे ऊँचा है...."। प्रस्तुत कथन ने सचमुच मेरी जिज्ञासा को अमन्दरूप से आलोकित किया तथा मैंने शतपथ के प्रशस्त राजमार्ग पर चलने का दुस्साहस प्रारंभ किया।

शतपथ का अध्ययन करते समय मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि एक ऐसा अक्षय ज्ञानभंडार मेरे समक्ष उद्घाटित हो रहा है जो अब तक अध्ययनाभाव के अतल गर्त्त में उपेक्षित ही पड़ा था। शोध के नित्य नए आयाम मेरी दृष्टि में आते गए जिन्हें इस एक कृति में संवलित करना दुष्कर प्रतीत हुआ। "सारं तथा ग्राह्यमपास्य फल्गुः" सूक्ति के अनुसार विषय को समायोजित कर ग्रन्थ-रूप में प्रस्तुत करने का मेरा यह लघु उपक्रम है।

पं० बुद्धदेव द्वारा लिखित "शतपथ ब्राह्मण में एकपथ" तथा ब्रजबिहारी चौबे द्वारा लिखित "शतपथ ब्राह्मण की स्वरप्रक्रिया" प्रकाशित कृतियाँ उपलब्ध हैं किन्तु इनकी शैली; मात्र शिल्प-उद्दिष्ट होने के कारण, ये शतपथ-निहित सामग्री की प्रकाशक नहीं हैं। अतः कथ्य-विवेचन की दृष्टि से "शतपथ ब्राह्मण—एक सांस्कृतिक अध्ययन" अकिंचन किंवा अछूता प्रयास है।

श्री युधिष्ठिर मीमांसक तथा श्री चिन्न स्वामी प्रभृति विद्वानों ने भी अपने ग्रन्थों में यज्ञ-विवेचन हेतु मूलाधार गृह्य तथा श्रौत सूत्रों को ही बनाया है।

शतपथ से तो केवल कर्मकाण्ड के प्रासंगिक संदर्भ ही उद्धृत किए जाते रहे हैं। प्रस्तुत कृति में यज्ञों के शातपथिक स्वरूप को प्रथम बार शृंखलाबद्ध किया गया है। सृष्टिविद्या एवं संवत्सर-विज्ञान नामक अध्याय में तत्सम्बन्धी जिज्ञासाओं के उपशमन हेतु पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। पशु-पक्षी तथा वनस्पति जगत् नामक अध्याय में पाठक की ज्ञानसमृद्धि हेतु रोचक तथा उपयोगी सामग्री संवलित है। संस्कृति सामाजिक जीवन की ही अभिव्यंजना है, अतः शतपथ में वर्णित समाज तथा तत्सम्बन्धी विविध पक्षों का समावेश भी प्रस्तुत कृति में किया गया है। उपाख्यानों से सम्बन्धित अध्याय इस कृति की प्रमुख विशेषता है। शतपथ में उपलब्ध एक सौ चालीस उपाख्यानों का वर्गीकरण कर, उन्हें क्रमशः प्रयोजनों, संदर्भों तथा उचित शीर्षकों सहित विवरण तालिका के माध्यम से प्रस्तुत कर प्रथम बार विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ शतपथ के सांस्कृतिक अध्ययन का प्रथम प्रयास है, अतः मुझे विश्वास है कि विद्वज्जनों का अनुग्रह तथा आशीर्वाद इसे प्राप्त होगा। यह शोधकर्त्ताओं के लिए अनेक नवीन क्षितिजों की उद्भावना करने में समर्थ होगा तथा भारतीय संस्कृति में रुचि रखने वाले पाठकों की जिज्ञासा की पूर्ति करेगा।

सम्माननीय गुरुवर्य शोधनिदेशक डॉ० पुरुषोत्तम लाल भार्गव की मैं सर्वाधिक आभारी हूँ जिन्होंने शोध-विषय को सद्यः उदार अनुमति प्रदान कर मेरे अध्ययन-मार्ग को सरल बनाया तथा जिनके अनुभवपूर्ण निदेशन के कारण इस शोधकृति का प्रणयन हो सका।

आदरणीय गुरुदेव डॉ० एस० के गुप्त के प्रति भी आभारी हूँ जिन्होंने अध्यापनकाल में वेदों में आस्था उत्पन्न कर गवेषणापूर्ण दृष्टि प्रदान की। कृतज्ञ हूँ हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार अपने पतिदेव डॉ० मदन गोपाल शर्मा की जिन्होंने बड़े उत्साह के साथ इस शोधरचना हेतु अध्ययन करने की अनुमति प्रदान की तथा समय-समय पर अनेक उपयोगी सुझाव दिए। आत्मज श्री विनय कुमार भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने अत्यन्त तत्परता के साथ पाण्डुलिपि टंकित कर पुस्तक की अविलम्ब समाप्ति हेतु सहयोग प्रदान किया।

प्रस्तुत ग्रन्थ मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन्स से प्रकाशित हो रहा है जिसका श्रेय स्वर्गीय लाला खज़ानचीराम जी को है जिनके अहेतुक स्नेह तथा प्रशंसा-भाव को मैं विस्मृत नहीं कर पाती हूँ। प्रारम्भ से ही प्रस्तुत कृति की पाण्डुलिपि उनके पास थी जिसका प्रकाशित रूप मुझे आज उनकी अनुपस्थिति में मिल रहा है। मैं हृदय से उनके प्रति कृतज्ञ हूँ।

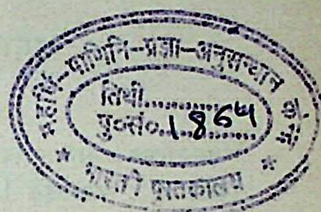
अन्त में स्वर्गीय लालाजी के सुपुत्र श्री सुदर्शनजी को अनेक धन्यवाद,

जिन्होंने मुद्रण तथा प्रकाशन सम्बन्धी विषम परिस्थितियों के होते हुए भी इस कृति के प्रकाशन को प्राथमिकता प्रदान की।

शतपथ में मानव को 'अनृत' इसीलिए कहा गया है कि त्रुटि करना उसका स्वाभाविक दोष है। मेरी प्रस्तुत रचना में भी त्रुटियाँ स्वाभाविक हैं। प्रकाशन सम्बन्धी त्रुटियों का निराकरण तो अन्त में शुद्धिपत्र देकर कर दिया गया है किन्तु अन्य भूलों के लिए मैं प्रबुद्ध पाठक-वृन्द के समक्ष क्षमाप्रार्थिनी हूँ तथा उनके सुझावों की आकांक्षिणी हूँ। किमधिकम् ?

उर्मिला देवी शर्मा
असिस्टैंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर

20 सितम्बर, 1982



प्रथम अध्याय

शतपथ—एक परिचय

1–37

द्वितीय अध्याय

धर्म एवं धार्मिक आस्थाएँ

38–84

तृतीय अध्याय

देव, मानव तथा असुर

85–118

चतुर्थ अध्याय

समाज, राज्य एवं वर्ण-व्यवस्था

119–170

पञ्चम अध्याय

आर्थिक जीवन

171–189

षष्ठ अध्याय

स्वाध्याय, विद्या एवं कला

190–202

सप्तम अध्याय

सृष्टि तथा संवत्सर-विज्ञान

203–220

अष्टम अध्याय

पशु-पक्षी तथा वनस्पति जगत्

221–254

नवम अध्याय

शतपथ के उपाख्यान

255–277

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

281–285

नामानुक्रमणिका

286–293

शुद्धि-पत्र

294–296

संकेत-सूची

अभि० शा०	अभिज्ञान शाकुन्तल
आप० ध० सू०	आपस्तम्ब धर्मसूत्र
आप० श्रौ० सू०	आपस्तम्ब श्रौतसूत्र
आश्व० गृ० सू०	आश्वलायन गृह्यसूत्र
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
का० सं०	काठक संहिता
का० श्रौ० सू०	कात्यायन श्रौतसूत्र
कौ० ब्रा०	कौषीतकि ब्राह्मण
गो० ब्रा०	गोपथ ब्राह्मण
गोभि० गृ० सू०	गोभिल गृह्यसूत्र
गौ० ध० सू०	गौतम धर्मसूत्र
जै० उप०	जैमिनीय उपनिषद्
तां० ब्रा०	ताण्ड्य ब्राह्मण
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० सं०	तैत्तिरीय संहिता
पञ्च० ब्रा०	पञ्चविंश ब्राह्मण
पा० गृ० सू०	पारस्कर गृह्यसूत्र
बृ० उप०	बृहदारण्यक उपनिषद्
ब्र० सू० भा०	ब्रह्मसूत्र भाष्य
ब्रह्मां० पु०	ब्रह्माण्ड पुराण
बौ० शु० सू०	बौधायन शुल्वसूत्र
मार्क० पु०	मार्कण्डेय पुराण
मै० सं०	मैत्रायणी संहिता
ला० श्रौ० सू०	लाट्यायन श्रौतसूत्र
वा० पु०	वायु पुराण
वि० धर्मो० पु०	विष्णुधर्मोत्तर पुराण
वि० पु०	विष्णु पुराण
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
शां० आ०	शाङ्खायन आरण्यक
शां० ब्रा०	शाङ्खायन ब्राह्मण
ष० ब्रा०	षड्विंश ब्राह्मण
स्कं० पु०	स्कन्द पुराण

प्रथम अध्याय

शतपथ—एक परिचय

ब्रह्म तथा ब्राह्मण

शतपथ ब्राह्मण में अन्तर्निहित संस्कृति का अध्ययन करने से पूर्व शतपथ ब्राह्मण की अभिधानात्मक एवं विषय-सम्बन्धी विवेचना अपेक्षित है। 'ब्रह्मन्' शब्द में तद्धितार्थक 'अण्' प्रत्यय लगने से 'ब्राह्मण' शब्द की रचना हुई है अतः ब्रह्म शब्द के रूढ तथा प्रचलित विभिन्न अर्थों को स्वेच्छानुसार ग्रहण कर विद्वानों ने ब्राह्मण ग्रंथों के प्रस्तुत नामकरण पर विभिन्न मत प्रतिपादित किए हैं। व्हिटनी, वेस्टरगार्ड तथा कुछ अन्य यूरोपीय विद्वानों ने 'प्रार्थना एवं उपासना' अर्थ-द्योतक 'ब्रह्मम्' से ब्राह्मण शब्द की रचना मानी है।[1] नपुंसक-लिंग 'ब्रह्मम्' शब्द का अर्थ परमेश्वर है, अतः मैक्डॉनल ने उपर्युक्त विचार को सहमति प्रदान करते हुए कल्पना की : "क्योंकि इनमें प्रार्थना तथा उपासना के साथ-साथ ब्रह्म(परमेश्वर)सम्बन्धी विचार भी प्रस्तुत किये गए हैं, अतः इस ग्रन्थ-राशि को ब्राह्मण संज्ञा दी गई।"[2] ब्रह्म का एक अर्थ है 'वितान' या 'परि-बृंहण'। कतिपय विद्वानों का विचार है कि ब्राह्मणों में चूंकि याज्ञिक क्रियाओं, निर्वचन, पुराकल्प, इतिहास, आख्यानादि विषयों का—जिनका सूत्र वैदिक संहिताओं में है—विस्तार प्राप्त है, अतः इन्हें ब्राह्मण कहा गया किन्तु स्वयं ब्राह्मण ग्रन्थों में ब्रह्म के इतर अर्थ भी मिलते हैं। शतपथ ब्राह्मण में 'ब्रह्म' का अर्थ मन्त्र दिया गया है।[3] मेदिनी कोश ने 'ब्रह्म' के इसी अर्थ को लेकर ब्राह्मण (ग्रन्थवाचक) शब्द का अर्थ स्पष्ट किया है। "ब्रह्माणि नाम मन्त्राः संह्रयन्ते स्पष्टीक्रियन्ते व्याख्यायन्ते वा यस्मिन् तादृशे वेदभागे ब्राह्मण शब्द इत्यर्थः।"

'ब्रह्म' यज्ञ का भी पर्याय है।[4] ब्राह्मण ग्रन्थों का अध्ययन करने के उपरान्त अध्येता पर प्रथम प्रतिक्रिया यही होती है कि इन ग्रंथों का प्रमुख विवेच्य विषय

1. जे० एगलिंग, द शतपथ ब्राह्मण, भाग I, इण्ट्रोडक्शन, पृ० 22
2. ए० ए० मैक्डॉनल, द हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० 26
3. 'ब्रह्म वै मन्त्रः', श० ब्रा०, 7, 1, 1, 5
4. 'ब्रह्म वै यज्ञः', ऐ० ब्रा०, 7, 22

यज्ञ है। याज्ञिक कर्मकाण्ड की सूक्ष्म विवेचना के साथ-साथ वैदिक मन्त्रों के द्वारा तत्तत् अनुष्ठानों की संगति स्थापित कर तथा उनकी व्याख्या करके उन्हें प्रामाणिकता प्रदान की गई है। यज्ञों का वैज्ञानिक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक विवेचन तथा वेद मन्त्रों की व्याख्या, दोनों विषयों का इनमें समावेश होने के कारण ही इनका 'ब्राह्मण' नामकरण किया गया; यही कथन अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है। भट्ट भास्कर ने तैत्तिरीय संहिता के भाष्य में ग्रन्थवाचक ब्राह्मण शब्द की यही परिभाषा प्रस्तुत की है—

ब्राह्मणं नाम कर्मणः तन्मन्त्राणां च व्याख्यानग्रन्थः ।[1]

ब्राह्मणम् एवं ब्रह्मवादी

ब्राह्मण ग्रन्थों में मन्त्रों की व्याख्या प्रासंगिक रूप में ही हुई है, अतः "'ब्रह्म' (मन्त्र) की व्याख्या किए जाने के कारण ये 'ब्राह्मण' नाम से अभिहित किए गए" कथन एकांगी ही सिद्ध होगा। वस्तुतः यज्ञ से ही ब्रह्म तथा ब्राह्मण (ग्रन्थवाचक) शब्द का निकटतम सम्बन्ध है। ब्राह्मण ग्रन्थों का अन्तःसाक्ष्य भी यही प्रमाणित करता है। ब्राह्मणों में यज्ञिय विषयों के मीमांसक विद्वानों को ब्रह्मवादी संज्ञा दी गई है। तांड्य ब्राह्मण में 'एवं ब्रह्मवादिनो वदन्ति' कह कर अनेक यज्ञिय गुत्थियों को सुलझाने का प्रशस्त प्रयास किया गया है।[2] शतपथ ब्राह्मण में ऐसे ब्रह्मवादियों का नामोल्लेख भी किया गया है जैसे दीक्षा से पहले दिन भोजन करने या न करने के मतभेद को लेकर आषाढ सावयस तथा याज्ञवल्क्य का नाम।[3] इन उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञ की गुह्यतम गुत्थियों को सुलझाने वाले मीमांसक ब्रह्मवादी कहे जाते थे तथा जिन गोष्ठियों में ये अपने विचारों को प्रस्तुत करते थे, वे गोष्ठियाँ 'ब्रह्मोद्य' कही जाती थीं। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि ब्राह्मण ग्रंथों के उक्त नामकरण का सीधा सम्बन्ध ब्रह्मोद्य तथा ब्रह्मवादियों से है न कि ब्राह्मण जाति से जैसाकि कुछ विद्वानों ने अनुमान लगाया है। मैक्समूलर तथा वेबर के विचार का अनुसरण करते हुए एगलिंग का कथन है कि 'याज्ञिक कृत्यों के प्रधान संचालक ब्राह्मण पुरोहित थे, अतः इन ग्रंथों को ब्राह्मण कहा गया है'।[4]

---

1. भट्ट भास्कर का तैत्तिरीय संहिता-भाष्य, 1, 5, 1
2. तां० ब्रा०, 6, 4, 15
3. श० ब्रा०, 1, 1, 1 7–10
4. जे० एगलिंग, द शतपथ ब्राह्मण, पार्ट I, इण्ट्रोडक्शन पृ० 22

रचना के प्रति जातीय गर्व या मोह का आश्रय वेद, उपनिषद् आदि को छोड़ कर ब्राह्मण ग्रन्थों को ही ब्राह्मणों ने बनाया—यह तथ्य कदापि बुद्धिगम्य प्रतीत नहीं होता है। इस सूत्र के अनुसार तो सम्पूर्ण वैदिक साहित्य, पुराण, स्मृति आदि सभी का ब्राह्मण अभिधान किया जाना चाहिए था। उपर्युक्त ब्रह्मोद्य एवं ब्रह्मवादी संज्ञाएँ इस भ्रम का सहज ही निराकरण करने में समर्थ हैं अतः यह कहना उचित होगा कि जिस प्रकार यज्ञ की गुह्यतम गुत्थियों को सुलझाने वाले मीमांसक ब्रह्मवादी कहे जाते थे, उसी प्रकार यज्ञ की गूढ़ मीमांसा से सन्निविष्ट होने के कारण प्रस्तुत ग्रंथों का ब्राह्मण नामकरण किया गया। निरुक्त में ब्राह्मणों के लिए निदेश 'इति विज्ञायते' भी प्रत्यक्षतः इसी परिभाषा की ओर इंगित कर रहा है क्योंकि दुर्गाचार्य ने इसकी व्याख्या 'एवं ब्राह्मणे अपि विचार्यमाणे ज्ञायते' की है।[1] प्रासंगिक रूप से इन ग्रंथों में उपासना एवं प्रार्थना, ब्रह्म पर विचार-विमर्श, वैदिक संहिताओं में सूत्ररूप में प्राप्त इतिहास-उपाख्यान आदि का वितान तथा मन्त्रों की व्याख्या आदि भी मिलते हैं। ब्रह्म शब्द के सम्पूर्ण अर्थों की समन्विति के इस संयोग ने ब्राह्मण अभिधान को कितना सार्थक एवं सांगोपांग बना दिया है! अतः संक्षिप्त रूप में कह सकते हैं कि ब्रह्म के व्याख्यापरक ग्रंथ ही ब्राह्मण हैं।[2]

ब्राह्मण तथा ब्राह्मणम्

जातिवाचक तथा ग्रन्थवाचक ब्राह्मण शब्द की भिन्नता को स्पष्ट करने के लिए वैयाकरणों ने ग्रंथवाचक ब्राह्मण शब्द के लिए नपुंसकलिंग तथा जाति-वाचक के लिए पुल्लिंग का विधान किया है। मेदिनी कोश ने 'ब्राह्मणं ब्रह्मसंघाते वेदभागे नपुंसकम्' उद्धृत कर इस भेद को स्पष्ट किया है किन्तु महाभारत में पुल्लिंग का प्रयोग भी मिलता है—

य इमे ब्राह्मणाः प्रोक्ता मन्त्रा वै प्रोक्षणे गवाम्।
एते प्रमाणं भवत उता हो नेति वासव॥[3]

तथा विष्णुधर्मोत्तर पुराण में ग्रन्थ अर्थ में ब्राह्मण शब्द नपुंसकलिंग ही प्रयुक्त हुआ है—

मन्त्राः सब्राह्मणाः प्रोक्ता तदर्थं ब्राह्मणं स्मृतम्[4]

---

1. दुर्गाचार्य की निरुक्त टीका, 3, 11 तथा 2, 18
2. बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० 173
3. महाभारत, उद्योग पर्व, अध्याय 16
4. वि० धर्मो० पु०, खण्ड 3, अध्याय 7

अपवाद रूप में प्रयुक्त विरल उदाहरणों के अतिरिक्त अन्यत्र सर्वत्र ग्रन्थ-वाचक शब्द नपुंसकलिंग में ही मिलता है, अतः प्रस्तुत भेद वास्तविक प्रतीत होता है। ग्रंथ अर्थ में 'ब्राह्मणम्' शब्द का प्रयोग अष्टाध्यायी,[1] निरुक्त[2], ऐतरेय ब्राह्मण[3] तथा स्वयं शतपथ ब्राह्मण[4] में मिलता है किन्तु तैत्तिरीय संहिता[5] में प्राप्त प्रयोग प्राचीनतम कहा जा सकता है।

इस प्रकार उपर्युक्त तथ्य तथा प्रमाण ग्रंथवाचक एवं व्यक्तिवाचक ब्राह्मण शब्दगत भेद को स्वतः ही स्पष्ट कर देते हैं। साथ ही नामकरण-सम्बन्धी पारिभाषिक निष्कर्ष को भी परिपुष्ट करने में सहायक सिद्ध होते हैं।

'शतपथ' अभिधान

ब्राह्मण शब्द की विवेचना के पश्चात् 'शतपथ' शब्द की अभिधानात्मक विशेषता पर दृष्टि निक्षेप आवश्यक है। अत्यन्त स्पष्ट होते हुए भी इस शब्द की ग्रन्थ के नामकरण की सार्थकता के साथ संगति बैठाना कुछ कठिन-सा है। अधिकांश विद्वानों ने शतपथ ब्राह्मण के अध्यायों की शतम् संख्या से ही इसका सम्बन्ध निर्धारित किया है। श्रीधर शर्मा द्वारा लिखित 'शतं पन्थानो मार्गा नामाध्याया यस्य तच्छतपथम्'[6] परिभाषा शतपथ के सौ अध्यायों की ओर ही इंगित करती है। भाषिक सूत्र भाष्य में 'शतपथवत् ताण्ड्य भाल्लविनां स्वराः' सूत्र की व्याख्या करते समय 'शतपथश्च शताध्यायैः' द्वारा इसी विचार को प्रतिपादित किया गया है। शुक्लयजुर्वेद के माध्यंदिनशाखीय शतपथ में वस्तुतः सौ अध्याय ही हैं किन्तु काण्वशाखीय शतपथ में एक सौ चार अध्यायों की उपलब्धि इस विचारधारा को निर्मूल कर देती है। फिर भी श्रीधर शर्मा का आग्रहपूर्वक कहना है कि "काण्व शतपथ के चतुरुत्तर शताध्याय हैं किन्तु 'छत्रिन्याय' से शतपथ संज्ञा उचित है।" मेरी सम्मति में 'छत्रिन्याय' का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं है जबकि अन्य सार्थक संभावनाओं के लिए पर्याप्त अवकाश है।

---

1. अष्टाध्यायी, 4, 3, 105 : पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु।
2. निरुक्त०, 4, 27
3. ऐ० ब्रा०, 6, 22 तथा 8, 2
4. श० ब्रा०, 4, 6, 9, 20 : यद् वाकोवाक्यं ब्राह्मणम्......
5. तै० सं०, 3, 7, 1, 1 : एतद् ब्राह्मणान्येव पंचहवींषि'।
6. 'शतपथ ब्राह्मण', लक्ष्मी वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई द्वारा प्रकाशित में श्रीधर शर्मा द्वारा लिखित उपोद्घात, पृ० 22 से उद्धृत

ब्राह्मणों के ऐतरेय, शांखायन, तैत्तिरीय, तांड्य आदि नामकरणों की गवेषणा करने पर प्रत्यक्ष है कि सम्बद्ध शाखा-विशेष के नाम पर भी रचनाओं का नामकरण हुआ करता था। यह अनुमान अनुचित नहीं है कि शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता से सम्बद्ध आचार्यों की कोई शतपथी शाखा रही होगी जिनकी विशेषता थी यज्ञ-सम्बन्धी छोटे-बड़े विधि-विधानों की सैकड़ों प्रक्रियाओं पर चिंतन तथा दूरारोहण करना। इस शाखा से सम्बद्ध आचार्यों ने विधि-विधान-सम्बन्धी जो कुछ भी निष्कर्ष तथा सिद्धान्त दिए वे शतपथ ब्राह्मण की सामग्री के रूप में हमें मिले। लेखिका का अनुमान है कि आजकल भारत में—विशेषतः असम व उड़ीसा प्रदेश में—प्राप्त 'सतपती' उपनाम संभवतः इसी शतपथी शाखा वाले आचार्यों की वंश-परम्परा का अवशेष रूप है।

तत्कालीन अध्ययन की परम्परा के अनुसार शतपथी आचार्य शतपथ ब्राह्मण के विभिन्न अध्यायों तक भी स्वाध्याय करने की अनुज्ञा प्रदान करते थे।[1] 'शतपथ षष्टिपथ शब्दाभ्यां क्रतूक्थादि सूत्रान्ताट्ठक्' के वार्तिक में निदेश है[2] कि षिकन् प्रत्यय के विहित होने पर 'शतपथमधीते शतपथिकः', 'षष्टिपथमधीते षष्टिपथिकः' होता है। पाणिनि सूत्र 'अव्ययं विभक्ति समीपः' (२, १, ६) के उदाहरण 'अग्निग्रंथपर्यन्तमधीते साग्निः' से यही सिद्ध होता है कि इच्छित अध्यायों तक स्वाध्याय की परम्परा शतपथी शाखा के अध्येताओं में प्रचलित थी। महाभारत में व्यास मुनि ने अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से शतपथ ब्राह्मण के सोद्दिष्ट विभाग किए हैं—

ततः षष्टिपथं कृत्स्नं सरहस्यं ससंग्रहम्।
चक्रे सपरिशेषञ्च सोत्तरञ्च प्रहर्षतः॥[3]

शतपथ ब्राह्मण के आरंभ से लेकर नौ काण्ड तक साठ अध्याय हैं जिन्हें ऊपर षष्टिपथ संज्ञा प्रदान की गई है। दसवां काण्ड 'अग्नि-रहस्य' संज्ञक है। ग्यारहवें काण्ड को संग्रह काण्ड कहा जाता है। बारहवें, तेरहवें तथा चौदहवें काण्डों को समष्टिगत 'परिशेष काण्ड' संज्ञा प्रदान की गई है क्योंकि उक्त ग्यारहवें काण्ड तक के कर्मों से अवशिष्ट कर्मों का अभिधायकत्व इन्हीं तीनों काण्डों में प्राप्त

---

1. कात्यायन के तृतीय प्रतिज्ञा परिशिष्ट में शतपथ ब्राह्मण की—'इत्यनेन षष्ट्यध्यायसंमितो भागः षष्टिपथः, अशीत्यध्यायसंमितो भागो अशीतिपथः, पंचदशाध्यायसंमितो भागः पंचदशपथः'—अवान्तर संज्ञाए प्रतिपादित की गई हैं।
2. पाणिनि, 4, 2, 60
3. महाभारत, शान्ति पर्व, मोक्ष धर्म, 43, 16

है। प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट है कि उक्त सम्पूर्ण विभागों को अपनी परिधि में सन्निविष्ट करने वाले 'शतपथ ब्राह्मणम्' का शतपथ अभिधान अभिधाजन्य की अपेक्षा लक्षणाजन्य अधिक प्रतीत होता है। शतपथ ब्राह्मण के प्रस्तुत शाब्दिक विवेचन के उपरान्त अब ब्राह्मण वाङ्मय का विहंगावलोकन कर उसमें शतपथ ब्राह्मण का स्थान निर्धारित करना अपेक्षित है।

जिस प्रकार 1130 संहिताओं में से ग्यारह संहिताएं ही उपलब्ध हैं उसी प्रकार 1130 ब्राह्मणों में से केवल अठारह ब्राह्मण ही मिलते हैं।[1] मन्त्रों के द्रष्टा ऋषि कहलाते थे तथा ब्राह्मणों के प्रणेता आचार्य। आश्वलायन गृह्य सूत्र में ऋषि तर्पण के साथ आचार्य तर्पण का भी विधान है।[2] साथ ही ब्राह्मणों के रचयिता आचार्यों के तीन गणों का भी उल्लेख है जो माण्डूकेय, शांखायन तथा आश्वलायन हैं। इन गणों से सम्बन्धित आचार्यों की सूची निम्न प्रकार है—

(1) कहोल (2) कौषीतकि (3) महाकौषीतक (4) भरद्वाज (5) पैंग्य (6) महापैंग्य (7) सुयज्ञ (8) शांखायन (9) ऐतरेय (10) बाष्कल (11) शाकल (12) गार्ग्य (13) सुजातवक्र (14) औदवाहि (15) सौजामि (16) शौनक (17) आश्वलायन।

इनमें से ऐतरेय तथा शांखायन ही ऐसे ब्राह्मणद्रष्टा हैं जिनके ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनमें से कतिपय नवीन नाम पूर्णतया अंधकार में हैं। आज तक उपलब्ध ब्राह्मणों का विवरण निम्न प्रकार है :—

ब्राह्मण नाम	सम्बद्ध संहिता शाखा
1. ऐतरेय	ऋग्वेदीय
2. शांखायन	,,
3. शतपथ	शुक्ल यजुर्वेदीय
4. तैत्तिरीय	कृष्ण यजुर्वेदीय
5. ताण्ड्य (पंचविंश या महाब्राह्मण)	सामवेदीय
6. षड्विंश	,,
7. सामविधान	,,
8. आर्षेय	,,
9. दैवत	,,

1. रामगोविन्द त्रिवेदी, वैदिक साहित्य, प्रथम संस्करण, पृ० 139
2. आश्व० गृ० सू०, 3, 3

10. उपनिषद् ब्राह्मण	सामवेदीय
11. संहितोपनिषद्	,,
12. वंश	,,
13. जैमिनीय	,,
14. गोपथ	अथर्ववेदीय

इनके अतिरिक्त चारों वेदों से सम्बद्ध अन्य कितने ही ब्राह्मण हैं जो कालकवलित हो जाने के कारण आज अनुपलब्ध हैं। इन अप्राप्य ब्राह्मणों में से अधिकांश का नामोल्लेख श्रौत ग्रन्थों में मिलता है। डा० बटकृष्ण घोष ने इन अनुपलब्ध ब्राह्मणों के उपलभ्यमान उद्धरणों को एकत्र प्रकाशित करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है।[1] इन ब्राह्मणों का स्फुट परिचय निम्न प्रकार है जिनमें से कतिपय नाम उद्धरण सहित मिलते हैं तथा अन्य का केवल नामोल्लेख।

1. शाट्यायन ब्राह्मण के आठ उद्धरण मिलते हैं जिनमें से अधिकांश ऋग्वेद तथा तांड्य ब्राह्मण के सायण भाष्य में मिलते हैं। चार पाँच उद्धरण ब्रह्मसूत्र के शांकर भाष्य में प्राप्त हैं। इतने अधिक उद्धरणों की प्राप्ति इस ग्रन्थ की महिमा की सूचक है। इसके अधिकांश उद्धरण जैमिनीय ब्राह्मण में भी अक्षरशः उपलब्ध होते हैं।
2. जैमिनीय या तलवकार ब्राह्मणों का उल्लेख इस प्रसंग में मिलता है कि इसकी प्रसिद्धि शाट्यायन ब्राह्मण के समक्ष गौण स्वीकार की गई है।
3. आह्वरक ब्राह्मण का चरणव्यूह में निदेश मिलता है तथा यह चरक शाखा से सम्बद्ध है।
4. कालवन्नि ब्राह्मण का पुष्प सूत्र में शाट्यायन ब्राह्मण के साथ निदेश किया गया है।
5. भाल्लवि ब्राह्मण सामवेदीय ब्राह्मण है जिसका श्रौत ग्रंथों, महाभाष्य एवं काशिका में उल्लेख किया गया है।
6. चरक ब्राह्मण कृष्णयजुर्वेद की प्रधान शाखा चरक से सम्बद्ध है।
7. शैलालि ब्राह्मण का उल्लेख महाभारत तथा काशिका में मिलता है।
8. हारिद्रविक ब्राह्मण का नाम चरणव्यूह में उल्लिखित है। यह यजुर्वेद की किसी शाखा-विशेष से सम्बद्ध था।

---

1. डा० वटकृष्ण घोष, कलेक्शन ऑफ फ्रैगमेन्ट्स ऑफ लॉस्ट ब्राह्मणाज, कलकत्ता 1935।

9. गालव ब्राह्मण संभवतः शुक्ल यजुर्वेदीय ब्राह्मण था क्योंकि शुक्ल यजुर्वेद की एक शाखा का गालव नाम मिलता है।

इनके अतिरिक्त निम्न ब्राह्मणों की स्थिति भी प्रकाश में आई है जिनकी विशेष जानकारी के लिए डा० बटकृष्ण घोष के संकलन का अध्ययन उपयुक्त होगा। यहाँ केवल नामोल्लेख किया जा रहा है—

(10) कंकति (11) जाबालि (12) पैंगायनि (13) माषशरावि (14) मैत्रायणीय (15) रौरुकि (16) श्वेताश्वतर (17) काठक (18) खांडिकेय (19) औखेय (20) तुम्बरु (21) आरुणेय (22) सौलभ (23) पराशर (24) अध्वर्यु (25) वल्लभी (26) सात्यायनी।

पूर्ण ज्ञातव्य के अभाव में उपर्युक्त अनुपलब्ध ब्राह्मणों का उल्लेखमात्र कर उपलब्ध ब्राह्मणों का विशेष रूप से परिचय प्राप्त करना आवश्यक है।

ऋग्वेदीय ब्राह्मण

ऋग्वेद के केवल दो ब्राह्मण उपलब्ध हैं। ऐतरेय तथा शांखायन। ऐतरेय ब्राह्मण के रचयिता आचार्य महीदास ऐतरेय माने जाते हैं। किंवदन्ती के अनुसार इनका जन्म शूद्रा माता इतरा के गर्भ से हुआ था। ऐतिहासिक प्रमाण से अपरिपुष्ट यह कथानक सायण ने अपने भाष्य के प्रारंभ में दिया है। इस ब्राह्मण के 40 अध्याय, 8 पंजिकाएं तथा 285 कंडिकाएं हैं। इसमें ब्राह्मण-सम्बन्धी विषयों के साथ-साथ होता नामक ऋत्विज के विशिष्ट क्रिया-कलापों का वर्णन किया गया है। अत्यंत प्रसिद्ध इस ब्राह्मण की ऋषि-वंशावली में विशेषतः गौतम वंश का वर्णन प्राप्त है। अंग्रेज़ी अनुवाद सहित मार्टिन हाग ने इसे सन् 1863 में प्रकाशित किया था। सायणाचार्य ने इस ब्राह्मण पर भाष्य भी लिखा है।

द्वितीय ऋग्वेदीय शांखायन ब्राह्मण में कोषीतकि नामक आचार्य का उल्लेख पैंग्य आचार्य के विरोध में किया गया है। तीस अध्याय तथा दो सौ सत्ताइस खण्डों वाला यह ब्राह्मण विषय की दृष्टि से ऐतरेय का ही अनुगामी है। रुद्र की विशेष महिमा प्रतिपादित कर इस ब्राह्मण में उसे इतर देवों से श्रेष्ठतर स्वीकार किया गया है।

यजुर्वेदीय ब्राह्मण

यजुर्वेद की दोनों शाखाओं, कृष्ण एवं शुक्ल से सम्बन्धित ब्राह्मणों की महत्ता समस्त वैदिक वाङ्मय में अतुलनीय है। कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के

एकमात्र उपलब्ध तैत्तिरीय ब्राह्मण पर सायणाचार्य का भाष्य भी मिलता है। मैत्रायणी तथा काठक संहिताओं के ब्राह्मण तो संहिताओं में ही सन्निहित हैं किन्तु तैत्तिरीय संहिता के ब्राह्मण का पृथक् प्रकाशन हुआ है। सायणाचार्य के अतिरिक्त इस पर भट्ट भास्कर का एक अपूर्ण भाष्य भी मिलता है। यह ब्राह्मण सन् 1890 में कलकत्ता से तथा सन् 1899 में पूना से प्रकाशित हो चुका है। इसका पाठ स्वरयुक्त होने के कारण कुछ विद्वानों ने इसे अत्यन्त प्राचीन माना है। इसमें याज्ञिक कर्मकाण्ड विस्तृत परिमाण में उपलब्ध है। तीन काण्डों वाला प्रस्तुत ब्राह्मण अध्यायों तथा अनुवाकों में उपविभाजित है। तृतीय काण्ड के अंतिम तीन प्रपाठक काठक नाम से अभिहित किए गए हैं, अतः संभव है यह अंश काठक शाखा वाले ब्राह्मण का हो। इस ब्राह्मण ने सामवेद को शीर्षस्थ माना है क्योंकि इसमें सामवेद से ब्राह्मण की उत्पत्ति प्रदर्शित है। इसमें वर्णित अश्वमेध का विवरण शतपथ के तत्सम्बन्धी विवरण से प्रचुर समानता रखता है।

शुक्ल यजुर्वेद की काण्व एवं माध्यंदिन शाखा के दोनों ब्राह्मण ही शतपथ कहलाते हैं जिनका विस्तृत वर्णन आधारभूत विषय होने के कारण परवर्ती पृष्ठों में सविस्तार किया जायेगा।

सामवेदीय ब्राह्मण

सामवेद की केवल कौथुम शाखा से सम्बद्ध ब्राह्मण ही उपलब्ध होता है। यह ब्राह्मण चालीस अध्यायों में विभक्त एक विशालकाय ब्राह्मण है जिसमें अन्य ब्राह्मणों की अवस्थिति भी संगठित है। इस ब्राह्मण के प्रथम पच्चीस अध्यायों का समष्टिगत स्वरूप ही पञ्चविंश ब्राह्मण अथवा तांड्य महाब्राह्मण कहलाता है। सामवेद का यह प्रधान ब्राह्मण तण्डि शाखा से सम्बद्ध होने के कारण तांड्य, पच्चीस अध्यायों में विभक्त होने के कारण पंचविंश तथा विशाल एवं प्रधान होने के कारण महाब्राह्मण कहा जाता है। कुछ इसे प्रौढ ब्राह्मण भी कहते हैं। सामवेद से समवाय-रूपेण सम्बद्ध ऋत्विज उद्गाता के क्रिया-कलापों की विपुल मीमांसा इस ब्राह्मण में की गई है। एक दिन से लेकर सहस्र संवत्सर तक चलने वाले यज्ञों का एकत्र प्रतिपादक यही ब्राह्मण है। साम तथा सोमयाग ही इसके मुख्य विषय हैं जिनकी महत्ता के प्रदर्शनार्थ आख्यायिकाएं भी प्रस्तुत की गई हैं। यज्ञ के प्रधान विषयों को लेकर विभिन्न ब्रह्मवादियों के मतों का उल्लेख भी इसमें उपलब्ध है। तांड्य ब्राह्मण के समय यज्ञ का उत्कर्ष चरम सीमा पर पहुंच गया था क्योंकि इसमें उल्लेख है कि इन्द्र ने यज्ञ न करने वाले यतियों को शृगालों के भक्षण हेतु दे दिया, अतः नागों ने भी यज्ञ किया।

व्रात्य यज्ञ इस ब्राह्मण की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। सायण भाष्य सहित इस ब्राह्मण को सन् 1874 में ए० सी० वेदान्तवागीश ने कलकत्ता में प्रकाशित करवाया था।

चालीस अध्यायोपेत सामवेदीय ब्राह्मण के छब्बीस से लेकर तीसवें अध्याय तक के भाग को षड्विंश ब्राह्मण कह कर पुकारते हैं तथा इसी के अन्तिम प्रपाठक को अद्भुत ब्राह्मण की संज्ञा दी गई है। षड्विंश ब्राह्मण के पाँच प्रपाठक हैं। प्रत्येक के अवान्तर खण्ड भी हैं। यह पंचविंश ब्राह्मण का परिशिष्ट भाग है एवं उसका पूरक भी है। षड्विंश ब्राह्मण के दो संस्करण, प्रथम के० क्लेम द्वारा 1894 में तथा दूसरा एच० एफ० एलसिंग द्वारा 1908 में, निकाले गये हैं। अद्भुत ब्राह्मण में भूकम्प, अकाल में फल-फूल उत्पन्न होने, अश्वतरी के गर्भिणी होने, हथिनी के डूबने आदि नाना प्रकार के उत्पातों के लिये शान्ति का विधान है। इस ब्राह्मण को वेबर ने 1858 में बर्लिन से प्रकाशित किया है।

उक्त सामवेदीय ब्राह्मण के इकत्तीसवें तथा बत्तीसवें अध्यायों को मन्त्र ब्राह्मण कहा गया है जिसके भारत एवं विदेशों में अनेक संस्करण निकले हैं। भारत में सत्यव्रत सामश्रमी ने इसे सन् 1890 में प्रकाशित किया। गृह्य संस्कारों में प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों का यह सुन्दर संग्रह है। ये ही मन्त्र गोभिल गृह्य सूत्र में प्रयुक्त हुए हैं। शंकराचार्य ने छान्दोग्य उपनिषद् एवं प्रस्तुत ब्राह्मण से उद्धरण लेकर इसे तांड्य शाखा से सम्बद्ध बताया है।

कौथुमशाखीय प्रस्तुत ब्राह्मण के अंतिम आठ अध्यायों को छान्दोग्य ब्राह्मण कहा गया है। किन्तु यह वस्तुतः छान्दोग्य उपनिषद् ही है क्योंकि इसमें क्रिया-प्रतिपादक अंश बहुत कम है, अतः इसे यत्र तत्र छान्दोग्योपनिषद् ब्राह्मण भी कहा गया है। इस ब्राह्मण के अनेक संस्करण निकल चुके हैं तथा अनेक भाषाओं में यह अनूदित भी हो चुका है। सर्वप्रथम ओ० वोटलिंक ने इसे सन् 1889 में प्रकाशित किया था।

उपर्युक्त छान्दोग्य ब्राह्मण का ही एक अंश दैवत ब्राह्मण या देवताध्याय कहलाता है। इसके तीन खण्डों में देवताओं का वर्णन एवं विवरण मिलता है। देवों की प्रशंसा में गेय सामों के विशिष्ट नाम भी प्रदर्शित किए गए हैं। मुख्यतया इसमें सामवेदीय देवताओं की स्तुति ही दी गई है। सन् 1873 में इसे ए० सी० बर्नेल ने प्रकाशित किया था। सामश्रमी ने भी इसे बंगला अनुवाद सहित प्रकाशित करवाया है।

सामवेद के आर्षेय, वंश, संहितोपनिषद् तथा सामविधान ब्राह्मण भी प्रकाशित हो चुके हैं। आर्षेय ब्राह्मण तीन प्रपाठक तथा बयासी खण्डों में विभक्त

है। इस ब्राह्मण में साम के उद्भावक ऋषियों के वंश का वर्णन किया गया है। कैलेण्ड तथा बर्नेल ने इसे सन् 1876 में प्रकाशित किया था।

वंश ब्राह्मण अत्यंत लघुकाय है जिसके तीन खण्ड हैं। इसमें भी सामवेदीय आचार्यों की वंश-परम्परा वर्णित है। प्राचीन ऋषियों का इतिहास भी इसमें उपलब्ध है। इस ब्राह्मण में वेदों को ब्रह्मा से उत्पन्न माना गया है। सायणाचार्य ने इस पर भी भाष्य लिखा है। इसे वेबर ने तथा बंगला अनुवाद सहित सत्यव्रत सामश्रमी ने छपवाया था। बर्नेल ने भी इसे सन् 1873 में प्रकाशित किया था।

संहितोपनिषद् ब्राह्मण भी एक छोटा-सा ब्राह्मण है जिसके पांच खण्ड हैं। इसमें साम गायन की प्रभावोत्पादकता का वर्णन है। निरुक्तकार ने इसमें से ही 'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम' वाक्य उद्धृत किया है। निष्कर्षतः यह ब्राह्मण निरुक्त से प्राचीनतर है। इसे सन् 1877 में बर्नेल ने प्रकाशित किया था।

साम-विधान ब्राह्मण सामवेद का अन्यतम ब्राह्मण है। विषय की दृष्टि से यह नितान्त भिन्न प्रतीत होता है। इसमें जादू-टोनों के लिए साम-गायन के साथ कतिपय अनुष्ठानों का विधान है। पुराणों में वर्णित व्रतों का मूल भी इस ब्राह्मण में मिलता है। यह ब्राह्मण धर्मसूत्रों की पूर्व पीठिका है। इसे सन् 1873 में बर्नेल ने सायण भाष्य के साथ प्रकाशित किया था। दूसरा संस्करण सन् 1893 में कोनो द्वारा निकाला गया।

सामवेदीय जैमिनीय संहिता के जैमिनीय ब्राह्मण व जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण भी प्रकाशित हो चुके हैं। जैमिनीय ब्राह्मण अपूर्ण ही उपलब्ध हैं। डा० आर्टेल ने इसके अंशों को अमेरिका से निकाला था। सन् 1954 में डा० रघुवीर द्वारा निकाला गया इसका एक संस्करण और मिलता है। यह ब्राह्मण दीर्घकाय है तथा उपनिषद् ब्राह्मण इसी का अंशमात्र है जो गायत्र्योपनिषद् के नाम से विख्यात है। जैमिनीय ब्राह्मण को जैमिनीय आर्षेय ब्राह्मण भी कहते हैं। सन् 1878 में यह बर्नेल द्वारा भी प्रकाशित किया गया था।

सामवेद की राणायणीय शाखा का कोई भी ब्राह्मण अभी प्रकाश में नहीं आया है। निरुक्तालोचन में सत्यव्रत सामश्रमी ने तांड्य ब्राह्मण को छोड़कर सामवेद के सभी ब्राह्मणों को अनुब्राह्मण संज्ञा प्रदान की है तथा आर्षेय ब्राह्मण को तो अनुब्राह्मण नाम से छपवाया भी है। पाणिनि के अनुसार अनुब्राह्मण का अर्थ है 'ब्राह्मण से मिलता-जुलता ग्रन्थ'।[1] वेद भाष्यकार भट्ट भास्कर, माधव तथा निदान

1. पाणिनि, 4, 2, 62 : 'अनुब्राह्मणादीनिः तदधीते तद्वेद इत्यर्थे ब्राह्मण सदृशो ग्रन्थो अनुब्राह्मणम्।'

सूत्र के रचयिता ने ब्राह्मणों को तथा ब्राह्मणों के अवान्तर भागों को अनुब्राह्मण कह कर ही उद्धृत किया है अतः यह शब्द मूल विषय में कोई विशेष परिवर्तन लाने वाला प्रतीत नहीं होता है।

अथर्ववेदीय ब्राह्मण

अथर्ववेद का एक ही ब्राह्मण दृष्टिगत होता है जिसे 'गोपथ ब्राह्मण' कहते हैं। इसके दो भाग हैं—पूर्व गोपथ एवं उत्तर गोपथ। पूर्व गोपथ में पाँच तथा उत्तर में छः प्रपाठक हैं। पुनः यह 258 कंडिकाओं में विभक्त है। काल की दृष्टि से यह अत्यन्त परवर्ती रचना है। इस ब्राह्मण में अथर्ववेद की महिमा को तीनों वेदों से बढ़कर बताया गया है। ओंकार की उत्पत्ति भी अथर्ववेद से ही सिद्ध की गई है। गायत्री की महिमा का विस्तार से वर्णन है। उत्तर गोपथ का विषय-क्रम पूर्व गोपथ की अपेक्षा अव्यवस्थित है। इसमें ब्रह्मचारी के नियमों का विशेष वर्णन किया गया है। 'गोपथ' ऋषि का नाम होते हुए भी किसी भी ऋषि-नामावली में नहीं आता है। ब्लूमफील्ड के अनुसार यह ब्राह्मण वैतान सूत्र से अर्वाचीन है। किन्तु कैलेण्ड व कीथ इसे प्राचीन सिद्ध करते हैं। यूरोपीय वेद-विशेषज्ञों का विचार है कि गोपथ ब्राह्मण अपूर्ण रूप में प्राप्त है। इसे राजेन्द्र लाल मित्र तथा विद्या भूषण ने सन् 1872 में प्रकाशित किया था तथा डॉ॰ गास्ट्रा ने 1919 में छपवाया।

ब्राह्मणों का विषय एवं स्वरूप

इस प्रकार ब्राह्मणों की रूपरेखा के विवरणात्मक परिचय के पश्चात् पाठक की सहज एवं स्वाभाविक जिज्ञासा इनके विषय एवं स्वरूप के सम्बन्ध में उत्पन्न होती है जिसका निराकरण आवश्यक प्रतीत होता है। प्रश्न उठता है कि ब्राह्मणों ने किन-किन विषयों का अन्तर्भाव अपनी स्वरूपगत परिधि में किया? अनेक विद्वानों ने इस विषय में अपनी-अपनी स्थापनाएं प्रस्तुत की हैं। शबर स्वामी ने मीमांसा भाष्य (2,1,8) में ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय को दस श्रेणियों में विभाजित किया है—

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना।
उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु॥

प्रतिज्ञा परिशिष्ट में कात्यायन ने भी ब्राह्मण विषय के दस भाग माने हैं किन्तु विवरण में किंचित् भिन्नता परिलक्षित होती है—

"विधिर्निन्दाप्रशंसाऽध्यात्ममधियज्ञमधिदैवतमधिभूतमनुवचनंपरकृतिः पुराकल्पः सृष्टिरिति ब्राह्मणम् ॥"

उदाहरणों द्वारा उपर्युक्त ब्राह्मण-विषयों को निम्नरूप में प्रस्तुत किया गया है—

विधिः	स एष उभयात्राच्युत आग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति[1]
निन्दा	तदु ह स्माहापि वर्कुर्वार्ष्णो माषान्मे पचत, न वा एतेषां हविर्गृह्णन्ति इति तदु तथा न कुर्यात्[2]
प्रशंसा	अग्निर्वै देवानाम्मृदुहृदयतमः । यं वै मृदुहृदयतमं मन्येत तमुपधवेत्तस्मादग्नयऽएव[3]
अध्यात्मम्	अथाध्यात्मम् । प्राणो वा अर्कः । तस्यान्नमेवकम् । अन्नं हि प्राणाय कम् । इति नु एव अर्कस्य ।[4]
अधियज्ञम्	अथाधियज्ञम् यदेवाग्नावन्नमुपधीयते तदन्नम् । या आपस्तत् पानम् । परिश्रित एव श्रीः ।[5]
अधिदैवतम्	अथाधिदैवतम् या वै सा वागग्निरेव सः । यच्चक्षुः असौ स आदित्यः[6]
अधिभूतम्	तस्मादाहुर्यावती वेदिस्तावती पृथिवी[7]
अनुवचनम्	अग्निर्वै हिमस्य भेषजम्[8]
परकृतिः	पुरुषो ह नारायणो अकामयत[9]
पुराकल्प	एतेन हैन्द्रे तो दैवापः शौनको जनमेजयं पारिक्षितं याजयाञ्चकार[10]
सृष्टि	असद्वा इदमग्र आसीत्[11]

---

1. श० ब्रा० 1, 5, 1, 5
2. वही 1, 1, 1, 10
3. वही, 1, 6, 2, 10
4. वही, 10, 6, 2, 7
5. वही, 10 2, 6, 17
6. वही, 10, 3, 3, 7
7. वही, 1, 2, 5, 7
8. वही, 13, 6, 1, 1
9. वही, 13, 6, 1, 1
10. वही, 13, 5, 4, 2
11. वही, 6, 1, 1, 1

वाचस्पति मिश्र ने याज्ञवल्क्य-रचित ब्राह्मण के लक्षण निम्नरूप में प्रदर्शित किए हैं :—

नैरुक्त्यं यस्य मन्त्रस्य विनियोगः प्रयोजनम्
प्रतिष्ठानं विधिश्चैव ब्राह्मणं तदिहोच्यते
इत्येवं याज्ञवल्क्य ब्राह्मणस्य तु लक्षणम् ॥

शतपथ ब्राह्मण के अन्तिम भाग बृहदारण्यकोपनिषद् में अन्यथा विभाजन सोदाहरण द्रष्टव्य है—

"इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि अनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि।" (बृ० उ० 2, 4, 10 शाङ्कर भाष्य)

इतिहास	उर्वशी हाप्सराः[1]
पुराणम्	असद्वा इदमग्र आसीत्[2]
विद्या	देवजन विद्या वेदः सो अयमिति[3]
उपनिषदः	प्रियमित्यमेनदुपासीत्[4]
श्लोकाः	ब्राह्मणप्रभवा मन्त्राः—तदप्येते श्लोकाः अणुः पंथा वितरः[5]
सूत्राणि	वस्तु-संग्राहक-वाक्यानि वेदे आत्मानमेव लोकमुपासीत।
अनुव्याख्यानानि	प्राणा वै सत्यम् (मन्त्रविवरणानि अथवा वस्तुसंग्राहक-वाक्यानां विवरणवाक्यानि)[7]
व्याख्यानानि	(अर्थवादाः) मेधया हि तपसा अजनयत् पिता[8]

विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किए गए विवरणों की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि कुछ विषय नामरूप में भिन्न होते हुए भी समान हैं, जैसे सृष्टि एवं पुराण एक ही विषय के दो नाम प्रदर्शित हैं। वैसा ही पुराकल्प तथा इतिहास के लिए कहा जा सकता है। उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर समन्वयात्मक दृष्टि-कोण से सारांश रूप में निम्न विषयों की स्थिति का परिचय मिलता है—

1. शा० ब्रा० 11, 5, 1, 1
2. वही, 6, 1, 1, 1
3. वही, 13, 4, 3, 10
4. वही, 14, 6, 10, 3
5. वही, 14, 4, 2, 11
6. वही, 14, 4, 2, 28
7. वही, 14, 5, 1, 23
8. वहीं, 14, 4, 3, 2

विधि, निन्दा, प्रशंसा, संशय, हेतु या प्रयोजन, निर्वचन या निरुक्ति, परक्रिया, पुराकल्प या इतिहास, व्यवधारण, कल्पना, उपमान, अध्यात्मम् या उपनिषद्, अधियज्ञम्, अधिदैवतम्, अधिभूतम्, अनुवचन या अनुव्याख्यान, सृष्टि या पुराण, मन्त्रविनियोग, विद्या, श्लोकाः, सूत्राणि, व्याख्यान या अर्थवाद।

किन्तु यदि किंचित् भी सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो इनमें से अधिकांश शीर्षक ब्राह्मण ग्रन्थों के मूल या आधारभूत विषय न होकर उनके मुख्य विषय के निर्वाहक एवं संयोजक प्रासंगिक कथन अथवा उद्धरण मात्र हैं, जैसे निन्दा, प्रशंसा, संशय इत्यादि साहित्य के इतिहास के प्रारंभ से आज तक विषयरूप में नहीं देखे गए हैं। हाँ, समालोचना विषय में इन सभी का अन्तर्भाव हो सकता है। वस्तुतः निन्दा, प्रशंसा इत्यादि मूल कथ्य न होकर किसी कृत्य अथवा पदार्थ की गुण-दोष विवेचना है। इसी प्रकार कल्पना, उपमान आदि को 'विषय' मानना हास्यास्पद ही प्रतीत होता है। वैज्ञानिक दृष्टि से, आधुनिक अध्येता को ब्राह्मण ग्रन्थों के उक्त विषयों का आकलनात्मक निर्णय यह देना होगा कि ब्राह्मणों के विषय विधि, आलोचना-शास्त्र, निर्वचन-शास्त्र, तर्कशास्त्र, उपाख्यान, इतिहास, पुराण तथा अर्थवाद या व्याख्यान थे। ये विषय भी हमें ब्राह्मणों में सांगोपांग रूप में उपलब्ध न होकर स्रोतरूप में प्राप्त होते हैं। किसी भी ग्रन्थ का विषय वह माना जाता है जिसके द्वारा रचनाकार अपने मूल लक्ष्य की स्थापना करना चाहता है। इस दृष्टि से ब्राह्मणों के आचार्यों का मूल तत्त्व यज्ञ-विधियों को जन-ग्राह्य एवं आस्थापरक बनाना था। जटिलता तथा अस्पष्टता के कारण यज्ञ-विधियों के प्रति यजमानों की उखड़ती हुई आस्था को संभवतः सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से आचार्यों ने विधि विधानों की प्रतिष्ठा करनी आवश्यक समझी। अतः ये वैदिक व्याख्याएं (ब्राह्मण) आविर्भूत हुईं। किसी भी यज्ञिय विधि की स्थापना करने के उपरान्त उसका हेतु बताना आवश्यक था। याग-निषिद्ध वस्तुओं की निन्दा तथा यागोपयोगी द्रव्यों की प्रशंसा द्वारा यजमान के हृदय में यज्ञानुराग उत्पन्न करना आवश्यक था। पुनः तर्क के द्वारा संशयों का उत्तर देकर विश्वास उत्पन्न किया गया। प्रामाणिकता की मुद्रा लगाने के लिए मन्त्र-विनियोग से पुष्ट किया गया तथा इतिहास-पुराण के आख्यान प्रस्तुत किए गए। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रारूप में इतर विषयों की सन्निहिति होते हुए भी उनका मुख्य विषय केवल एक है और वह है 'विधि'। अन्य विषय विधि के ही प्रासंगिक एवं निर्वाहक अंगमात्र हैं, न कि अलग विषय। जैमिनी ने कर्ममीमांसा (जैमिनी सूत्र 1,2,7) में यही प्रश्न उठाया है—

आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यमतदर्थानाम्

फिर वे स्वयं ही उत्तर देते हैं कि—

विधिना तु एकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः,

अर्थात् ब्राह्मणों के अन्य जितने भी वाक्य हैं, विधियों की स्तुति ही हैं, अतः ब्राह्मणों का मूल प्रतिपाद्य विषय 'विधि' है।

शतपथ ब्राह्मण में ग्रंथ के प्रथम पृष्ठ की प्रथम पंक्ति का उद्घाटन सहेतुक विधि द्वारा होता है। 'पौर्णमास इष्टि में दीक्षित होने वाला व्यक्ति आहवनीय तथा गार्हपत्य अग्नियों के बीच पूर्वाभिमुख खड़ा होकर जल-स्पर्श करे।' इसके बाद प्रस्तुत विधि की हेतु स्थापना की गई है—

'अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति, तेन पूतिरन्तरतः। मेध्या वा आपः। मेध्यो भूत्वा व्रतमुपायानिति पवित्रं वा आपः। पवित्रपूता व्रतमुपायानीति। तस्माद्वा (अप उपस्पृशति)।' (श० ब्रा०, 1,1,1,1)

इसी प्रकार तांड्य ब्राह्मण[1] में बहिष् पवमान के लिए अध्वर्यु व उद्गाता आदि पाँच ऋत्विजों के प्रसर्पण का तथा धीरे-धीरे कदम रखने का विधान है। अध्वर्यु, प्रस्तोता, उद्गाता, प्रतिहर्ता तथा ब्रह्मा को क्रम से चलने की व्यवस्था दी गई है। इस प्रकार स्पष्ट है कि ब्राह्मण-ग्रंथ यज्ञ-विधियों की विशाल निधि हैं।

उक्त विधि-विधानों की विशाल राशि के रूप में उपलब्ध इन ब्राह्मणों की विषय-सामग्री नीरस है अथवा सरस ? प्रश्न विचारणीय है क्योंकि अनेक माननीय विद्वानों ने इन ग्रन्थों को 'नीरसतम' बताया है। अतः इस विषय में उनके विचारों से अवगत होना आवश्यक है। सर्वप्रथम मैक्समूलर के विचारों पर दृष्टि डालिए—

"साहित्यिक दृष्टि से ब्राह्मणों का महत्व कुछ हो तो हो, सामान्य पाठक के लिए उनका महत्व अधिक नहीं। ब्राह्मणों का अधिकांश थोथी बकवास है लेकिन इस बकवास को धर्म का नाम नहीं दिया जा सकता। जिस व्यक्ति को भारतीय मनोविज्ञान के विकास में ब्राह्मणों का स्थान क्या है, इसका पूर्वज्ञान न हो वह इसके दस पृष्ठ पढ़ कर ही ऊब जाएगा।"[2]

ई० जे० रैप्सन ने कहा है—

---

1. तां० ब्रा०, 6,7
2. मैक्समूलर, चिप्स (फ्राम ए जर्मन वर्कशाप) विंटरनिट्ज के प्राचीन इतिहास, पृ० 154 से उद्धृत।

The Brahmanas are priestly documents in the narrowest and most exclusive sense of the term. At first sight their contents would seem to be the most hopeless possible form of historical material. They give an utterly one-sided view even of the religion.[1]

सुप्रसिद्ध इतिहासकार मजूमदार ने भी इसी पूर्ववर्ती परम्परा का निर्वाह करते हुए लिखा हैं—

The Brahmana literature is vast and varied but also dry and repulsive. The prolixity of the Brahmana authors is sickening and yet the texts are not at all perspicuous in spite of their huge bulk in some cases.[2]

वैदिक वांङ्मय के जिज्ञासु अध्येता विद्वान मैक्डानल लिखते हैं—"नवीन सूक्तों की रचना से यों विरत हो जाने पर पुरोहित वर्ग ने अपनी प्रतिभा का प्रयोग यज्ञ के विधि-विधान को विस्तृत बनाने में किया। फलतः एक ऐसी प्रयोग-विधि का जन्म हुआ जिसकी सूक्ष्मता का चक्रव्यूह इतना विकट है कि हिन्दुओं की यज्ञिय-विधि के सदृश संसार में और कोई धार्मिक प्रयोग इतना जटिल नहीं कहा जा सकता. . .यज्ञिय-विधि को समझाने के लिए ये बीच-बीच में शब्दार्थ संबंधी, भाषा-सम्बन्धी तथा शब्द-व्युत्पत्ति-सम्बन्धी अनेक ऊहापोह करते हैं। विचार-विमर्श के द्वारा ये जगत्, सृष्टि तथा ईश्वरवाद के अपने सिद्धान्तों को स्थापित करने की चेष्टा भी करते हैं। वस्तुतः ये निःसार एवं पंडिताऊ विवेचन मात्र हैं।"[3]

शतपथ ब्राह्मण की भूमिका में एगलिंग महोदय लिखते हैं—

For the wearisome prolixity of exposition characterised by dogmatic assertion and a flimsy symbolism, these works are perhaps not equalled anywhere.[4]

तथेव 'इरेन्यूअस' के अनुवादक का भी मन्तव्य है कि—

Nothing more absurd has probably ever been imagined by rational beings.[5]

---

1. ई० जे० रैप्सन, एन्शेण्ट इण्डिया, पृ० 53
2. मजूमदार, द हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ इण्डियन पीपुल (द वैदिक एज), पृ० 416
3. मैक्डानल, इंडियाज पास्ट (हिन्दी अनुवाद), पृ० 26
4. एगलिंग, द शतपथ ब्राह्मण, पार्ट I, इन्ट्रोडक्शन, पृ० 9
5. ए० राबर्ट तथा डब्ल्यू० ए० राबर्ट, द राइटिंग आफ इरेन्यूअस, वोल्यूम I, पृ० 15

उपर्युक्त उद्धरणों को आत्मसात् करने के पश्चात् मूल विषय से अनभिज्ञ पाठक की धारणा कुछ ऐसी बन जाएगी कि वह संभवतः इन ग्रन्थों का प्रथम पृष्ठ उलटने का भी प्रयास नहीं करेगा, जबकि वस्तुस्थिति कुछ भिन्न है। यज्ञ तथा यज्ञिय विधि वैदिक धर्म का क्रियात्मक अथवा कर्मकांडीय स्वरूप है। किसी भी पर-धर्म के कर्मकांडीय स्वरूप को हेय दृष्टि से देखकर उसका उपहास करना अथवा उसे तुच्छ सिद्ध करना प्रत्येक धर्मावलम्बी के लिए अत्यंत सहज है क्योंकि उसे वह सब निरर्थक क्रिया-कलाप ही प्रतीत होगा। किन्तु इस प्रकार की दृष्टि अविवेकपूर्ण है। प्रत्येक धर्म में कर्मकांडीय एवं क्रियात्मक पक्ष अनिवार्य हैं। धर्म का सम्बन्ध भावनाओं से है तथा भावनाएँ अमूर्त व सूक्ष्म होती हैं। धार्मिक भावनाओं की अमूर्तता को मूर्त रूप प्रदान करने के लिए ही धर्म में प्रतीकात्मक रूप से कर्मकांड का प्रवेश अवश्यंभावी है। धर्म का क्रियात्मक रूप ही उस धर्म का प्रतीकात्मक सत्व है अतः किसी भी कर्मकांडीय रचना की आलोचना करते समय हम यदि उपर्युक्त दृष्टिकोण को आधार नहीं बनायेंगे तो वह आलोचना अवैज्ञानिक तथा भ्रमपूर्ण ही सिद्ध होगी। इसी भ्रमपूर्ण मनः-स्थिति का परिणाम है कि जहाँ एक ओर इन विद्वानों ने ब्राह्मण ग्रंथों के विषय-स्वरूप को नीरस, शुष्क तथा पंडिताऊ विवेचन मात्र कहा है, वहीं वे विपरीत कथन करते भी पाए गए हैं। प्रो० मैक्समूलर के ही शब्दों में ब्राह्मण ग्रंथ बुद्धि-मत्तापूर्ण विचारों तथा भावनाओं की अभिव्यक्तियों से पूर्ण हैं,[1] उसी प्रकार मैक्डानल जहां एक ओर इन्हें निःसार पंडिताऊ विवेचन कहते हैं वहीं दूसरी ओर बहुमूल्य तथा मनोरंजक भी सिद्ध करते हैं।[2]

ई० जे० रैप्सन भी अपनी उसी पुस्तक में अन्यत्र लिखते हैं—

For the students of language the Brahmanas possess the highest interest. They are perfect mines of philological specimens.[3]

इसी प्रकार जूलियस एगलिंग भी प्रशंसा के स्वर में लिखते हैं—

Such as they lie before us, they contain the accumulated wisdom and speculations of generations of Indian divinities.[4]

---

1. मेक्समूलर, हिस्ट्री आफ एन्शेंट संस्कृत लिटरेचर, पृ० 408
2. मैक्डानल, इंडियाज पास्ट, पृ० 45
3. ई० जे० रैप्सन, एन्शेंट इण्डिया, पृ० 55
4. एगलिंग, द शतपथ ब्राह्मण, पार्ट I, इन्ट्रोडक्शन, पृ० 22

उक्त प्रशंसात्मक वाक्य स्वयं ही आलोचकों के वैचारिक अन्तर्विरोध को प्रतिबिम्बित करते हैं। यदि पूर्ववर्ती कथन उनकी पूर्वाग्रहपूर्ण अथवा सतही दृष्टि के द्योतक हैं, तो परवर्ती उद्धरण उनकी स्वाभाविक तथा अध्ययन-सापेक्ष अभिव्यक्ति के प्रतीक हैं। यदि वस्तुतः ब्राह्मणों का विषय नीरस होता तो इन नैसर्गिक उद्गारों की कल्पना ही असम्भव थी, अतः यह सहज हीं कहा जा सकता है कि जिज्ञासु एवं पूर्वाग्रह से विरहित पाठक के लिए ब्राह्मणों में सरसता एवं रोचकता से परिपूर्ण सामग्री का अभाव नहीं है। उक्त ब्राह्मण ग्रंथों ने वैदिक यथार्थवाद से औपनिषदिक आदर्शवाद तक पहुँचाने के लिए एक अद्भुत तथा सुन्दर सेतु का कार्य किया।[1] इसके लिए गौरवपूर्ण श्रेय ब्राह्मणों के रचयिता आचार्यों को मिलना चाहिए जिन्होंने कर्मकाण्ड जैसे जटिल तथा अभिधेयात्मक विषय को आख्यानों, निर्वचनों एवं अर्थवाद द्वारा सरल तथा आकर्षक बनाकर उनकी उपादेयता को मनोरंजकता से मंडित किया।

शतपथ ब्राह्मण की उपलब्ध तथा अनुपलब्ध प्रतियाँ

ब्राह्मण वाङ्मय से सम्बन्धित विवेचन के पश्चात् अब शतपथ ब्राह्मण के स्वरूप का विस्तृत परिचय प्राप्त करना अभीष्ट होगा। शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता से सम्बद्ध माध्यंदिन तथा काण्व शाखाओं में उपलब्ध दोनों ब्राह्मणों का नाम शतपथ है। सन् 1940 ई० में लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, मुंबई ने सम्पूर्ण शतपथ ब्राह्मण (माध्यंदिन शाखीय) को सायणाचार्य की टीका, वेदार्थ प्रकाश तथा हरिस्वामी की टीका के साथ प्रकाशित किया जिसमें श्रीधर शर्मा (सम्पादक) द्वारा लिखित विस्तृत भूमिका भी मिलती है। प्रस्तुत भूमिका में श्रीधर शर्मा ने शतपथ ब्राह्मण सम्बन्धी निम्न स्रोतों का उल्लेख किया है—

(1) शतपथ ब्राह्मण — वेबर द्वारा सम्पादित, सन् 1855 (चौखम्बा संस्कृत सिरीज़ आफिस, वाराणसी, द्वारा 1964 में पुनः मुद्रित)

(2) शतपथ ब्राह्मण — सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा स्वयं की टीका सहित प्रकाशित, सन् 1912

(3) शतपथ ब्राह्मण — दो पांडुलिपियाँ श्रीधर शर्मा के स्वयं के संग्रह में

---

1. "The Hindus passed from the realism of the Veda to the idealism of the Upanishads by way of the Brahmanas. It was a strange bridge." (L. D. Barnett, The Heart of India, London, 1924).

(4) एक पाण्डुलिपि शाखाराम दीक्षित तथा गणेश दीक्षित के संग्रह में
(5) ,, ,, बीकानेर स्टेट लाइब्रेरी में
(6) ,, ,, भंडारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना में
(7) ,, ,, ओरिएण्टल लाइब्रेरी, बड़ौदा में

माध्यंदिन शतपथ ब्राह्मण की कतिपय हस्तलिखित प्रतियाँ बर्लिन की रायल सोसायटी के चैम्बर्स क्लैक्शन में मौजूद हैं जिन्हें प्रशा के राजा ने भेंट की थी। वेबर ने सन् 1855 में प्रकाशित शतपथ में इन प्रतिलिपियों का उल्लेख किया है। संवत् 1705-7 में पुरुषोत्तम पुत्र दामोदर के द्वारा श्रीवृद्ध नगर में लिखित माध्यंदिन शतपथ की पांडुलिपि की डा० मिल द्वारा की गई प्रतिलिपि भी बोदलेन लाइब्रेरी के संग्रह में उपलब्ध है। काण्व शाखा के शतपथ की सबसे प्रामाणिक प्रतिलिपि भी इसी लाइब्रेरी में डा० मिल के संग्रह में है किन्तु इसमें केवल 11 काण्ड ही हैं। माध्यंदिन शाखा के शतपथ ब्राह्मण का अंग्रेजी अनुवाद करने का श्रेय जूलियस एगलिंग को है जिन्होंने काण्व शाखा के शतपथ में आए 24 स्थलों पर टिप्पणियाँ प्रस्तुत करते हुए सुसम्बद्ध प्रकाशन प्रस्तुत किया है। शतपथ ब्राह्मण का हिन्दी विज्ञान भाष्य स्वर्गीय पं० मोती लालजी शास्त्री द्वारा वैदिक शोध संस्थान, जयपुर में प्रकाशित हो चुका है। सायणरचित माधवीय वेदार्थ प्रकाश टीका सहित शतपथ की एक पांडुलिपि भी बोदलेन पुस्तकालय में विल्सन के संग्रह में मिलती है। यह टीका आठ काण्डों पर ही उपलब्ध है तथा दोषपूर्ण है। इसके अतिरिक्त आचार्य हरिस्वामी द्वारा रचित टीका भी इसी पुस्तकालय में है जो माधवीय भाष्य से भी अधिक दोषपूर्ण प्रतीत होती है तथा केवल तीन काण्डों (2, 8 तथा 13) पर ही लिखी गई है। स० 1928 ई० में डब्ल्यू० कैलेण्ड ने काण्व शाखीय शतपथ को प्रकाशित किया था जो आकार में लघु है। कवीन्द्राचार्य सरस्वती की टीका भी शतपथ ब्राह्मण पर मिलती है। वैदिक यन्त्रालय, अजमेर से भी स० 1950 ई० में शतपथ ब्राह्मण मुद्रित हुआ है किन्तु सर्वाधिक व्यवस्थित प्रकाशन स्टीम प्रेस, बम्बई वाला ही है जो प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के अध्ययन का मुख्य आधार है।

शतपथ ब्राह्मण का स्वरूप तथा विषय-सामग्री

शतपथ ब्राह्मण के प्रस्तुत माध्यंदिन संस्करण के अनुसार शतपथ में 14 काण्ड, 100 अध्याय, 68 प्रपाठक, 438 ब्राह्मण एवं 7624 कंडिकाएँ हैं। किन्तु काण्व शतपथ में 17 काण्ड, 104 अध्याय, 435 ब्राह्मण तथा 6806

कंडिकाएँ हैं। इस भिन्नता को निम्न तालिकाओं द्वारा प्रत्यक्ष किया जाना आवश्यक है।[1]

काण्व शतपथ

काण्ड	काण्ड का नाम	अध्याय	ब्राह्मण	कंडिका
(1)	एकपात् काण्डम्	6	22	376
(2)	हविर्यज्ञ काण्डम्	8	32	532
(3)	उद्धारि काण्डम्	2	22	124
(4)	अध्वरम्	9	36	649
(5)	ग्रहनाम	8	38	974
(6)	वाजपेय काण्डम्	2	7	700
(7)	राजसूय काण्डम्	5	19	289
(8)	उषासम्भरणम्	8	27	511
(9)	हस्तिघट काण्डम्	5	16	257
(10)	चिति काण्डम्	5	20	243
(11)	साग्निचिति	7	20	437
(12)	अग्नि रहस्यम्	6	28	286
(13)	अष्टाध्यायी	8	31	241
(14)	मध्यमम्	9	28	392
(15)	अश्वमेध काण्डम्	8	44	308
(16)	प्रवर्ग्य काण्डम्	2	8	192
(17)	बृहदारण्यकम्	6	47	295
		104	435	6,806

1. गंगाप्रसाद उपाध्याय कृत शतपथ ब्राह्मण (हिन्दी अनुवाद) के पूर्व कथन से उद्धृत तालिकाएँ।

माध्यंदिन शतपथ

काण्ड	काण्ड का नाम	अध्याय	प्रपाठक	ब्राह्मण	कंडिका
(1)	हविर्यज्ञम्	9	7	37	837
(2)	एकपादिका	6	5	24	549
(3)	अध्वरम्	9	7	37	859
(4)	ग्रहनाम	6	5	39	648
(5)	सवम्	5	4	25	471
(6)	उषासम्भरणम्	8	5	27	437
(7)	हस्तिघटम् (षट्)	5	4	12	398
(8)	चितिः	7	4	27	530
(9)	संचितिः	5	4	15	402
(10)	अग्निरहस्यम्	6	4	31	369
(11)	अष्टाध्यायी (संग्रह)	8	4	42	437
(12)	मध्यमम् (सौत्रामणी)	9	4	29	459
(13)	अश्वमेधम्	8	4	43	432
(14)	बृहदारण्यकम्	9	7	50	796
		100	68	438	7624

उपर्युक्त तालिकाओं का तुलनात्मक पर्यालोचन यह स्पष्ट कर देता है कि माध्यंदिन शतपथ के सभी विषय काण्व शतपथ में भी विद्यमान हैं। अन्तर केवल क्रम में है, जैसे कि माध्यंदिन शतपथ ब्राह्मण के सवम् नामक पाँचवें काण्ड में वर्णित वाजपेय तथा राजसूय का विवरण काण्व शतपथ के छठे व सातवें काण्ड में दिया गया है। विषय की एकरूपता तथा व्यवस्थितता माध्यंदिन शतपथ में ही अधिक दर्शनीय है अतः शतपथ के जिज्ञासु विद्वानों ने इसी ब्राह्मण को अधिकांश में उपजीव्य बनाया है जो प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की लेखिका का भी मूल आधार है।

शतपथ के प्रारम्भिक काण्ड 'हविर्यज्ञम्' में दर्शपौर्णमास इष्टियों के मुख्य एवं अवान्तर अनुष्ठानों का वर्णन यागक्रम से उपलब्ध होता है। 'एकपादिका' नामक द्वितीय काण्ड में आधान, पुनराधान, अग्निहोत्र, उपस्थान, आग्रयण, दाक्षायण, पिण्डपितृयज्ञ तथा चातुर्मास्य आदि यज्ञों का पुंखानुपुंख वर्णन सविस्तार किया गया है। तृतीय तथा चतुर्थ काण्डों, 'अध्वरम्' तथा

'ग्रहनाम' में सोमयागों का विस्तृत विवरण मिलता है। 'सवम्' नामक पाँचवें काण्ड में वाजपेय तथा राजसूय यज्ञ का वितान प्राप्त है। ग्यारहवें से चौदहवें काण्डों में अनेक नवीन विषयों का समावेश है यथा उपनयन, स्वाध्याय (ब्रह्म-यज्ञ) आदि। ग्यारहवें काण्ड में पशुबंध, पंचमहायज्ञ तथा दर्शपौर्णमास के अवशिष्ट विधानों पर विचार किया गया है। इस काण्ड में ब्रह्मयज्ञ की आलं-कारिक शैली में भूयसी प्रशंसा की गई है। इस काण्ड के 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' के गौरवपूर्ण सिद्धान्त को अत्यधिक ख्याति मिली है। बारहवें काण्ड में द्वादश सत्र,[1] संवत्सर सत्र, सौत्रामणी तथा और्ध्वदैहिक क्रियाओं के अनुष्ठान का विस्तृत वर्णन किया गया है। तेरहवें काण्ड में अश्वमेध, पुरुषमेध व सर्वमेध का विवेचन है। चौदहवां काण्ड प्रावर्ग्य याग से सम्बद्ध है। इस काण्ड के तृतीय अध्याय के उत्तरवर्ती अध्याय बृहदारण्यकोपनिषद् की परिधि में आ जाते हैं, अतः प्रस्तुत अध्ययन से असम्बद्ध हैं।

माध्यंदिन शतपथ ब्राह्मण की क्रमबद्धता का प्रतिपादन इस तथ्य से भी होता है कि वाजसनेयी संहिता के 18 अध्यायों की क्रमबद्ध व्याख्या प्रस्तुत ब्राह्मण के प्रथम 9 अध्यायों में मिलती है। केवल पिण्डपितृयज्ञ का वर्णन संहिता में दर्शपौर्णमास के अनन्तर है।

शतपथ के रचयिता

उपर्युक्त विवेचन से शतपथ का विषय-सम्बन्धी स्वरूप प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट हो जाता है। अब प्रश्न उठता है रचयिता के बारे में। यह पहले कहा जा चुका है कि मन्त्रों के द्रष्टा ऋषि कहलाते थे तथा ब्राह्मणों के रचयिता आचार्य। शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता के माध्यंदिन शाखीय शतपथ ब्राह्मण की रचना का श्रेय आचार्य याज्ञवल्क्य को दिया जाता है। महाभारत में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है—

प्रतिष्ठास्यति ते वेदः सखिलः सोत्तरो द्विज।
कृत्स्नं शतपथं चैव प्रणेष्यसि द्विजर्षभ॥
ततः शतपथं कृत्स्नं सरहस्यं ससंग्रहम्।
चक्रे सपरिशेषं च हर्षेण परमेण ह॥

---

1. जो यज्ञ 12 दिन तक चलते थे वे क्रतु कहलाते थे तथा इससे अधिक या कई वर्षों तक चलने वाले यज्ञों को सत्र कहा जाता था।

कृत्वा चाध्ययनं तेषां शिष्याणां शतमुत्तमम् ।
सूर्यस्य चानुभावेन प्रवृत्तोऽहं नराधिप ॥
कर्तुं शतपथं चेदमपूर्वं च कृतं मया ।
यथाभिलषितं मार्गं तथा तच्चोपपादितम् ॥[1]

शुक्ल यजुर्वेद के साथ याज्ञवल्क्य वाजसनेय का अभिन्न सम्बन्ध है जिसका प्रमाण स्वयं शतपथ ब्राह्मण में मिलता है—

"आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते"[2]

इस सम्बन्ध में पौराणिक साक्ष्य भी उपलब्ध हैं।[3] याज्ञवल्क्य ने अश्वरूपधारी आदित्य से यजुर्वेद का अध्ययन किया। वर्धमानपुर अथवा चमत्कारपुर निवासी, हजारों शिष्यो के गुरु ऋग्वेद की शाकल शाखा के प्रवर्तक शाकल्य के पास ऋग्वेद के अध्ययन के लिए याज्ञवल्वय गए। शाकल्य की आज्ञा से याज्ञवल्क्य चमत्कारपुर के राजा को यज्ञ करवाने गए। राजा के द्वारा किसी कारणवश उपहसित एवं अपमानित होने पर वे वापस लौट आए। शाकल्य ने याज्ञवल्क्य को पुनः पुनः प्रेरित किया किन्तु यज्ञानुष्ठान हेतु वे राजा के पास लौटकर नहीं गए। इसे आज्ञा का उल्लंघन समझ, क्रुद्ध शाकल्य ने याज्ञवल्क्य को अपने स्थान एवं शिष्यत्व पद से निकाल बाहर किया। तदनन्तर वे शाकल्य को त्याग कर प्रभास क्षेत्र में अपने नाना यजुर्वेदाचार्य वैशम्पायन के पास पहुँचे तथा यजुर्वेद के अध्ययन हेतु शिष्यत्व को प्राप्त हुए। वैशम्पायन ने व्यास जी से यजुर्वेद पढ़ा था। वैशम्पायन अनेक शिष्यों को यह वेद पढ़ाया करते थे। किसी समय वैशम्पायन को बाल ब्रह्महत्या का पाप लग गया। उन्होंने शिष्यों को तप करने का आदेश दिया। याज्ञवल्क्य ने उनकी अवज्ञा करके कहा कि केवल मैं ही तप करूँगा। वैशम्पायन ने देखा कि याज्ञवल्क्य सबका अपमान कर रहा है अतः उन्होंने क्रोध में कहा कि तुमने जो यजुर्वेद मुझसे पढ़ा है उसका वमन कर दो। याज्ञवल्क्य ने वमन कर दिया। उस वमन किए गए को अन्य शिष्यों ने तित्तिरि का रूप धारण कर चोंच से चुन लिया अतः तैत्तिरीय शाखा का आविर्भाव हुआ। याज्ञवल्क्य फिर अन्य यजुषों को ढूंढ़ते हुए आदित्य के पास पहुँचे। आदित्य से पुनः यजुर्वेद का अध्ययन किया जो शुक्ल यजुर्वेद के नाम से प्रख्यात है क्योंकि ये यजुष् सूर्य

---

1. महाभारत, मोक्ष पर्व, अध्याय 144, श्लोक 11, 16, 17 तथा 23
2. श० ब्रा०, 14, 9, 4, 33
3. श्री भागवत, 12, 6; वि० पु०, 3, 5; ब्रह्मां० पु०, पू० अ० 5

से पवित्रीकृत हैं तथा इनमें ब्राह्मण पाठ पृथक हैं, कृष्ण यजुर्वेद के समान मिश्रित नहीं, अतः ये शुक्ल हैं। स्वामी भगवदाचार्य (वेदविषयक प्रश्नोत्तर पृष्ठ 18) के अनुसार चरणव्यूह के भाष्य में उल्लेख है कि शुक्ल वर्ण वाले सूर्य ने मध्याह्न में इस वेद को याज्ञवल्क्य को पढ़ाया, अतः यह शुक्ल यजुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

स्थूल रूप में देखने पर प्रस्तुत आख्यान रुचिकर तथा बुद्धिग्राह्य नहीं प्रतीत होता किन्तु इसकी व्यंजना के पीछे ही सच्चा इतिहास आवृत्त है। 'वमन करने' तथा वमन को वापस चुगने में वही व्यंजना छिपी है जो अंग्रेजी के मुहावरे 'शब्द वापस लेना' में है। यह आख्यान तीन तथ्यों का उद्घाटन करता है—(1) यजुर्वेद में जो कुछ है वह याज्ञवल्क्य का वान्त (उच्छिष्ट) है। (2) शुक्ल यजुर्वेद के प्रथम प्रवर्तक याज्ञवल्क्य वाजसनेय ही थे। इनसे पूर्व शुक्ल यजुर्वेद की परम्परा ही नहीं थी। (3) शतपथ ब्राह्मण के प्रवर्तक भी ये ही थे क्योंकि इन्होंने यजुर्वैदिक संहिता से ब्राह्मण भाग को विभक्त कर नवीन परम्परा को जन्म दिया। इससे पूर्व ब्राह्मण भाग संहिता में ही सम्मिलित रहता था।

अतः स्पष्ट है कि इन आदितेय यजुषों का आख्यान एवं शतपथ ब्राह्मण की रचना याज्ञवल्क्य ने की। याज्ञवल्क्य ने कण्व आदि पन्द्रह शिष्यों को इस शाखा का अध्ययन कराया था। याज्ञवल्क्य के बारे में इसके अतिरिक्त प्रचुर इतिवृत्त पुराणों आदि में मिलता है। याज्ञवल्क्य का वाजसनेय विशेषण यह प्रदर्शित करता है कि इनके पिता वाजसनि थे। याज्ञवल्क्य का आश्रम अर्बुद पर्वत (आबू पहाड़) के ईशान दिशा में (अहमदाबाद) के उत्तर में स्थित वृद्ध नगर नामक स्थान के आस-पास था, जैसा कि पुराणों के कथन से सिद्ध है।

तथान्योऽपि च तत्रास्ति याज्ञवल्क्यसमुद्भवः।
आश्रमो लोकविख्यातो मूर्खाणामपि सिद्धिदः॥[1]

यह वृद्ध नगर ही अन्य पुराणों में चमत्कारपुर, आनन्दपुर, आनर्तपुर, वर्धमानपुर आदि इतर नामों से प्रसिद्ध है। इस नगर में ही याज्ञवल्क्य अपने शिष्यों के साथ रहते थे। याज्ञवल्क्य परम ज्ञानी थे। वे चारों वेदों के ज्ञाता थे।

इत्युक्तो भगवान् सूर्यो याज्ञवल्क्यं महामुनिम्।
वेदान् षडङ्गसहितान् रहस्यादिसमन्वितान्॥

---

1. स्कंद पु०, नागर खंड, अ० 278

चतुरोऽध्यापयामास स्थापयित्वा रथे निजे।
प्राप्य वेदान् मुनिः सर्वान् गृहस्थाश्रमधर्मवान् ॥
चतुर्वेदार्थिनः शिष्यानुपनिन्ये महामनाः
चतुर्धा दृश्यते तस्य मुनेः शिष्यौघमंडली
अध्यापनरतस्यैषा याज्ञवल्क्यस्य धीमतः ॥[1]

शंकराचार्य भी याज्ञवल्क्य को चतुर्वेदी कहते हैं।[2] स्कंद पुराण में भी उनकी विद्वत्ता के बारे में कहा गया है कि—

स तथेति प्रतिज्ञाय प्रविश्यादित्यवाजिनः
कर्णेऽपठत्ततो वेदांश्चतुरोऽपि च तन्मुखात् ॥[3]

याज्ञवल्क्य के अध्ययन सम्बन्धी उपर्युक्त पौराणिक इतिवृत्त का समर्थन बृहदारण्यक उपनिषद् तथा शतपथ ब्राह्मण भी करते हैं,[4] जिनके अनुसार अपने प्रथम गुरु शाकल्य को याज्ञवल्क्य ने जनक की सभा में परास्त किया क्योंकि आचार्य आदित्य के शिष्यत्व को ग्रहण करने के पश्चात् राजा जनक ने याज्ञवल्क्य की ज्ञान-विज्ञान-प्रख्याति को सुन उन्हें मिथिला बुलाया। तब से उस राजा को ब्रह्मज्ञान देते हुए वे वहीं बस गए। राजा जनक तथा याज्ञवल्क्य के अभिन्न सम्बन्ध की पुष्टि भी यह इतिहास करता है।

ब्राह्मणैर्याज्ञवल्क्यस्तु विज्ञातो येन केन तु
विदेहेन ततः प्राप्तः श्रवणार्थं नराधिपः
वेदान्तानां च सर्वेषां रत्नाख्येन महीभुजा ।[5]

अब प्रश्न उठता है कि काण्व कौन थे? ऋग्वेद में काण्व मन्त्रों का बाहुल्य मिलता है। प्रथम मंडल में 321, आठवें मंडल में 973 तथा नवें मंडल में 50 मन्त्र काण्व मन्त्रों के नाम से प्रख्यात हैं। काण्व मन्त्रों का कुल योग 1344 है। तत्कालीन वाङ्मय में हमें चार काण्व नामों का पता लगता है। नार्षद काण्व, मेधातिथि काण्व, घौर काण्व तथा प्रस्कण्व काण्व। किन्तु आदित्य पुराण में प्रस्तुत काण्व का स्फुट परिचय मिलता है—

1. आत्म पु०, 7, 38, 45
2. बृ०, उप० शांकर भाष्य, 3, 1, 2
3. स्कं० पु०, नागर खंड, अ० 278
4. बृ० उप०, 3, 9, 26 तथा श० ब्रा०, 14, 7, 28
5. स्कं० पु०, नागर खंड, अ० 278

बौधायन पितृत्वाच्च प्रशिष्यत्वात् बृहस्पतेः।
शिष्यत्वाद्याज्ञवल्क्यस्य कण्वोऽभूत् महतो महान्॥

इससे यह ज्ञात होता है कि काण्व संहिता का प्रवर्तक कण्व ही याज्ञवल्क्य का शिष्य था। यह शुक्लयजुर्वेदाचार्य आदित्य प्रशिष्य तथा बौधायन का पुत्र था, अतः बौधायन काण्व उपर्युक्त चारों काण्व नामों से भिन्न है। कण्व का गुरु याज्ञवल्क्य होने के कारण यह उपपत्ति स्पष्ट है कि यह संहिता ऋग्वेद से पूर्व थी। ऐसा सातवलेकर का विचार है।[1] कण्व ने चाहे याज्ञवल्क्य का शिष्यत्व ग्रहण किया हो किन्तु प्रस्तुत शोध-लेखिका की विनम्र सम्मति में ऋग्वेदोक्त घौर कण्व से अवश्यमेव उसका पारम्परिक सम्बन्ध था क्योंकि माध्यंदिन तथा काण्व संहिता का पाठ-भेद इस गुत्थी को ही सुलझा देता है। माध्यंदिनों की अपेक्षा काण्व लोग मन्त्रों को ऋग्वेद के मन्त्रों के समान पढ़ते हैं, यथा—

"पुरुषेति काण्वाः पुरुखेति माध्यन्दिना पठन्ति।"

शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता एवं तत्सम्बद्ध शतपथ ब्राह्मण की रचना का श्रेय यद्यपि याज्ञवल्क्य को दिया जाता है किन्तु शतपथ के छठे से दसवें काण्डों में याज्ञवल्क्य के स्थान पर शाण्डिल्य का प्रामाण्य उपलब्ध होने के कारण प्रस्तुत काण्डों को शाण्डिल्य द्वारा रचित माना जाता है किन्तु यदि इस भाँति वैचारिक नामोल्लेख मात्र से ही कृतित्व मान लिया जावे तो जहाँ याज्ञवल्क्य तथा आरुणि साथ-साथ (श० ब्रा०, 2, 4, 1, 10) विचार प्रकट कर रहे हैं, वहाँ यह निर्णय किस प्रकार होगा कि प्रस्तुत काण्ड काण्व आरुणि ने रचा या याज्ञवल्क्य ने? ऐसा ज्ञात होता है कि मुख्यतः किसी एक आचार्य की परम्परा तथा निर्देशन से सम्बन्धित होते हुए भी इन क्रियापरक ग्रन्थों में समय समय पर विभिन्न आचार्यों के विचारों एवं सिद्धान्तों को भी संग्रथित कर लिया गया जो तत्कालीन विद्वानों की बौद्धिक उदारता का परिचायक है। किन्तु परवर्ती प्रक्षेपों तथा संग्रथित विचारों के होते हुए भी किसी रचना के रचयिता होने का श्रेय उसी व्यक्ति को दिया जा सकता है जिसने उत्स के रूप में किसी नवीन विचार-स्रोत को प्रवाहित या प्रवर्द्धित किया हो, अतः यह स्पष्ट है कि याज्ञवल्क्य ही शतपथ ब्राह्मण के प्रणेता या रचयिता थे। शुक्ल यजुषों के अध्ययन-क्षेत्र में आचार्य याज्ञवल्क्य की देन अप्रतिम एवं अक्षुण्ण है।

---

1. सातवलेकर, काण्व संहिता प्रस्ताव, पृ० 14

शतपथ ब्राह्मण का समय

भारतीय वाङ्मय की कृतियों का काल निर्णय करना पहेली बुझाना सा प्रतीत होता है। निश्चित तिथियों के अभाव में परवर्ती ग्रन्थों में आए नामोल्लेखों अथवा संकेतों को आधार बनाकर ही ऊहापोह की जाती है। यही कारण है कि इतिहासज्ञों के मतों में प्रचुर असमानता पाई जाती है। शतपथ ब्राह्मण के काल-क्रम के सम्बन्ध में भी विविध विचार प्रस्तुत किए जाते हैं। ब्राह्मणों का रचना-काल वैदिक संहिताओं का परवर्ती तथा उपनिषदों व आरण्यकों का पूर्ववर्ती रहा है। इस तथ्य को सभी स्वीकार करते हैं किन्तु उपर्युक्त ब्राह्मणों में शतपथ की अर्वाचीनता अथवा प्राचीनता का प्रश्न विचारणीय है।

शतपथ को अर्वाचीन मानने वाले विद्वानों के तर्कों एवं प्रमाणों का स्वरूप निम्न प्रकार है। भट्टोजि दीक्षित ने शतपथ को अष्टाध्यायी के एक सूत्र[1] के आधार पर भाल्लवि तथा शाट्यायन ब्राह्मण से अर्वाचीन माना है जिसमें वररुचि के वार्तिक 'याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधः तुल्यकालत्वात्' की उपेक्षा की गई है तथा जहाँ स्पष्ट रूप में याज्ञवल्क्य को उक्त ऋषियों का समकालीन स्वीकार किया गया है। नागोजि भट्ट ने 'लघुशब्देन्दुशेखर' में याज्ञवल्क्य को अर्वाचीन मानना दीक्षितजी का अभिमान बताया है[2] क्योंकि दीक्षितजी के अतिरिक्त उनके पूर्ववर्ती एवं परवर्ती सभी वैय्याकरणों की दृष्टि में शतपथ प्राचीन ब्राह्मण है।

वेबर तथा लैसेन ने शतपथ की माध्यंदिन शाखा के लोगों की समानता मेगस्थनीज द्वारा वर्णित गंगा के किनारे बसे Mavdiadivoi लोगों से की है तथा अनुमान लगाया है कि माध्यंदिन शाखा की उत्पत्ति इन्हीं में कहीं हुई होगी।[3] प्रस्तुत अनुमान हास्यास्पद है क्योंकि आज भी माध्यंदिन शाखा के लोग कहीं मिल सकते हैं, तो क्या हम इस आधार पर माध्यंदिन कृति को आज की रचना मान लेंगे ?

रैप्सन[4] तथा मैक्डानल[5] शतपथ में आए अर्हत, श्रमण तथा प्रतिबुद्ध शब्दों के आधार पर इसे बुद्ध के समय के आस-पास की रचना मानते हैं।

---

1. अष्टाध्यायी, 4, 3, 105
2. बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० 286
3. एगलिंग, शतपथ ब्राह्मण, भाग I, पृ० 29 (भूमिका)
4. ई० जे० रैप्सन, एन्शेन्ट इंडिया, पृ० 57
5. मैक्डानल, ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर (हिन्दी अनुवाद), पृ० 200

किन्तु प्रासंगिक अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि इन शब्दों के अर्थ से वहाँ बुद्ध या बौद्ध धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। मैक्डानल बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों के प्रादुर्भाव के साथ इन शब्दों का सम्बन्ध स्थापित करते हुए यह स्वयं स्वीकार करते हैं कि इन शब्दों का अर्थ परिभाषिक है, रुढ़ नहीं।[1]

बुद्ध के पूर्वज शाक्य राजाओं का गोत्र गौतम होना भी केवल इसी अनुमान का पोषक है कि शतपथ में उल्लिखित गौतमों की गुरु-परम्परा से ही शाक्य राजाओं के गोत्र चलते आ रहे हों। इस आधार पर शतपथ को बुद्ध का समकालीन प्रमाणित करना निराधार है। मैक्डानल शतपथ को सांख्य दर्शन के निर्माण के समय तक ले जाने का प्रयास करते हैं। उनका कहना है कि सांख्य प्रवर्तक आचार्यों में आसुरि का नाम प्रमुख है तथा शतपथ में आसुरि का कई वार उल्लेख हुआ है किन्तु शतपथ में कहीं भी सांख्य के सिद्धान्तों की झलक नहीं दिखाई देती, न ही सांख्य शब्द। फिर ऐसा दुरूह अनुमान कैसे लगाया जा सकता है? अनेक व्यक्तियों का एक ही नाम पीढ़ी दर पीढ़ी होना प्राचीन युग की विशेषता थी। (मैक्डानल, ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर)।

कृष्ण यजुर्वेद के ब्राह्मणों की अपेक्षा शतपथ में यज्ञ-यागादि का विवरण अधिक क्रमबद्ध तथा सुस्पष्ट प्राप्त होना भी मैक्डानल के अनुसार शतपथ ब्राह्मण को ब्राह्मण युग की अंतिम रचना सिद्ध करता है किन्तु मेरी सम्मति में यह तर्क युक्तिसम्मत नहीं है। ऋग्वेद में—प्राचीनतम वैदिक ग्रंथ होते हुए भी—जो क्रमबद्धता तथा सुस्पष्टता मिलती है वह क्या विचारणीय नहीं है?

भाषा-शास्त्र की दृष्टि से भी डा० वाकेरनागेल ने शतपथ तथा ऐतरेय को अर्वाचीन तथा पंचविंश ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण को प्राचीनतर स्वीकार किया है।[2] ओल्डेनबर्ग ने भी संस्कृत गद्य के इतिहास के लिए प्राचीन गद्य का उदाहरण तैत्तिरीय ब्राह्मण से तथा अर्वाचीन का शतपथ से लिया है।[3] किन्तु डा० कीथ का मत भिन्न है। वे शतपथ को अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा प्राचीनतर मानते हैं। अपने मत की पुष्टिहेतु उन्होंने अधिक पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत किए हैं।[4]

शतपथ को प्राचीनतर सिद्ध करने वाला महत्वपूर्ण तथ्य है उसका स्वरांकित रूप में उपलब्ध होना। सम्पूर्ण ब्राह्मण साहित्य में तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा

---

1. मैक्डानल, ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर (हिन्दी अनुवाद), पृ० 200
2. बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० 287
3. वही।
4. द्रष्टव्य, ए० बी० कीथ, हार्वर्ड ओरियण्टल सिरीज, जिल्द 18, 19, सन् 1914, भूमिका भाग।

शतपथ ब्राह्मण ही स्वरांकित रूप में प्राप्त हैं। यद्यपि शतपथ की स्वरांकन पद्धति भिन्न है किन्तु वाजसनेयी संहिता में भी स्वरांकन भेद पाया जाता है अतः यह ज्ञात होता है कि वाजसनेयी शाखा की अपनी कुछ विशिष्टता थी जिसका प्रतिबिम्ब शतपथ पर भी पड़ना स्वाभाविक था।

शतपथ के द्वितीय काण्ड में ही उस महत्त्वपूर्ण ज्योतिष घटना का उल्लेख है जिसके आधार पर पूर्व तथा पश्चिम के ज्योतिर्विद् विद्वानों ने वेदों की प्राचीनता को सिद्ध किया है। शतपथ का द्वितीय काण्ड विद्वानों द्वारा प्राचीनतम स्वीकार किया गया है, जहाँ उल्लेख है कि कृत्तिकाएँ ठीक पूर्व दिशा में उदित होती हैं और वहाँ से वे च्युत नहीं होतीं।[1] शंकर बालकृष्ण दीक्षित के अनुसार यह स्थिति विक्रम पूर्व 3000 वर्ष होनी चाहिए। कतिपय जर्मन ज्योतिर्विदों की व्याख्या के अनुसार विन्टरनित्ज ने ग्रह की इस स्थिति को 1100 ई॰ पू॰ माना है किन्तु 'एताः ह वै प्राच्यै दिशौ न च्यवन्ते' का अर्थ 'कृत्तिकाएँ अपने उदय के बाद बहुत देर तक पूर्व में दृष्टिगोचर होती थीं' अशुद्ध है, जैसा कि उक्त विद्वानों ने लिया है, अतः उनके निष्कर्ष को भी शुद्ध कैसे कहा जा सकता है? पुनः 'वेदांग ज्योतिष' को सभी विद्वान् शतपथ से अर्वाचीन मानते हैं। इसका समय 1400 ई॰ पू॰ माना जाता है। मैक्समूलर के अनुसार भी प्रस्तुत रचना 1181 ई॰ पू॰ से बाद की कदापि नहीं है, अतः विंटरनित्ज के अनुसार 1100 ई॰ पू॰ में शतपथ की रचना मानना कदापि उचित नहीं है।

सातवलेकर का अनुमान है कि किसी ऋषि ने कृत्तिकाओं को पूर्व दिशा में अच्युत रूप में देखा। तभी शतपथ में उसका वर्णन किया गया है। क्रिया में वर्तमान काल का प्रयोग इस कथन को पुष्ट करता है। अब तो पूर्व दिशा को छोड़कर कृत्तिकाएँ ऊपर की ओर अन्यत्र चली गई हैं। उनका ऊपर की ओर स्थानान्तरण पाँच हजार वर्षों में ही संभव है। इसलिए कृत्तिकाओं का पूर्व दिशा में अवस्थान शक संवत् पूर्व 3000 वर्ष प्राचीन है—यह खगोलशास्त्रियों का निश्चय है। श्रीमान् शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने भी अपने ज्योतिष शास्त्र में अनेक प्रमाणों द्वारा यही समय निर्धारित किया है अतः याज्ञवल्क्य का समय आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व होना चाहिए।[2]

शतपथ ब्राह्मण में विदेह के राजा जनक का बारम्बार उल्लेख मिलता है। इस आधार पर मैक्डानल इसे रामायण के रचनाकाल के समकक्ष मानते

---

1. कृत्तिकास्वादधीत। एता ह वै कृत्तिकाः प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते। सर्वाणि ह वाऽन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशाच्यवन्ते। (श॰ ब्रा॰, 2, 2, 1, 2)
2. सातवलेकर, काण्व संहिता प्रस्ताव, पृ॰ 15

हैं। उनका कहना है कि प्रस्तुत जनक रामायण की चरित्र-नायिका सीता के पिता जनक से अभिन्न कहे जा सकते हैं।[1] शतपथ में रामायण के कथानक या पात्रों का संकेत मात्र भी कहीं उपलब्ध नहीं है। वस्तुस्थिति यह प्रतीत होती है कि मिथिला के राजाओं की उपाधि जनक थी[2] जिसे वहाँ का प्रत्येक उत्तरवर्ती राजा ग्रहण कर लेता था। विदेशों में भी हेनरी प्रथम, द्वितीय, तृतीय के रूप में राजगद्दी पर आसीन राजाओं के एक से नाम इतिहास में देखे गए हैं। पुनः शतपथ के एक प्रसिद्ध उपाख्यान द्वारा यह स्पष्ट भी होता है कि प्रस्तुत राजा विदेघ माथव नामधारी जनक राजा था जिसने सबसे पहिले पूर्व में वैश्वानर अग्नि का प्रवेश करवाया।[3] प्रस्तुत घटना का उल्लेख केवल शतपथ में ही मिलता है अतः यह शतपथ की प्राचीनता को प्रमाणित करने वाला महत्त्वपूर्ण तथ्य है।

शतपथ में दुष्यन्त, भरत तथा जनमेजय का भी नामोल्लेख मिलता है[4] किन्तु यहाँ स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस समय तक ये पात्र परवर्ती कथानकों और घटनाओं के जाल से मुक्त थे। इसी प्रकार अर्जुन शब्द जो इन्द्र का नामान्तर कहा गया है[5] वस्तुतः महाभारत के पात्र अर्जुन का पूर्वतम रूप है क्योंकि महाभारत में अर्जुन को 'इन्द्रसुत' विशेषण भी दिया गया है,[6] अतः शतपथ का रचना काल अति पूर्व चला जाता है।

एक अन्य प्रमाण द्वारा भी शतपथ प्राचीन प्रमाणित होता है। शतपथ में कुरु प्रदेश के वैभव के स्पष्ट लक्षण दृष्टिगोचर हैं। तांड्य ब्राह्मण के अनुसार[7] ब्राह्मणों का उदय-स्थान कुरु-पांचाल तथा सरस्वती नदी है। यहीं पर कुरुक्षेत्र को प्रजापति की वेदी भी कहा गया है। इस प्रदेश में ब्राह्मणों का संकलन तथा यज्ञ-याग की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई। तांड्य ब्राह्मण में[8] सरस्वती के लुप्त होने

---

1. मैक्डानल, ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर (हिन्दी अनुवाद), पृ॰ 200
2. बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ॰ 290। यह संभव हो सकता है कि बृहदारण्यक उपनिषद्, 2, 1, 1 तथा कौषीतकि उपनिद्, 4, 1 में उल्लिखित जनक तथा रामायण का पात्र जनक एक ही हो जो काशी के अजातशत्रु राजा की ईर्ष्या का विषय बन गया था।
3. श॰ ब्रा॰, 1, 4, 1, 10
4. वही, 13, 5, 4
5. वही, 5, 4, 3, 7
6. मैक्डानल, ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, (हिन्दी अनुवाद) पृ॰ 201
7. तां॰ ब्रा॰, 25, 13, 3
8. वही, 25, 10, 21

के स्थान का नाम विनशन तथा पुनः उत्पन्न होने के स्थान का नाम प्लक्ष प्रास्रवण दिया गया है किन्तु शतपथ में कहीं भी सरस्वती के लुप्त होने का संकेत नहीं है, अतः प्रतीत होता है कि सरस्वती शतपथ-काल तक लुप्त नहीं हुई थी तथा उसका जल लाकर कुएँ आदि के जल में मिलाकर सारस्वत-जल तैयार किया जाता था जिसे राजा के अभिषेक के काम में लिया जाता था।[1] प्रस्तुत प्रमाण भी शतपथ को प्राचीनतम ब्राह्मणों की कोटि में स्थापित करता है। पुराणों में विस्तार को प्राप्त मत्स्यावतार की विश्व-प्रसिद्ध कथा का जो रूप शतपथ में है वह मिथॉलाजी की दृष्टि से प्राचीनतम स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार अनेक पौराणिक उपाख्यानों का आदिम रूप शतपथ में प्राप्त होने के कारण शतपथ ब्राह्मण निश्चय ही प्राचीनतम ब्राह्मण स्वीकार किया जाना चाहिए।[2]

अनेक भौगोलिक तथा ऐतिहासिक प्राचीनतम तथ्यों का उद्घाटन शतपथ ब्राह्मण से होता है जिनका संकलन प्रोफेसर वेबर ने अपने ग्रन्थ[3] में किया है यथा शतपथ ब्राह्मण के अनुसार पांचाल लोग पहिले क्रिवि कहे जाते थे।[4] क्रिवियों की स्थिति को ऋग्वेद[5] भी पुष्ट करता है। इसी प्रकार अनगिन उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिन पर प्राचीनता की मुहर स्पष्ट है।

याज्ञवल्क्य तथा कण्व के सम्बन्ध में यह तथ्य प्रकाशित किया जा चुका है कि भगवान् आदित्य से याज्ञवल्क्य ने यजुषों का अध्ययन किया था। 3000 ई० पू० कण्व ने याज्ञवल्क्य से यजुषों को प्राप्त किया किन्तु यह शुक्ल यजुर्वेद का काल नहीं माना जा सकता है क्योंकि वे तो आचार्य आदित्य की सन्निधि में गुप्त थे अतः शुक्ल यजुर्वेद का काल तो अज्ञात ही है।[6] शतपथ ब्राह्मण का सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद तथा याज्ञवल्क्य से होने के कारण परम्परानुसार भी शतपथ की प्राचीनता अक्षुण्ण बनी रहती है।

कालीदास की उक्ति 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' के अनुसार प्राचीन होने से ही श्रेष्ठता प्रतिपादित नहीं होती। शतपथ ब्राह्मण का महत्त्व अन्य कई दृष्टियों से भी विचारणीय है।

---

1. श० ब्रा०, 5, 3, 4, 3
2. द्रष्टव्य, इसी शोध प्रबंध के अध्याय 9 में उपाख्यानों का विवेचन।
3. वेवर, इंडियन स्टडीज, पृ० 187
4. श० ब्रा०, 13, 5, 4, 7
5. ऋग्वेद, 8, 20, 24
6. सातवलेकर, काण्व संहिता प्रस्ताव, पृ० 18

सम्पूर्ण ब्राह्मण-साहित्य में शतपथ ब्राह्मण सर्वाधिक विशाल रचना है। ब्राह्मण-साहित्य में ही नहीं अपितु विशालता की दृष्टि से सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के पश्चात् तृतीय स्थान शतपथ का है[1] किन्तु पृष्ठ संख्याओं में विशाल होना वास्तविक उत्तमता का परिचायक कदापि नहीं हो सकता, अतः शतपथ ब्राह्मण के महत्त्व का सर्वांगीण मूल्यांकन अपेक्षित है।

शतपथ ब्राह्मण का महत्त्व

ब्राह्मण शब्द का अभिधानात्मक परिचय देते समय पूर्व पृष्ठों में मैंने इस शब्द के मूल अर्थ को उद्घाटित करने का प्रयास किया है।[2] तदनुसार ब्राह्मण शब्द का मूल अर्थ यज्ञ-विज्ञान के संदिग्ध, गूढ़ एवं अस्पष्ट स्थलों की व्याख्या एवं मीमांसा करना है अतः स्पष्ट है कि ब्राह्मणों का प्रत्यक्ष वैषयिक सम्बन्ध यज्ञीय प्रयोग-विधि से है अतः यह कथन अत्युक्ति नहीं है कि इस दृष्टि से शुद्धतम ब्राह्मण, मात्र शतपथ है। शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी शाखा ही प्रयोग-विधि के विज्ञान में अपनी सर्वोपरिता का गौरव रखती है। ब्राह्मणों के मुख्य विषय वाजसनेयी संहिता में आए महासत्र ही हैं। यजुर्वेद में प्रतिपादित यज्ञों की विधियों का विस्तृत विवरण असाधारण परिपूर्णता के साथ शतपथ ब्राह्मण में ही मिलता है।[3] विधि-विधानों के विशालराशिरूप शतपथ ब्राह्मण में ही यज्ञ-यागों का सांगोपांग एवं पूर्ण विवरण दिया गया है जबकि अन्य ब्राह्मणों में विवरण की मात्रा अत्यल्प है। इतना ही नहीं, कई यज्ञों का तो नाम-निशान भी नहीं मिलता। यज्ञों के नाना रूप एवं विविध अनुष्ठान जिस सूक्ष्मता के साथ शतपथ ब्राह्मण में प्रस्तुत किए गए हैं, इतर में नहीं। इनमें से कतिपय ब्राह्मण तो विषय की दृष्टि से ब्राह्मण-ग्रन्थ ही नहीं हैं।

सामवेद से सम्बद्ध ब्राह्मण श्रृंखला तथा अथर्ववेद से सम्बद्ध गोपथ ब्राह्मण, ब्राह्मण न होकर वेदांग अधिक हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यजुर्वेदीय

---

1. 'The most important of them all is that which is attached to the White Yajurved, the Shatapatha Brahmana or Brahmana of the hundred paths. It is next to the Rigved and Atharvaved the most valuable product of the Vedic Age.' (Macdonell, India's Past, page 46).
2. द्रष्टव्य, इसी शोध ग्रंथ का पृ० 4
3. मैक्डॉनल, ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर (हिन्दी अनुवाद), पृ० 197

ब्राह्मण ग्रन्थों के संवलित एवं संकलित हो जाने के उपरान्त इतर वैदिक सम्प्रदायों ने भी अपने में ब्राह्मण ग्रन्थों का अभाव महसूस किया। फलस्वरूप विपुल संख्या में ब्राह्मण रचे जाने लगे। इस दृष्टि से भी शतपथ का महत्त्व प्रेरणा-स्रोत एवं अग्रणी के रूप में अप्रत्याख्येय है।

आध्यात्मिक दृष्टि से यज्ञों का महत्त्व प्रतिपादित करने का गौरव भी शतपथ को ही दिया जाना चाहिए। भौतिक याग एक प्रतीकात्मक व्यापार है। अन्तर्याग एवं बहिर्याग में पूर्ण सामंजस्य एवं आनुरूप्य है। दो अश्वों की तरह यज्ञ-चक्र को खींचने के लिए मन तथा वाक् की आवश्यकता है। इनके संयोग के बिना किसी भी कर्म का संपादन असंभव है। उसी प्रकार स्रुवा व स्रुक दोनों पात्रों द्वारा आहुति देने का विधान है। विश्व में दो तत्त्व अग्नि व सोम हैं। अग्नि है अन्नाद तथा सोम है अन्न। दूसरा पुरुष व स्त्री तत्व है...दोनों के सामंजस्य में ही कल्याण है। उपनिषदों में ये ही दो तत्त्व रयि तथा प्राण कहलाए हैं।[1] यज्ञ की छोटी से छोटी क्रिया के भाव को भी इसी मूल तत्त्व की पीठिका में पूर्णतया अभिव्यक्त करने का श्रेय शतपथ ब्राह्मण को ही दिया जा सकता है। लुई रेनो भी अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा शतपथ की इस महत्ता को अभिव्यक्त करने का लोभ संवरण न कर सके। वे लिखते हैं—

> The work is more elaborate and richer in discussions than the other Brahmanas. The narrations are numerous and often detailed but always clearly connected with the ritual theme. Some passages, especially in book X, foreshadow the speculations of the Upanishads and in fact in force of reasoning far surpass them.[2]

समस्त ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुरूप ही शतपथ भी गद्य में निबद्ध है। ब्राह्मणों के ये गद्य लेख भारोपीय भाषा परिवार में सर्व सम्मति से प्राचीनतम गद्य के नमूने स्वीकार किए गए हैं। शतपथ ब्राह्मण के गद्य की विशेषता इसके छोटे-छोटे वाक्य हैं। गद्य सरस, परिमार्जित, प्रसन्न तथा उदात्त है। लम्बे-लम्बे समासयुक्त दुरूह वाक्यों का नितान्त अभाव है। व्याकरण की दृष्टि से मन्त्रों की भाषा के समान ही शतपथ की भाषा है किन्तु नए शब्दों एवं शब्द-रूपों का

1. प्रस्तुत विवेचन के लिए द्रष्टव्य, मोतीलाल शर्मा द्वारा रचित 'शतपथ का विज्ञान भाष्य'।
2. लुई रेनो, वैदिक इंडिया, पृ० 27

प्रयोग भी यत्र-तत्र मिलता है। वस्तुतः यह भाषा संहिता तथा पाणिनि की संस्कृत के बीच की श्रृंखला के रूप में है। वाक्य-विन्यास ऋजु एवं सरस है। प्रथम गद्य होते हुए भी इस गद्य की उक्त विशेषताएँ पाठकों को आश्चर्य में डाल देती हैं। जूलियस एगलिंग की दृष्टि में प्रस्तुत भाषागत महत्त्व निम्न प्रकार है—

> Nor is the style of these compositions with its compact grammatical forms and expressive particles, and its habitual employment of the "oratio directa" instead of dependent clauses—without a certain rough beauty of its own, which however almost entirely evaporates in a rendering into modern analytical speech. . .And indeed, whatever opinion the general reader may form of this Brahmana, as purely literary composition, and assuredly it cannot be a very high one to the Sanskrit student, these works are of the highest importance as the only genuine prose works which the Sanskrit as a popular language has produced.[1]

साथ ही भाषा, स्वर-युक्त होने के कारण शतपथ की प्राचीनता को प्रतिपादित कर इसके महत्त्व को बढ़ाती है। विश्व-धर्म अथवा तुलनात्मक धर्म-विज्ञान के अध्ययन के लिए शतपथ की स्रोतस्विता अप्रत्याख्येय है क्योंकि वैदिक धर्म का क्रियात्मक स्वरूप यज्ञ-आधारित था। याज्ञिक धर्म का सांगोपांग अध्ययन शतपथ के अतिरिक्त अन्य किसी भी अकेले ब्राह्मण द्वारा किया जाना असम्भव है। तत्कालीन धर्म के क्रियात्मक एवं दार्शनिक-चिन्तनात्मक दोनों ही पक्षों का समुचित विवरण शतपथ में प्राप्य है।

निर्वचनों के प्रारंभिक इतिहास की जानकारी के लिए शतपथ ब्राह्मण अत्यन्त उपादेय ग्रंथ है। यह निरुक्तियों का भण्डार है। निरुक्तियाँ अत्यन्त सार्थक, बुद्धिमत्तापूर्ण तथा रोचक हैं। व्युत्पत्तिपरकता को शतपथ की एक सामान्य प्रवृत्ति के रूप में पग-पग पर देखा जा सकता है। उलूखल का निर्वचनजन्य अर्थ समझाते हुए कहा गया है कि इसमें वस्तु का विस्तार करने का गुण है (उरु+करत) अतः 'उरु करत' से उलूखल बन गया। भाषा-विज्ञान की दृष्टि में वर्ण-विपर्यय का कारण भी शतपथ ने अत्यन्त रोचक प्रस्तुत किया है।

---

1. जे० एगलिंग, शतपथ ब्राह्मण, भाग I, इन्ट्रोडक्शन, पृ० 25

'परोक्षकामा हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः' सूत्र द्वारा बताया गया है कि देवों को परोक्ष बात कहना प्रिय है। प्रत्यक्ष कथन के वे द्वेषी हैं अतः वर्णों को छिपाकर या उलट-पलट कर बोलने की परम्परा है। उपवास का निर्वचन 'उप' तथा 'वसथ' को मिलाकर करते हैं क्योंकि देवता उस दिन यज्ञशाला के निकट (उप) वास (वसथ) कर लेते हैं[1] अतः उपवसथ कहा जाता है। इस तरह की निरुक्तियों के अनगिन नमूने शतपथ में मिलते हैं अतः भाषा-विज्ञान के अध्येता के लिए भी शतपथ ब्राह्मण का महत्त्व अपरिमेय है।

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शतपथ ब्राह्मण के उपाख्यान हैं जिनका ऐतिहासिक, धार्मिक तथा साहित्यिक दृष्टियों से अध्ययन किया जा सकता है। इतनी अधिक संख्या में उपाख्यान अन्य किसी ब्राह्मण में नहीं मिलते। यद्यपि कोई एक उपाख्यान अधिक विस्तार से किसी अन्य ब्राह्मण में भी मिल सकता है यथा शुनःशेप का उपाख्यान ऐतरेय में,[2] किन्तु इतने महत्त्वपूर्ण उपाख्यानों का एकत्र संयोग अन्यत्र अप्राप्य है। यदि पौराणिक उपाख्यानों का मूलरूप जानना है तो इसी ब्राह्मण में मिलेगा। ऐतिहासिक उपाख्यानों की भी भरमार है। कौरव राजा जनमेजय का सर्वप्रथम उल्लेख इसी ब्राह्मण में मिलता है।[3] पूर्व में ब्राह्मण धर्म के प्रसार के इतिहास को बताने वाला उपाख्यान भी इसी ब्राह्मण में है।[4] विश्व के प्रत्येक धर्म में प्राप्त जलप्लावन के उपाख्यान का सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वप्राचीन रूप शतपथ ब्राह्मण में प्रस्तुत है। ऋग्वेद में कथा का स्रोत मात्र ही मिलता है, पूरी कथा नहीं। वेद में जो उपाख्यान स्रोतरूप में प्राप्त हैं तथा पुराणों में जिनका काल्पनिक विकास मिलता है, उन उपाख्यानों की मध्यस्थ कड़ी शतपथ में ही उपलब्ध है[5] अतः वैदिक एवं पौराणिक दोनों की पुराकथा (मिथॉलॉजी) के अध्येताओं के लिए शतपथ का अध्ययन अपरिहार्य है।

यज्ञ-विज्ञान के सूक्ष्म एवं विस्तृत अध्ययन के लिए भी शतपथ ब्राह्मण ही सर्वप्रथम साधन है।

---

1. श० ब्रा०, 1, 1, 1, 7
2. ऐ० ब्रा०, 7, 13, 18
3. मैक्डॉनल, ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर (हिन्दी अनुवाद), पृ० 200, 201
4. वही, पृ० 201
5. पुरुरवा-उर्वशी तथा दुष्यन्त-पुत्र भरत से सम्बन्धित दो आख्यान जो कालिदास के दो नाटकों के कथानक हैं शतपथ से ही लिए गए हैं। (मैक्डॉनल, संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम भाग), पृ० 200

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन संस्कृति के स्वरूप को पूर्णरूपेण अभिव्यक्त करने में शतपथ ब्राह्मण सर्वाधिक समर्थ है। अत्यन्त विस्तृत होने के कारण जीवन के सभी पहलुओं के संकेत इसमें प्राप्त होते चले गए हैं। वैदिक संस्कृति के अध्ययन के जिज्ञासुओं के लिए शतपथ प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि प्राचीन भारत का राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक किसी भी प्रकार का इतिहास लिखने वाले विद्वानों ने शतपथ से अनगिन उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

उक्त सभी विशेषताओं के कारण सभी विद्वानों ने एक स्वर से शतपथ के महत्त्व का प्रतिपादन किया है। मैक्डॉनल ने इसे पूरे वैदिक साहित्य में ऋग्वेद के बाद परम महत्त्व का ग्रन्थ बताया है।[1] लुई रेनो भी लिखते हैं—

> The most important and extensive work in all this literature is Shatapatha Brahmana.[2]

इसी प्रकार जॉन डॉसन ने अपने विचार प्रकट किए हैं—

> A celebrated Brahmana attached to the White Yajurved ...This is the most complete and systematic as well as the most important of all the Brahmanas.[3]

राधाकुमुद मुकर्जी ने तो शतपथ ब्राह्मण को वैदिक युग का सर्वाधिक मूल्यवान ग्रन्थ स्वीकार किया है।[4] शतपथ की इस महत्ता तथा विशिष्टता के कारण इसका सर्वांगीण अध्ययन अपेक्षित है। स्पष्ट है कि ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का सांस्कृतिक अध्ययन तत्कालीन अज्ञानतिमिराच्छन्न युग के समाज और उसकी संस्कृति को किंचित् भी आलोकित कर सका तो सांस्कृतिक इतिहास की एक लुप्त कड़ी को प्रथम बार प्रमाण-पुरस्सर रूप से स्थापित करने की दिशा में एक सफल और श्लाघनीय योगदान होगा।

---

1. मैक्डॉनल, संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० 197
2. लुई रेनो, वैदिक इंडिया, पृ० 26
3. जॉन डॉसन, ए क्लासिकल डिक्शनरी आफ हिन्दू मिथॉलॉजी में द्रष्टव्य : 'शतपथ' शब्द।
4. राधाकुमुद मुकर्जी, हिन्दू सिविलाइजेशन (हिन्दी अनुवाद), पृ० 93

द्वितीय अध्याय

धर्म एवं धार्मिक आस्थाएँ

धर्म शब्द का सबसे प्राचीन प्रयोग ऋग्वेद[1] में मिलता है जहाँ धर्म का अर्थ जगन्निर्वाहक नियमों का समूह है।[2] शतपथ ब्राह्मण में ऋत (जगद्-विषयक शाश्वत नियम) के व्यवस्थापक वरुण देवता को 'धर्मपति' विशेषण द्वारा अभिहित किया गया है।[3] महाभारतकार ने धर्म की परिभाषा देते हुए कहा है कि धारणगुण से संयुक्त होने के कारण ही धर्म को धर्म कहा जाता है।[4] धर्म प्रत्येक संस्कृति का अंग है।[5] विश्व के किसी भी धर्म के दो पक्ष होते हैं। प्रथम तत्त्व-चिन्तन तथा द्वितीय कर्मकाण्ड। धर्म के ये दोनों पहलू समरूपेण महत्त्वपूर्ण हैं अतः शतपथ ब्राह्मण के सांस्कृतिक अध्ययन के लिए इस ग्रन्थ में निहित धर्म एवं आस्थाओं के स्वरूप को हृदयंगम करना आवश्यक है।

धर्म अत्यन्त गूढ़ है। महाभारत ने 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' के उद्घोष द्वारा धर्म की इस निगूढ़ता एवं गुह्यता की ओर ही संकेत किया है। पाश्चात्य विद्वान् प्रोफेसर वेब का भी कहना हैं कि धर्म को किसी भी परिभाषा में बाँधना कठिन है[6] फिर भी पूर्व एवं पश्चिम के अनेक तत्त्व-चिन्तकों ने धर्म को परिभाषित करने की चेष्टा की है। धर्म एवं नीति सम्बन्धी विश्व कोश[7] में धर्म का अर्थ पवित्र नियम अथवा कर्तव्य (सेक्रेड लॉ एण्ड ड्यूटी) दिया गया है। हिन्दी विश्वकोश 'सुकृत व कल्याणकारी कर्म' अर्थ करता है।[8] पाश्चात्य विद्वानों ने धर्म को 'मानव तथा परमात्मा को मिलाने वाली कड़ी, रहस्यमय शक्ति के साथ भावनात्मक बंधन, नैतिकता का दूसरा नाम तथा अदृश्य शक्तियों

---

1. 'यज्ञेन यज्ञं अयजन्त देवाः तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्', ऋग्वेद, 1, 164, 50; 'त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः अतो धर्माणि धारयन्', ऋग्वेद, 1, 22, 18
2. श्री नगेन्द्रनाथ वसु द्वारा संपादित हिन्दी विश्वकोश, वोल्यूम 11, पृ० 100
3. श० ब्रा०, 5, 3, 3, 9
4. 'धारणाद्धर्म इत्याहुः', महाभारत, शान्तिपर्व, 109, 11
5. डॉ० राधाकृष्णन्, रिलीजन इन ए चेंजिंग वर्ल्ड (हिन्दी अनुवाद), पृ० 3
6. देशमुख, पी० एस०, 'रिलीजन इन वैदिक लिटरेचर' के प्रारंभिक पृष्ठ
7. एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, वोल्यूम 4, पृ० 702
8. श्री नगेन्द्रनाथ वसु, वही, वोल्यूम 11, पृ० 100

की आवश्यकतावश पूजा' आदि परिभाषाएँ दी हैं।[1] धर्म को किसी विशेष दृष्टिकोण से देखने अथवा उसके किसी पक्ष-विशेष पर ही दृष्टिपात करने के कारण ये परिभाषाएँ अपने स्थान पर सही होते हुए भी धर्म का एक यथा-संभव परिपूर्ण अर्थ देने में समर्थ नहीं हैं। डॉ० राधाकृष्णन् के मतानुसार 'पौरस्त्य परम्परा में धर्म आन्तरिक जीवन का सुसंस्कार एवं व्यक्तिगत उपलब्धि है जबकि पश्चिम में यह सामाजिक स्थायित्व का साधन है।'[2] उक्त कथन इस दृष्टि से युसंक्तिगत एवं समीचीन हो सकता है कि आन्तरिक जीवन का सुसंस्कार एवं व्यक्तिगत उपलब्धि भारतीय धर्म-साधना की मूल चेतना रही है किन्तु इसका आशय यह नहीं है कि यहाँ धर्म का सामाजिक तथा नैतिक पक्ष दुर्बल रहा है। मनु का यह कथन—ज्ञान (वेद), नीति (स्मृति), सदाचार तथा अन्तरात्मा की चेतना धर्म के साक्षात् लक्षण हैं—धर्म के उभयपक्षों का सम्यक् आकलन करता है।[3] भारतीय दर्शन-परम्परा में 'मोक्ष' के साथ-साथ 'अभ्युदय' की सिद्धि पर भी समान वल दिया गया है।[4] मार्कण्डेय पुराण भी कहता है—

'प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च द्विविधं कर्म वैदिकम्'[5]

जैमिनि ने मीमांसा दर्शन[6] के प्रारंभ में ही 'अथातो धर्म जिज्ञासा' द्वारा धर्म की परिभाषा का प्रश्न उठाते हुए कहा है कि 'य एव श्रेयस्कर स एव धर्म शब्देनोच्यते।' पुनः वे कहते हैं कि यज्ञ के अनुष्ठान करने की जिससे प्रेरणा मिले वही धर्म है।

आधारभूत दृष्टि से धर्म का शाश्वत महत्त्व होते हुए भी व्यवहार पक्ष की दृष्टि से प्रत्येक युग में धर्म के किसी विशेष पक्ष या अंग का प्राधान्य रहा हैं। मनु ने भी इसीलिए विभिन्न युगों में क्रमशः तप, ज्ञान, यज्ञ तथा दान को युग-धर्म के रूप में घोषित किया है—

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युग ह्रासानुरूपतः॥

---

1. द्रष्टव्य, देशमुख, 'रिलीजन इन वैदिक लिटरेचर' के प्रारंभिक पृष्ठों पर क्रमशः लैक्टेटियस, मैक्समूलर, कांट तथा एलन मैंजी की धर्म-सम्बन्धी परिभाषाएँ।
2. यहीं पर राधाकृष्णन् भारत को पूर्व का प्रतीक मानते हैं। धर्म तुलनात्मक दृष्टि में, पृ० 47
3. मनुस्मृति, 2, 12
4. यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।
5. मार्क० पु०, 45, 1
6. मीमांसा दर्शन, 1, 2, सूत्र भाष्य

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते ।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥[1]

शतपथ ब्राह्मण में धर्म के रूप में 'यज्ञ' ही विशेषतया प्रतिष्ठित है। यज्ञ का वितान एवं विस्तार वहाँ परम श्रेयस्कर समझा गया है।[2] शतपथ के समय यज्ञ व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन-व्यवस्था का स्थापक आधारभूत कर्म था अतः शतपथ में कहा गया है—

"यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म"[3]

यज्ञ ही सर्वश्रेष्ठ देवता तथा आदिस्रष्टा प्रजापति है।[4] आदित्य एवं विष्णु भी यज्ञ-रूप हैं।[5]

शतपथमें यज्ञ-विषयक तत्व-चिंतन एवं याज्ञिक अनुष्ठानों के विवरण द्वारा धर्म के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों पक्षों को प्रकाशित किया गया है। यज्ञ से सम्बन्धित देवताओं का अगले अध्याय में पृथक् रूप में विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा। यज्ञ का तात्त्विक एवं कर्मकाण्डीय पक्ष ही प्रस्तुत अध्याय में विवेच्य है।

यज्ञ का सैद्धांतिक विवेचन

शतपथ की विचारधारा के अनुसार यज्ञ का द्विविध स्वरूप है—प्राकृत एवं कृत्रिम। प्राकृत यज्ञ प्रकृति में निरन्तर चल रहा है। उसी का अनुसरण कर कृत्रिम यज्ञ विहित हुआ है। "देवान् अनुविधा वै मनुष्याः यद् देवा अकुर्वन् तदहं करवाणि।" यज्ञमूलक प्रस्तुत सिद्धान्त शतपथ में कुरु-पांचाल देशीय आरुणि उद्दालक के उपाख्यान में मिलता है। कृत्रिम यज्ञ की परिभाषा निम्नरूप में निरुक्त में दी गई है—

यज्ञः कस्मात्। प्रख्यातं यजतिकर्मेति नैरुक्ताः याच्ञो भवतीति वा। यजुरुन्नो भवतीति वा। बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः यजूंष्येनं नयन्तीति वा।[6]

---

1. मनुस्मृति, 1, 85, 86
2. श० ब्रा०, 3, 9, 4, 23
3. वही, 1, 7, 3, 5
4. 'एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत् प्रजापतिः, श० ब्रा०, 4, 3, 4, 3
5. वही, 14, 1, 1, 16
6. निरुक्त, 3, 4

अर्थात् यजनार्थक होने के कारण, फल-विशेष की कामना के लिए किए जाने के कारण, यजुर्मन्त्रों से क्लिन्न होने के कारण, बहुकृष्णाजिन् सम्पन्न होने के कारण तथा यजुर्मन्त्रों द्वारा सफल होने के कारण यज्ञ कहा जाता है। प्रस्तुत परिभाषा कृत्रिम यज्ञ की अत्यन्त सार्थक परिभाषा है किन्तु स्वयं शतपथ में प्रदत्त यज्ञ की निर्वचनात्मक परिभाषा अपने व्यापक परिवेश में यज्ञ के उक्त द्विविध रूपों को ग्रहण कर लेती है—

> अथ यस्माद्यज्ञो नाम। घ्नन्ति वाऽएनमेतद्यदभिषुण्वन्ति तद्यदेनं तन्वते तदेनं जनयन्ति स तायमानो जायते स यन्जायते तस्माद्यञ्जोयञ्ज्ञो ह वै नामैतद्यद्यज्ञ इति[1]।

अर्थात् जब इसे कुचलते हैं तो इसे मारते हैं, जब इसे फैलाते हैं तो उत्पन्न करते हैं। यह विस्तारित किया जाता हुआ उत्पन्न होता है अतः 'यन् जायते' से यज्ञ नाम पड़ा। स्पष्ट है कि प्रस्तुत व्याख्या व्यापक अर्थों की प्रदात्री है अतः शतपथ ब्राह्मण में वाक्, पुरुष, प्राण, प्रजापति, विष्णु आदि को यज्ञ से समीकृत किया गया है। कुछ विद्वान् इन पदों को यज्ञ का पर्याय मानते हैं।[2] मेरी विनम्र सम्मति में इन्हें यज्ञ के पर्याय कहना भ्रममूलक कथन है। पर्याय या अर्थ रूप में वही शब्द कहा जा सकता है जो पूर्णरूपेण अथवा खण्डशः वही सांगोपांग प्रचलित अर्थ अभिप्रेत करता हो। पर्यायों का आपस में स्थानापन्न बनना भी आवश्यक है। किसी गुण-विशेष अथवा पक्ष-विशेष की दृष्टि से इतर शब्द पर आरोप 'गुण आधारित आंशिक समीकरण' तो कहला सकता है किन्तु पर्याय नहीं। यज्ञ से प्रजापति का समीकरण गुण आधारित आंशिक समीकरण ही है। स्रष्टा के रूप में प्रजापति में सर्वप्रथम काम (इच्छा) का विस्तार होता है। पुनः वह उत्पन्न होता है अतः केवल विस्तारित होकर उत्पन्न होने के गुण के कारण प्रजापति यज्ञ है। उक्त दृष्टि-कोण से ही वाक् को भी शतपथ में यज्ञ कहा गया है।[3] वाक् के निघंण्टु में निवित् (मन्त्र) तथा ऋक् आदि अर्थ भी हैं। ब्राह्मण ग्रंथों के अनुसार ऋग्, यजुः आदि मन्त्रों द्वारा समर्पित होने पर ही यज्ञाग्नि में डाली गई आहुतियाँ सार्थक होती हैं तथा यज्ञ अपने आप में परिपूर्ण होता है।[4] स्पष्ट है कि वाक्

---

1. श० ब्रा०, 3, 9, 4, 23
2. नाथूलाल पाठक, ऐतरेय ब्राह्मण का एक अध्ययन, पृ० 171
3. श० ब्रा०, 1, 5, 2, 7; 1, 7, 1, 15
4. 'एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपं समृद्धं यत् कर्म क्रियमाणम् ऋग्यजुर्वाभिवदतीति', ऐ० ब्रा०, 1, 4, 13, 16

(मन्त्रों) की मन के माध्यम से कर्म (यज्ञ) में परिणति ही पूर्ण एवं रूप-समृद्ध यज्ञ है। शतपथ (3, 2, 1, 26) में वर्णित यज्ञ एवं वाक् के मिथुनत्व की चर्चा से भी यही अर्थ अभिप्रेत है। सम्पूर्ण जगत् की रूप-समृद्धि यज्ञ-क्रिया में वर्तमान है। चित्रकार जब किसी मन्त्र को मन के माध्यम से चित्र-रूपी कर्म में परिणत कर देता है तो उसका यज्ञ पूर्ण हो जाता है। प्रजापति ने भी आदि तत्त्व सत् को मनस् तत्त्व के माध्यम से प्रस्तुत सृष्टिचक्र के रूप में गतिमान किया।[1]

वैज्ञानिक दृष्टि से अग्नि में सोम की आहुति ही यज्ञ है।[2] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जगत् 'अग्नीषोमात्मक' है। सोम अन्न है तथा अग्नि अन्नाद। अग्निरूपी अन्नाद सोमरूपी अन्न की आहुति ग्रहण करता रहता है। यही क्रिया जगत् में सतत् वर्तमान है। जठराग्नि में वैश्वानर अग्नि है जिसमें हम प्रति दिन सुबह-शाम अन्नाहुति देते हैं। गीता में कहा गया है—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमास्थितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥[3]

निष्कर्षतः भौतिक यज्ञ इन सभी सूक्ष्म यज्ञों का प्रतीक मात्र है। स्थूल द्वारा सूक्ष्म तक सुगमता से पहुँचा जा सकता है अतः भौतिक यज्ञ की पूर्ण प्रक्रिया का अवगाहन कर उन प्रक्रियाओं के प्रतीकार्थ जान लेने पर वैदिक ऋषियों द्वारा चिंतित प्राकृत विज्ञान को समझ लेना सरल हो जाता है। यज्ञ-सम्बन्धी विभिन्न सादृश्य-विधान स्पष्ट हुए से प्रतीत होने लगते हैं। 'यज्ञ पुरुष है हविर्धान इसका शिर, आहवनीय मुख, अग्नीध्रीय तथा मार्जालीय दोनों बाहु · · ' इत्यादि द्वारा यज्ञ का मानवीकरण प्रस्तुत किया गया है।[4] सृष्टि यज्ञ का सादृश्य-विधान भी दर्शनीय है। 'संवत्सर ही यजमान है, ऋतुएँ यज्ञ करवाती हैं, वसन्त अग्नीध्र है अतः वसन्त में दावाग्नि फैलती है। वह अग्निरूप है। ग्रीष्म ही अध्वर्यु है क्योंकि वह तप्त सा होता है। अध्वर्यु भी तप्त की तरह निष्क्रमण करता है। वर्षा उद्गाता है क्योंकि जोर से (स्वर करता हुआ) बरसता है। साम के समान उपशब्द होता है। शरद् ही ब्रह्मा है क्योंकि शस्य उसी से पकता है। प्रजा ब्रह्मवती है यह कहा जाता है। हेमन्त 'होता' है। वषट्कृत

1. ऋग्वेद, नासदीय सूक्त, 10, 129
2. म०म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, वैदिक विज्ञानम्, पृ० 83
3. गीता, 15, 14
4. श० ब्रा०, 3, 5, 3, 1; 3, 4, 4, 1

की तरह इसमें पशु कष्ट पाते हैं। ये ही देवता यजन कराते हैं।[1] इसी प्रकार शतपथ में वर्णित नभ यज्ञ का उदाहरण प्रस्तुत है—

'अभ्रं पुरीषं चन्द्रमा आहुतयः नक्षत्राणि समिधः यच्चन्द्रमा नक्षत्रे वसति आहुतिस्तत् समिधि वसति'...आदि[2]

शतपथ में यज्ञ को 'पांक्त' भी कहा गया है।[3] महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज[4] देवता, हविर्द्रव्य, मन्त्र, ऋत्विक् तथा दक्षिणा रूप यज्ञ के पाँच अंग होने के कारण यज्ञ का 'पांक्त' नामकरण मानते हैं किन्तु शतपथ ब्राह्मण में अन्य प्रकार से व्याख्या की गई है। यजमान यज्ञ को धारण करता है। यह धारणा मन से भी हो सकती है किन्तु इस मानसिक धारणा को प्रत्यक्ष प्रमाणगत बनाने हेतु शतपथ में यह प्रक्रिया (विधि) उत्पन्न की गई कि चावल को यजमान अंगुलियों से छुए तथा मन्त्र बोले 'यच्छतां पञ्चति' अर्थात् पाँचों इसे ले लें। पाँचों का अर्थ है पाँच अंगुलियाँ। इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप में यज्ञ धारण करवा लिया, अतः यज्ञ पांक्त है।[5]

शतपथ यज्ञ को देवों की आत्मा कहता है।[6] निरुक्तकार भी जब यह उल्लेख करता है कि वाणी का पुष्प यज्ञ है तथा फल देवता[7] तो इसी तथ्य की ओर इंगित करता है। शतपथ का प्रस्तुत कथन यज्ञ के दिव्यत्व को लक्षित करता है अतः यह भी कहा गया है कि मानवीय कार्य यज्ञ के लिए नाशकारक हैं।[8] मानवीय कार्यों से तात्पर्य यहाँ अनृत कार्यों से है क्योंकि शतपथकार ने प्रारंभ में ही मनुष्य को अमेध्य व अनृत माना है अतः यज्ञ मनुष्य को दिव्य प्रवृत्तियों की ओर ले जाने का साधन है। यज्ञ ही प्रकाश, दिन, देवता तथा सूर्य है।[9]

शतपथ के अनुसार यज्ञ इहलोक में साक्षात् ऐश्वर्य-रूप तथा परलोक

1. श० ब्रा०, 11, 2, 7, 32
2. वही, 10, 5, 4, 17
3. वही 1, 1, 2, 16
4. भारतीय संस्कृति और साधना, प्रथम खण्ड, पृ० 168
5. श० ब्रा०, 1, 1, 2, 16
6. वही, 9, 3, 2, 7
7. निरुक्त, 1, 6,
8. 'मानुषं ह ते यज्ञे कुर्वन्ति व्यृद्धं वै तत् यज्ञस्य', श० ब्रा०, 1, 4, 1, 35
9. श० ब्रा०, 1, 1, 2, 21

में स्वर्गप्राप्ति का साधन है।[1] देवों ने भी यज्ञ के द्वारा ही सब कुछ जीता था।[2] यज्ञ के द्वारा यजमान मृत्यु से ऊपर उठ जाता है। वेदी में स्थापित अग्नि ही प्रजापति है। प्रजापति एवं अग्नि दोनों ही यजमान के दैवी प्रतिरूप हैं। स्वयं प्रजापति का स्वरूप संवत्सर है तथा संवत्सर ही मृत्यु है अतः यज्ञ द्वारा यजमान मृत्युरूप होकर मृत्यु से ऊपर उठ जाता है।[3] शतपथ में श्रम एवं तप का महत्त्व पुनः पुनः दर्शाया गया है। असुरों पर देवों की विजय का मूल कारण उनका श्रम एवं तप था। श्रम एवं तप का यज्ञ भी प्रतीक है। शतपथ-प्रदत्त यज्ञ की परिभाषा के अनुसार श्रम का विस्तार ही जीवन है तथा श्रम को कुचलना मृत्यु अतः प्रत्यक्ष है कि यज्ञ के सिद्धांत को अधिगम्य बनाने के लिए यज्ञ की शतपथोक्त परिभाषा अत्यन्त सार्थक, व्यापक एवं व्यंजनापूर्ण है।

उक्त विवरण के आधार पर भौतिक यज्ञ ब्रह्माण्ड की रचना को वैज्ञानिक आधार पर प्रतीकात्मक शैली में समझाने का साधन है। सतत् क्रियाशील सृष्टि की उत्पत्ति-विद्या ही यज्ञ का मूल है, अतः भौतिक यज्ञ-प्रक्रिया को समझना आवश्यक है। जो यज्ञ संहिता काल में देवों की स्तुति का साधन मात्र समझा जाता था[4] उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयों पर तात्त्विक चिन्तन प्रस्तुत कर उसे परम साध्य या लक्ष्य बना देने का श्रेय शतपथ को है।

याज्ञिक अनुष्ठान

शतपथ ब्राह्मण की संरचना का सर्वांगीण हेतु 'यज्ञ' होते हुए भी यह यज्ञ-संस्था के क्रमिक स्वरूप का परिचायक ग्रंथ नहीं है। इसका मूल विषय याज्ञिक विधियों की तात्त्विक मीमांसा होने के कारण विभिन्न यज्ञों, उनके प्रयोजनों एवं यज्ञीय उपकरणों आदि का प्रासंगिक वर्णन मिलता है, अतः शतपथीय यज्ञानुष्ठानों की विवेचना से पूर्व यज्ञ-संस्था के स्वरूप को समझना अत्यावश्यक है।

वेदी में प्रज्वलित अग्नि में विभिन्न देवों के निमित्त हविष्य अथवा सोम रस की आहुति ही यज्ञ है। यज्ञाग्नि के दो स्वरूप हैं—स्मार्ताग्नि तथा श्रौताग्नि। इन अग्नियों में किए गए यज्ञ क्रमशः गृह्य एवं श्रौत यज्ञ कहलाते हैं।

1. श० ब्रा०, 1, 7, 1, 9; 1, 7, 3, 1
2. वही, 3, 1, 4, 3
3. राधाकुमुद मुकर्जी, हिन्दू सभ्यता, पृ० 118
4. ऋग्वेद, 1, 153, 17; 10, 30, 11; यजुर्वेद, 18, 25

गृह्य यज्ञ

गृह्य यज्ञ श्रौत यज्ञों की अपेक्षा सरल हैं। उपनीत व्यक्ति ही इन यज्ञों को करने का अधिकारी है। प्रत्येक विवाहित व्यक्ति के लिए स्मार्ताग्नि के स्थापन का आदेश है। गृह्य-यज्ञों को पाक-यज्ञ अथवा हौत्र भी कहा जाता है। औपासन होम, वैश्वदेव, पार्वण, अष्टका, मासिक श्राद्ध, श्रवण तथा शूलगव ये सात गृह्य-यज्ञ के अवान्तर प्रकार हैं। कतिपय गृह्य सूत्रों में सायं होम, प्रातर्होम स्थालीपाक, नवयज्ञ, वैश्वदेव, पितृ-यज्ञ तथा अष्टका भेद गिनाए गए हैं। शतपथ में यद्यपि इन अवान्तर प्रकारों में से कई का उल्लेख मिलता है, किन्तु मूलतः शतपथ का सम्बन्ध श्रौत यज्ञों से है।

श्रौत यज्ञ

विधिपूर्वक दीक्षा लेने के उपरान्त ही मनुष्य श्रौत यज्ञ का अधिकारी बनता है। अधिकारी व्यक्ति के लिए अग्न्याधान करना आवश्यक है जो पच्चीस से लेकर चालीस वर्ष तक की उम्र वाले सपत्नीक व्यक्ति ही कर सकते हैं। श्रौत अग्नि के चार स्वरूप स्थिर किए गए हैं—(1) गार्हपत्य, (2) आहवनीय, (3) दक्षिणाग्नि, (4) सभ्याग्नि।

उक्त अग्नियों में नाना होम द्रव्यों, आज्य, पृषदाज्य, पुरोडाश, चरु, सोम, सान्नाय्य, आमिक्षा, वाजिन्, करंभ, मन्थ, धाना आदि का प्रक्षेपण श्रौत यज्ञ कहलाता है। श्रौत यज्ञ के दो भेद हैं—हवि-संस्था तथा सोम-संस्था। शतपथ ब्राह्मण का प्रारंभ हविर्यज्ञों की विधियों से होता है। हविर्यज्ञ, जिसे इष्टि भी कहते हैं, के सात प्रकार हैं—(1) अग्निहोत्र, (2) अग्न्याधान, (3) दर्श, (4) पौर्णमास, (5) आग्रयण, (6) चातुर्मास्य, (7) पशुबन्ध—किन्तु लाट्यायन श्रौत सूत्र में दर्श तथा पौर्णमास को एक ही यज्ञ मानकर सौत्रामणी यज्ञ को भी सात हविर्यज्ञों में गणित किया है।[1] शतपथ के प्रथम काण्ड में दर्शपौर्णमास का पृथक् से विस्तृत विवरण है तथा द्वितीय काण्ड में अग्न्याधान, पुनराधेय, अग्निहोत्र, पिंडपितृयज्ञ, आग्रयणेष्टि, दाक्षायण तथा चातुर्मास्य इन सात हविर्यज्ञों का विवरण है। इस काण्ड को 'एकपादिका' नाम दिया गया है। उक्त हविर्यज्ञों में अग्निहोत्र प्रकृति यज्ञ है तथा अन्य यज्ञ इसकी विकृतियाँ हैं।

1. ला० श्रौ सू०, 5, 4, 10

श्रौत-यज्ञ की सोम-संस्था के भी सात अवान्तर भेद हैं—(1) अग्निष्टोम, (2) उक्थ्य, (3) षोडशी, (4) अतिरात्र, (5) अत्यग्निष्टोम, (6) वाजपेय, (7) आप्तोर्याम। सोम यज्ञों में त्रिविध अग्नि गार्हपत्य, दक्षिण एवं आहवनीय अनिवार्य हैं। इन यज्ञों में अग्नि में सोम रस की आहुति दी जाती थी। सोम का त्रिषवण होता है—प्रातः-सवन, माध्यंदिन-सवन तथा सायं-सवन। सवन कर्म के कारण सोम यज्ञों को 'सुत्या' भी कहा गया है। क्रतु एवं ज्योतिष्टोम भी सोम यज्ञों को ही कहा गया है। अग्निष्टोम अन्य सोम यज्ञों की प्रकृति है। सोम यज्ञों के कालजन्य भेद तीन हैं—

(1) एकाह=एक दिन में पूरा होने वाला यज्ञ।
(2) अहीन=दो दिनों से लेकर बारह दिनों तक चलने वाला यज्ञ।
(3) सत्र=तेरह दिनों से लेकर पूरे वर्षभर या अधिक चलने वाला यज्ञ।

उक्त श्रौत यज्ञों के अतिरिक्त शतपथ में प्रवर्ग्य, अग्निचयन, राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमेध, द्वादशाह, षडहयाग, अभिप्लव, विश्वजित् आदि अवान्तर यज्ञों का भी वर्णन मिलता है। श्रौत एवं गृह्य सूत्रों की उपर्युक्त गणना के अनुसार गृह्य एवं श्रौत यज्ञों की कुल संख्या 7+7+7=21 होती है। गोपथ ब्राह्मण भी यज्ञ को एकविंशति संख्या वाला कहता है किन्तु यह वर्गीकरण पवित्र संख्या की पूर्ति हेतु किया गया प्रतीत होता है। शतपथ में लगभग उक्त सभी यज्ञों का विवरण होते हुए भी प्रस्तुत वर्गीकरण का अभाव है। हविर्यज्ञों में अग्निहोत्र तथा सोम यज्ञों में अग्निष्टोम प्रकृति यज्ञ होने के कारण प्रारंभ में क्रमशः इनका ही वर्णन किया जाएगा।

अग्निहोत्र

शतपथ ब्राह्मण में अग्निहोत्र यज्ञ का निरूपण द्वितीय काण्ड में द्वितीय अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण से प्रारम्भ होता है। प्रातः-सायं अग्नि में दूध की आहुति प्रक्षिप्त कर, किया जाने वाला यज्ञ अग्निहोत्र है। इसमें गौण रूप में यवागू, तंडुल, दधि या घृत की आहुति का भी विकल्प है। इस यज्ञ को प्रातः सूर्योदय से पूर्व तथा सायंकाल सूर्यास्त के बाद सम्पन्न कर लेना चाहिए।[1] अग्निहोत्र करने वाले के घर सब देवता पहुँच जाते हैं। सूर्यास्त होने पर दी गई आहुतियाँ इन सभी प्रवेश किए हुए देवताओं को मिल जाती हैं तथा सूर्योदय से पूर्व आहुति देने का प्रयोजन यह है कि देवों को निर्गमन से पूर्व आहुति दे दी जाए अतः आचार्य आसुरि का कथन है कि सूर्योदय के पश्चात् आहुति देने

1. श० ब्रा०, 2, 3, 1, 4-5

वालों का अग्निहोत्र व्यर्थ जाता है।[1] इसीलिए शतपथ में सूर्य को ही अग्निहोत्र कहा गया है।[2] अग्निहोत्री को मृत्यु के पश्चात् भी अग्नि नष्ट नहीं करता अपितु माता-पिता के समान इसे नवीन जन्म दे देता है। प्रजापति ने आहुतियाँ देकर स्वयं को पुनः उत्पन्न कर लिया अतः अग्निहोत्री प्रजारूप में अपने को उत्पन्न करता है।[3] विजयलाभ, स्वर्गलोक-प्राप्ति एवं प्रजोत्पत्ति अग्निहोत्र के प्रयोजन हैं किन्तु प्रजोत्पत्ति का ही इस यज्ञ से विशेष सम्बन्ध है। मैत्रायणी संहिता में भी उल्लेख है कि प्रजापति ने अग्निहोत्र द्वारा सात ग्राम्य पशु व छः ऋतुएँ उत्पन्न कीं।[4] शतपथ में आरुणि का कथन है कि अग्निहोत्र गौ यह आकाश है; वत्स पवन हैं; अग्निहोत्र खाली धरती है; जो यह जानता है वह नष्ट नहीं होता।[5] याज्ञवल्क्य इसे पाक-यज्ञ (गृह्य-यज्ञ) के समान मानते हैं।[6] अन्य सब यज्ञ रुक जाते हैं लेकिन अग्निहोत्र वन्द नहीं होता। अग्निहोत्र के अनुष्ठान से प्राणी अपने सभी पापों से छूट जाता है (श० ब्रा० 2, 3, 1, 6)। यह यज्ञ यजमान को स्वर्ग ले जाने वाली नाव के सदृश है।[7] अग्निहोत्र प्रकृति यज्ञ होने के कारण अन्य यज्ञों की कल्पना का मूल उद्‌गम है। इसीलिए डाक्टर पोतदार यज्ञ के विकास को व्यष्टि से समष्टि की ओर बढ़ना मानते हैं।[8]

अग्न्याधान

शतपथ के द्वितीय काण्ड के प्रारंभ में ही अग्न्याधान को निरूपित किया गया है। सर्वप्रथम जल, सुवर्ण, ऊष (नमक) आखुकरीष (चूहों द्वारा निकाली हुई मिट्टी) तथा शर्करा (कंकड़) इन पाँचों संभारों का संभरण किया जाता है। यह इस यज्ञ की प्रारंभिक तैयारी है। देव तथा असुर जब यश-प्राप्ति हेतु स्पर्धा कर रहे थे तो वायु द्वारा उद्वेलित यह पृथिवी कमल-पत्र के समान काँप रही थी। यह कभी देवों के पास जाती कभी असुरों के पास। जब यह देवों के पास गई तो उन्होंने दोनों अग्नियों का आधान कर इसे अचल एवं दृढ़ बना लिया।

---

1. श० ब्रा०, 2, 3, 1, 9
2. सूर्यो ह वाऽअग्निहोत्रम्, वही, 2, 3, 1, 1
3. वही, 2, 2, 4, 7
4. मै० सं०, 1, 8, 4; 1, 8, 1
5. श० ब्रा०, 12. 4, 1, 11; तै० ब्रा०, 2, 1, 6
6. तदुहोवाच याज्ञवल्क्यः न वै यज्ञ इव मन्तवै पाक यज्ञ इव वा इति, 2, 3, 1, 21
7. नौर्ह वाऽएषा स्वर्ग्या। यदग्निहोत्रम्, वही, 2, 3, 3, 15
8. डॉ० पोतदार, सेक्रिफाइस इन द ऋग्वेद, पृ० 284

यही अग्न्याधेय का अग्न्याधेयत्व है।[1] इस प्रकार 'प्राण' रूप आहवनीय एवं गार्हपत्य अग्नियों का आधान ही अग्न्याधान है।[2] पृथिवीरूपी वेदी में इन अग्नियों का आधान किया जाता है। शतपथ के अनुसार कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, फल्गुनी, हस्त एवं चित्रा नक्षत्रों में अग्नि का आधान करना चाहिए।[3] कुछ याज्ञिक कृत्तिका एवं मृगशिरा नक्षत्र में अग्न्याधान करने का निषेध करते हैं किन्तु शतपथकार उनकी युक्तियों का खण्डन कर अग्न्याधान करने की अनुज्ञा देता है। वस्तुतः वैशाख मास की अमावस्या को अग्नि का आधान करना चाहिए क्योंकि यह अमावस्या रोहिणी नक्षत्र में पड़ती है। अग्न्याधेय का रूप अमावस्या ही है।। पौर्णमासी को पूर्वारंभ तो कर सकता है किन्तु दीक्षा अमावस्या को ही लेनी चाहिए।[4] इस यज्ञ में अग्नि-पवमान्, अग्नि-पावक, अग्नि-शुचि तथा आहिताग्नि आदि अग्नि के विभिन्न रूप निर्धारित हैं जिनके लिए यजमान अग्नि में आहुति देता है। आहिताग्नि द्वारा यजमान देवों का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है।[5] अग्न्याधान स्वतंत्र यज्ञ न होकर भी सब यज्ञों का आधारभूत अंग है अतः स्वतंत्र फल देने वाला है।[6] मूलतः इसका प्रयोजन शत्रु-विजयिनी शक्ति एवं अमरत्व प्राप्त करना है जैसा कि शतपथ में उपाख्यान द्वारा इंगित किया गया है। देव तथा असुर दोनों आत्मारहित एवं मर्त्य थे। परस्पर स्पर्धा में लग गए। इनमें केवल अग्नि ही अमर था। असुरों ने देवों को निर्बल कर दिया। तब देवों ने अचानक इस 'अमर' अग्न्याधेय को देखकर अन्तरात्मा में धारण किया और वे अमर हो गए।[7] अग्न्याधेय का उपचार सत्य है।[8] सत्यवादन घृत के समान है जिससे अग्नि प्रज्वलित रहता है। दिन-दिन अग्न्याधेयी का तेज बढ़ता है तथा उसका कल्याण होता है।

पुनराधेय

पुनराधेय का वर्णन शतपथ के द्वितीय काण्ड के द्वितीय अध्याय के केवल तृतीय ब्राह्मण में मिलता है। अग्न्याधान से फल-प्राप्ति न होने पर पुनराधेय यज्ञ

---

1. श० ब्रा०, 2, 1, 1, 8
2. वही, 2, 2, 2, 18
3. वही, 2, 1, 2, 1-13
4. वही, 11, 1, 1, 7
5. वही, 2, 6, 1, 37
6. वही, 2, 1, 2, 3
7. वही, 2, 2, 2, 8-14
8. वही, 2, 2, 2, 19

करने का आदेश है। इसे वर्षा ऋतु में दोपहर के समय सम्पन्न करना चाहिए, क्योंकि वर्षा जिस प्रकार सब ऋतुओं का प्रतीक है[1] तथैव दोपहर वर्षा का। दोपहर के समय ही सूर्य इस लोक के निकटतम रहता है। वरुण ने इस यज्ञ को राज्य की कामना हेतु सम्पन्न किया था तथा सोम ने यशप्राप्ति के लिए। त्वष्टा पुनराधेय द्वारा अग्नि के प्रिय धाम में प्रवेश कर गया था। समस्त ग्राम्य एवं आरण्य रूपों की स्थिति त्वष्टा में होने के कारण यह यज्ञ त्वष्टा के लिए किया जाता है। पुनराधेय यज्ञ आग्नेय है। अग्नि ऐसी ज्योति है जो पापों को जलाकर श्री एवं यश प्रदान करती है।[2] निष्कर्षतः श्री, यश, पुण्य एवं परंधाम की प्राप्ति ही इस यज्ञ का प्रयोजन है। मैत्रायणीसंहिता के अनुसार पशु, पुष्टि तथा प्रजा के इच्छुक भी पुनराधेय यज्ञ करते हैं।[3]

व्रीहि एवं यव के अपूप तथा पंचकपालपुरोडाश अग्नि के लिए तैयार किए जाते हैं। उपांशु (मौन) भाव से मन्त्र पढ़ कर हवियाँ डालना इस यज्ञ की विशेषता है। जो पुनराधेय यज्ञ करता है उसकी समृद्धि तथा यश इतना बढ़ता है कि लोग स्पृहा करने लग जाते हैं।

पिण्डपितृयज्ञ

शतपथ के उक्त काण्ड के चतुर्थ अध्याय का द्वितीय ब्राह्मण पिण्डपितृ यज्ञ का प्रकाशक है। पितरों के लिए किया गया यज्ञ पिण्डपितृयज्ञ कहलाता है। पृथक् इकाई के रूप में इस यज्ञ का होना यह प्रमाणित करता है कि तत्कालीन आर्यों की दृष्टि में पितरों एवं देवों के प्रति दो पृथक् भाव थे।[4] प्रकृति से गृह्ययज्ञ होते हुए भी यह शतपथ के श्रौतयज्ञों में वर्णित है, किन्तु प्रक्रिया में अन्तर नहीं है। प्रतिमास अमावस्या के दिन पितरों को भोजन देने का विधान है, जिसका नियमन प्रजापति ने किया था। शतपथ[5] में वर्णित है कि जीवन व्यतीत करने की विधि पूछने एक बार समस्त प्राणी प्रजापति के पास गए। प्रजापति ने देवों को यज्ञ-रूपी अन्न, अमृतत्व-रूपी बल एवं सूर्य-रूपी ज्योति दी। पितरों को मासिक भोजन, अन्न, मनोजव, स्वधा एवं

1. सभी ऋतुओं की समष्टि रूप 'वर्ष' शब्द वर्षा से ही बना है (श० ब्रा०, 2, 2, 3, 7)
2. वही, 2, 2, 3, 6
3. मै० सं०, 1, 7, 2, का० सं०, 8, 15
4. कीथ, रिलीजन एण्ड फिलोसोफी आफ द वेद, एण्ड उपनिषद्‌जस, भाग 2, पृ० 431 (1925).
5. श० ब्रा०, 2, 4, 2, 1

चन्द्रमारूपी ज्योति तथा मनुष्यों को सायं-प्रातः भोजन, मृत्युरूपी प्रजा एवं अग्निरूपी ज्योति प्रदान की। पशुओं को स्वच्छन्द विचरण का वर प्रदान किया। इसीलिए अमावस्या के दिन जब पूर्व और पश्चिम में चन्द्रमा दृष्टिगत नहीं होता है तब पितरों को भोजन दिया जाता है। चन्द्रमा की स्थिति में पितरों को भोजन देने पर देवों तथा पितरों में झगड़ा होने की संभावना रहती है।[1] अपराह्न में उन्हें भोजन देना चाहिए, क्योंकि पूर्वाह्न एवं मध्यंदिन क्रमशः देवों तथा मनुष्यों के हैं तथा अपराह्न पितरों का। अन्वाहार्य पचन (दक्षिणाग्नि) के उत्तर की ओर दक्षिणाभिमुख होकर यजमान चावल फटकता है। उन चावलों को पका कर बनते समय ही उनमें घी छोड़ा जाता है। अग्नि एवं सोम के लिए उस हविष्य की आहुति दी जाती है। अग्नि का भाग तो प्रत्येक यज्ञ का अनिवार्य अंग है किन्तु सोम को आहुति देने का कारण सोम का पितरों से सम्बद्ध देवता होना है। पितरों को हवि पहुँचाने के कारण प्रस्तुत यज्ञ का अग्नि 'कव्यवाहन' कहलाता हैं।[2] पिण्डपितृयज्ञ को करने वाला ब्रह्मतेज से समन्वित होता है। पितर घरों के रक्षक हैं अतः 'गृहान्नः पितरो दत्त' मन्त्र[3] द्वारा यजमान अपने पितरों से आशीर्वाद चाहता है। निष्कर्षतः इस यज्ञ में फलप्राप्ति की अपेक्षा पूर्वजों के प्रति श्रद्धा का भाव ही प्रेरक तत्त्व है, अतः इसे निष्काम यज्ञ कहा जा सकता है।

आग्रयणेष्टि

उक्त काण्ड के चतुर्थ अध्याय के तृतीय ब्राह्मण में आग्रयणेष्टि का निरूपण किया गया है। नवीन उत्पन्न अन्न द्वारा निर्मित पुरोडाश एवं चरु द्रव्यों द्वारा शरद् एवं वसन्त ऋतु में की गई इष्टि आग्रयणेष्टि कहलाती है। कहौड़कौषीतकि शतपथ में कहते हैं कि यह (नवान्न रूप) रस द्यावापृथिवी का है। हम देवों को आहुति देकर खावें, अतः आग्रयणेष्टि सम्पन्न किया जाता है।[4] किन्तु याज्ञवल्क्य ने एक उपाख्यान द्वारा यह प्रतिपादित किया है कि असुरों के कृत्य (टोने) आदि से ओषधियाँ विषमय न हों जाएँ, अतः यह यज्ञ किया जाता है। अन्न द्यावापृथिवी का रस होने के कारण, एककपाल पुरोडाश का द्यावापृथिवी के निमित्त विधान है तथा बारहकपाल पुरोडाश का इन्द्र तथा अग्नि

1. श० ब्रा०, 2, 4, 2, 7
2. 'अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा सोमाय पितृमते स्वाहा', यजुर्वेद, 2, 29
3. यजुर्वेद, 2, 32
4. श० ब्रा०, 2, 4, 3, 1

के लिए। अन्न को विष के प्रभाव से मुक्त करना ही इस इष्टि का प्रयोजन है। पहलौटा बछड़ा इस यज्ञ की दक्षिणा है। अग्निहोत्र तथा आग्रयणेष्टि में नये अन्न की आहुति ही दी जाती है।

दाक्षायण

दाक्षायणयज्ञ का विवरण शतपथ की विशेषता है। आग्रयणेष्टि-निरूपण के पश्चात् चतुर्थ ब्राह्मण में दाक्षायणयज्ञ की विधियों की व्याख्या की गई है।

दक्ष प्रजापति ने सबसे पहिले इस यज्ञ को प्रजा की कामनाहेतु सम्पन्न किया था अतः इसका नाम दाक्षायण यज्ञ पड़ा। कुछ लोग इसे वसिष्ठयज्ञ भी कहते हैं। प्रतीदर्शश्वैक्न देवभागश्रौतर्ष तथा दक्षपार्वति ने भी यह यज्ञ किया था। इन्होंने इस यज्ञ द्वारा सन्तान, वैभव, उच्च पद तथा राज्य प्राप्त किया। यह यज्ञ पूर्णमासी तथा अमावस्या को दो-दो दिनों में पूरा किया जाता है। दो के जोड़े का इस यज्ञ में विशेष महत्त्व है। अग्नि-इन्द्र, अग्निमित्रा-वरुण तथा अग्नि-सोम को जोड़े से पुरोडाश, सन्नाय्य पयस्या तथा वाजिन की आहुतियाँ दी जाती हैं।

चातुर्मास्य

द्वितीय काण्ड के अन्तिम दो अध्यायों में शतपथ में चातुर्मास्य का निरूपण किया गया है। चातुर्मास्य—जैसा कि इसके नाम से ही प्रकट है—प्रति चार मास में अनुष्ठेय होने के कारण 'पर्व वाला' यज्ञ है। वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध तथा शुनासीरीय इसके चार पर्व हैं। इन पर्वों का क्रमशः फाल्गुनी पूर्णिमा, आषाढ़ी पूर्णिमा, कार्त्तिकी पूर्णिमा तथा फाल्गुन शुक्ल प्रति-पदा को अनुष्ठान किया जाता था। वैश्वदेवयज्ञ के द्वारा प्रजापति ने अन्नाभाव में पुनः-पुनः नष्ट हो जाने वाली प्रजा के लिए दूधरूपी अन्न प्राप्त किया[1] अतः जो प्रजा (सन्तान) की कामना करता है वह वैश्वदेव हवि से यज्ञ करता है। वैश्वदेवयज्ञ में अग्नि, सोम, सविता, पूषा, सरस्वती तथा मरुतों (विशों) के लिए आठ या बारहकपाल पुरोडाश, चरु, पयस्या एवं वाजिन् की हवियाँ निर्देशित हैं। पहलौटी गौ इस यज्ञ की दक्षिणा है। वैश्वदेवयज्ञ करने वाला,

---

1. श० ब्रा०, 2, 5, 1, 6

राजा तथा नेता अग्नि की सहायता से चारों मासों को जीत लेता है। स्वयं अग्निरूप होकर अग्नि के सायुज्य एवं सालोक्य को प्राप्त होता है।[1] वरुण-प्रघासयज्ञ के लिए शतपथ में यह उपाख्यान दिया गया है कि वैश्वदेवयज्ञ द्वारा प्रजापति की प्रजा वरुण के जौ खा गई। वरुण ने प्रजा को पकड़ लिया। फलस्वरूप प्रजा सूज कर रोगी बन गई। प्राण एवं उदान के अतिरिक्त सब देव उन्हें छोड़ गए। प्रजापति ने इस हवि द्वारा प्रजा का उपचार किया, अतः इसे वरुणप्रघास कहते हैं।[2] जो सन्तान हो चुकी है तथा जो होने वाली है, उसे वरुण के जाल से मुक्त करने के लिए यह यज्ञ किया जाता है। प्राण एवं उदान-रूपी इन्द्र व अग्नि के लिए बारह कपालों में पुरोडाश तैयार किया जाता है। दोनों अग्नियों में पयस्या की आहुति दी जाती है। उत्तर की हवि वरुण देवता के लिए तथा दक्षिण की मरुतों के लिए नियत है। दोनों आहुतियों पर करीरफल डाले जाते हैं तथा एककपाल पुरोडाश 'कः' (प्रजापतिः) देवता के लिए तैयार होता है। वहीं पर 'जौ' के मेष एवं मेषी बनाए जाते हैं। मेष वरुण का पशु है, अतः प्रत्यक्ष ही वरुण के पाश से प्रजा को छुड़ा देता है।[3] इस प्रकार प्रजा (सन्तान) नीरोग एवं निर्दोष उत्पन्न होने लग जाती है। पुनः साकमेध यज्ञ किया जाता है। साकमेध आहुतियों के द्वारा देवों ने वृत्र को मारा था तथा उस विजय को प्राप्त किया था जिसका सुख वह वर्तमान में भोग रही है। इस प्रकार साकमेधयाजी यजमान अपने शत्रुओं तथा अहितैषियों को नष्ट कर देता है।[4] प्रस्तुत यज्ञ लगातार दो दिन चलता है। प्रथम दिन अनीकवत् अग्नि को अष्टकपालपुरोडाश समर्पित किया जाता है, दोपहर में सांतपन मरुतों को तथा सायंकाल गृहमेधी मरुतों को चरु प्रदान करते हैं। इसमें सोम तथा स्विष्टकृत अग्नि के लिए भी हवियाँ प्रदान की जाती हैं। दूसरे दिन प्रातः अग्नि-होत्र किया जाता है तथा पुनः सप्तकपाल पुरोडाश मरुतों को समर्पित किया जाता है।[5] तत्पश्चात् 'महाहवि' नामक कर्म किया जाता है। इस 'महाहवि' में अग्नि, सविता तथा इन्द्र के लिए आठ या बारह कपालों में पुरोडाश समर्पित किए जाते हैं तथा सोम, सरस्वती एवं पूषा के लिए चरु। इस 'महाहवि' में महेन्द्र तथा विश्वकर्मा को भी क्रमशः चरु तथा एककपाल पुरोडाश प्रदान

---

1. श० ब्रा०, 2, 6, 4, 5; 8
2. वही, 2, 5, 2, 1
3. वही, 2, 5, 2, 16
4. वही, 2, 5, 3, 1
5. वही, 2, 5, 3, 17; 20

किया जाता है। श्री एवं प्रजाति (ऐश्वर्य), जो देवों के पास इस समय हैं, उन्हें इसी यज्ञ से प्राप्त हुआ था। उक्त महाहवि के द्वारा देवों ने वृत्र को मारकर विजय प्राप्त की थी। संग्राम में जो वीर मारे गए थे तथा जो बाणविद्ध हुए थे उन्हें जिलाने तथा उनके बाण निकालने हेतु क्रमशः पितृयज्ञ एवं त्र्यंबकयज्ञ करने का विधान है जो साकमेध के अंगयाग हैं। पितृयज्ञ का वर्णन पहिले हो चुका है। त्र्यंबकयज्ञ रुद्र के लिए किया जाता है।[1] इसमें रुद्र के लिए एक-कपाल पुरोडाश निर्मित करने का विधान है। चूहा रुद्र का पशु है[2] तथा अम्बिका रुद्र की बहिन, अतः इस यज्ञ में अम्बिका एवं चूहा भी पुरोडाश का भाग ग्रहण करते हैं। कुमारी कन्याएँ वेदी के चारों ओर परिक्रमा करती हैं। भाग्य की अधिष्ठात्री अम्बिका[3] उन कन्याओं का भाग्य जगाती है। इस यज्ञ में जांघों को पीटते हुए मन्त्रोच्चारण कर वेदी की परिक्रमा का भी विधान है। इस प्रकार इस चातुर्मास्ययज्ञ को सम्पन्न कर घर जाकर यजमान पौर्णमासयज्ञ करता है क्योंकि पौर्णमास ही प्रतिष्ठित यज्ञ है[4] जबकि चातुर्मास्य क्लृप्त (विच्छिन्न) यज्ञ है। चातुर्मास्ययज्ञ-कर्ता का पुण्य कभी नष्ट नहीं होता तथा वह संवत्सर को जीत लेता है। संवत्सर का अर्थ है—पूर्ण; अतः अक्षय सुकृत की प्राप्ति ही चातुर्मास्य का प्रयोजन है।

चातुर्मास्य के उक्त तीन पर्वों द्वारा देवों को जिस 'श्री' की प्राप्ति हुई थी, वह 'शुनम्' कहलाती है तथा प्राप्त हुए संवत्सर का रस 'सीर' है। उक्त 'श्री' एवं 'रस' को ग्रहण कर वशवर्ती बनाने के लिए शुनासीरयज्ञ किया जाता है जो चातुर्मास्य की पूर्णाहुति सदृश है। इस यज्ञ में उत्तरवेदी की रचना, पृषद्-आज्य की आहुति एवं अग्नि-मंथन का निषेध किया गया है। शुनासीर्य पुरोडाश बारह कपालों वाला होता है। वायु के लिए दूध की आहुति एवं सूर्य के लिए एक-कपाल पुरोडाश की विधि भी संयुक्त है। श्वेत अश्व इस यज्ञ की दक्षिणा है। साकमेध यज्ञ करने वाले के लिए शुनासीर यज्ञ अवश्य करणीय है।[5] इस प्रकार चातुर्मास्य यज्ञ सम्पूर्ण संवत्सर को संवलित कर लेता है।

---

1. श० ब्रा०, 2, 6, 2, 3
2. संभवतः जन्य-जनक अभेद के कारण यही चूहा परवर्ती काल में गणपति का वाहन बना।
3. जनक-सुता सीता के गौरीपूजन का उत्स यह स्थल प्रतीत होता है। आज भी कुमारी कन्याएँ अनुरूप वर की प्राप्ति हेतु गौरी-पूजन कर पार्वती के मंदिर की परिक्रमा करती हैं।
4. श० ब्रा०, 2, 6, 2, 19
5. वही, 2, 6, 3, 10

शतपथ में कहा गया है कि चातुर्मास्ययाजी वैश्वदेव क्रिया द्वारा राजा तथा नेता 'अग्नि' की सहायता से चारों महीने जीत लेता है। वरुणप्रघास द्वारा राजा एवं नेता 'वरुण' की सहायता से तथा साकमेध द्वारा राजा एवं नेता इन्द्र की सहायता से शेष आठ महीनों को जीतता है; अतः जिस ऋतु में भी वह परलोक को जाता है परं धाम तथा परं गति को प्राप्त करता है।[1]

दर्शपूर्णमास

दर्शपूर्णमास यज्ञ का समग्र प्रयोजन पूर्ण वैदिक साहित्य में केवल शतपथ में ही वर्णित है। समस्त इष्टियागों की प्रकृतिरूप यह यज्ञ क्रमशः अमावस्या तथा पूर्णिमा को सम्पन्न किया जाता है। 'दर्श' में आग्नेयपुरोडाशयाग, इन्द्र देवताक दधिद्रव्यकयाग तथा इन्द्रदेवताक पयोद्रव्यकयाग, ये तीन याग होते हैं तथा पौर्णमासयज्ञ में अग्निदेवताक अष्टकपालपुरोडाशयाग, अग्निषोमीय आज्यद्रव्यक उपांशुयाग तथा अग्निषोमीय एकादशकपालपुरोडाशयाग, ये तीन याग हैं। इस प्रकार इन छः यागों की समष्टि ही दर्शपौर्णमास इष्टि है जिसकी विधियों का विस्तृत वर्णन शतपथ के प्रथम काण्ड की निधि है।

शतपथ के अनुसार अमावस्या तथा पूर्णिमा के दो अर्धमास, प्रजापतिपुत्र असुरों तथा देवों के दायभाग थे। चन्द्रमा को पूर्ण करने वाला पक्ष देवों को तथा क्षीण करने वाला पक्ष असुरों को मिला था। देवों ने पर्वद्वय पर इन यागों का अनुष्ठान करके असुरों के भाग को भी प्राप्त कर लिया।[2] पूर्णमास यज्ञ की हवियाँ चन्द्रमारूपी वृत्र को मारने वाली हैं तथा अमावस की हवियाँ साक्षात् वृत्रहत्या है[3] अतः इस यज्ञ का मूल प्रयोजन शत्रुनाश तथा फल, शत्रु के भाग की प्राप्ति है किन्तु प्रजा-प्राप्ति भी इसका प्रयोजन कहा गया है।[4] यह यज्ञ यजमान को अन्नदाता व अन्नभोक्ता बनाता है तथा मन व वाक् को समृद्धि प्रदान करता है।[5] यहाँ तक कि 'दर्श' को यज्ञ तथा स्वर्ग का प्रवेश-द्वार भी कहा गया है।[6]

---

1. श० ब्रा०, 2, 6, 4, 9
2. वही, 1, 7, 2, 22
3. वही, 1, 6, 4, 12; 11, 1, 3, 5
4. वही, 11, 1, 3, 7
5. वही, 11, 2, 4, 5-7
6. वही, 11, 1, 1, 1; तै० सं०, 1, 6, 9; 1, 7, 4

इस यज्ञ से पहले दिन उपवास रखने का विधान है जिसके बारे में शतपथ में आषाढ सावयस एवं याज्ञवल्क्य के मतभेदों का उल्लेख किया गया है। जल का स्पर्श करना, 'अग्ने व्रतपते' मन्त्र द्वारा सत्य बोलने का व्रत लेना तथा रात्रि में अग्नियों के पास भूमि पर सोना, शतपथ के अनुसार इस यज्ञ की पूर्व विधियाँ हैं तथा सूप, अग्निहोत्रहवणी, स्फ्य, कपाल, शमी, कृष्णमृगचर्म, ऊखल, मूसल, दृषद् तथा उपल ये दस यज्ञ के उपकरण संग्रहणीय हैं। वेदी में अग्नि प्रज्वलित करते समय ग्यारह सामिधेनी मन्त्रों के पढ़ने की विधि का निर्देश किया गया है।[1] अग्नि प्रज्वलित होने पर सबसे पहले मन एवं वाणी के लिए आहुतियाँ दी जाती हैं। उपांशु (मन्द स्वर में) आहुति मन के लिए तथा निरुक्त आहुति वाणी के लिए होती है।[2] पाँच ऋतुओं के प्रतीक प्रयाजमन्त्रों से भी यजन करने का आदेश है। देवों ने इन्द्र, अग्नि, अश्विन् तथा सरस्वती के लिए इस यज्ञ को समक्ष (पुरो) रखा (अदाशयत्)। इससे यज्ञ रोचक बना, अतः इसका नाम पुरोडाश पड़ा।[3] पुरोडाश की उक्त निरुक्ति के अनुसार दर्श एवं पूर्णमास दोनों यज्ञों में अग्नि के लिए आठ कपालों वाला पुरोडाश आवश्यक है क्योंकि अग्नि ही 'सर्व देवता' है। वह सर्वाधिक फल देने वाला है। देवों में सबसे अधिक मृदुहृदय है तथा मनुष्य के सर्वाधिक निकट है। इन्द्र ने पौर्णमासयज्ञ सम्पन्न करके श्री, यश तथा अन्न को प्राप्त किया था।[4] दर्शपौर्णमासयज्ञ अग्निहोत्र तथा चातुर्मास्यों की भाँति पर्व है क्योंकि अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास तथा चातुर्मास्य प्रजापतिरूपी संवत्सर के अंग के पर्व (जोड़) हैं। प्रजा उत्पन्न करने के बाद प्रजापति जब शिथिलांग हो गया तो उसके पर्व-पर्व दुखने लगे। अग्निहोत्र द्वारा यजमान उस प्रजापति की प्रातः-सायंरूपी संधियों का तथा चातुर्मास्य द्वारा ऋतुरूपी संधियों का उपचार करता है। उसी प्रकार दर्शपौर्णमासयज्ञ द्वारा उसकी पाक्षिक संधियों का उपचार कर परम पुण्य को प्राप्त करता है।[5]

सृष्टि सर्जनोपरान्त प्रजापति के शिथिलावयव होने सम्बन्धी प्रस्तुत शतपथीय उपाख्यान ही उस परवर्ती विचार का मूल है जिसके अनुसार महाभारतकार ने उक्त चार यज्ञों को ही धर्म का सनातन रूप माना है—

1. श० ब्रा०, 1, 4, 1 तथा 1, 4, 3
2. वही, 1, 4, 4, 1-6
3. वही, 1, 6, 2, 5
4. वही, 1, 6, 3, 15
5. वही, 1, 6, 3, 36

दर्शं च पौर्णमासञ्च अग्निहोत्रञ्च धीमतः।
चातुर्मास्यानि चैवासन् तेषु धर्मः सनातनः ॥[1]

अग्निष्टोम

अग्निष्टोम एकाह सोमयज्ञों की प्रकृति है। एकाह सोमयज्ञों में प्रातः, मध्यंदिन तथा सायंसवन की प्रक्रिया होती है।[2] इस यज्ञ का अन्तिम स्तोम अग्नि का साम मन्त्र 'यज्ञायज्ञा वो अग्नये'[3] होने के कारण यह अग्निष्टोम कहलाता है। बारह स्तोत्रों का प्रयोग इस यज्ञ की विशेषता है। प्रातःसवन के समय बहिष्-पवमान् तथा चार आज्यस्तोत्र, मध्यंदिनसवन के समय माध्यंदिन पवमान् तथा चार पृष्ठ्यस्तोत्र तथा सायंसवन के समय तृतीय पवमान् तथा अग्निष्टोम साम प्रयुक्त होते हैं। शतपथ में इन स्तोत्रों की उपमा पक्षी के शिर, पंख तथा पुच्छ आदि से दी गई है।[4] पशुबंध प्रत्येक सोमयज्ञ का अनिवार्य अंग है जिसका शतपथ (11, 7, 3, 8) में सोम सहित एवं सोम रहित पशु-बंध के रूप में उल्लेख मिलता है। यज्ञ की विभिन्न प्रकृतियों के अनुसार बलि-पशुओं की संख्या भिन्न-भिन्न रहती है। अग्निष्टोम में अन्य सोमयज्ञों को आदर्श प्रस्तुत करने हेतु अग्नि तथा सोम के निमित्त एक बलिपशु अज का विधान है। सम्पूर्ण यज्ञों पर स्वत्व स्थापित करना इस यज्ञ का प्रयोजन है जिसे देवों ने इस अनुष्ठान द्वारा प्राप्त किया था।[5]

उक्थ्य

उक्थ्य नामक स्तोत्र पर समाप्त होने के कारण यह यज्ञ उक्थ्ययज्ञ कहा जाता है। अग्निष्टोम के बारह स्तोत्रों के अतिरिक्त तीन स्तोत्र या शस्त्र इसमें अधिक प्रयुक्त होते हैं, अतः ये तीनों शस्त्र भी उक्थ्य ही कहे जाते हैं। अग्नि-ष्टोम यज्ञ में एक विशेष उक्थ्य-ग्रह का (सोमाभिषव) प्रातः एवं मध्यंदिनसवन के समय किया जाता है जिसे उक्थ्यों को उच्चरित करने वाले मुख्य तीन होत्रक बाँट लेते हैं। उक्थ्ययज्ञ में इसी ग्रह का सायंसवन के समय सोमाभिषव होता

---

1. महाभारत, शान्ति पर्व, 269, 20
2. एगलिंग, द शतपथ ब्राह्मण, भाग 3, इंट्रोडक्शन, पृ० 12
3. सामवेद, मन्त्र सं० 35 तथा ऋग्वेद, 6, 48, 1
4. श० ब्रा०, 10, 1, 2, 7
5. वही, 4, 2, 4, 11; 12

है।[1] अग्निष्टोम के एक बलिपशु के अतिरिक्त इस यज्ञ में इन्द्र तथा अग्नि के लिए एक अज का विधान है। इस प्रकार उक्थ्ययज्ञ के दो बलिपशु हैं।

षोडशी

उपर्युक्त पन्द्रह स्तोत्रों के अतिरिक्त षोडशी नामक स्तोत्र का प्रयोग होने के कारण यह यज्ञ षोडशी यज्ञ कहलाता है। सायणाचार्य के विचारानुसार कुल सोलह शस्त्रों का प्रयोग होने के कारण इसका नाम षोडशी यज्ञ है।[2] यह स्वतन्त्र याग नहीं है। अग्निष्टोम के सदृश इसका पृथक् अनुष्ठान न होकर यह केश-वपनीय अतिरात्र का अंग समझा जाता है।[3] उक्थ्ययज्ञ के दो बलिपशुओं के अतिरिक्त इस यज्ञ में इन्द्र के निमित्त तीसरे पशु मेष को भी सम्मिलित कर लिया गया है। इस यज्ञ में इन्द्र के लिए षोडशी नामक ग्रह का सोमाभिषवन किया जाता है।

अतिरात्र

षोडशी यज्ञ के साथ-साथ इस यज्ञ में एक अतिरिक्त रात्रि-अनुष्ठान किए जाने के कारण यह अतिरात्र यज्ञ कहलाता है। इस रात्रि-अनुष्ठान में चार-चार स्तोत्रों को तीन वार दुहराया जाता है तथा प्रत्येक दोहराव के अन्त में सोम की आहुति दी जाती है। भोर में संधिस्तोत्र या अश्विन् साम द्वारा यज्ञ की समाप्ति की जाती है।[3] इस प्रकार इसमें कुल 29 स्तोत्र होते हैं। कुछ विद्वान् षोडशी यज्ञ को अतिरात्र का अंग नहीं मानते हैं किन्तु इस यज्ञ में सरस्वती के लिए एक बलिपशु की वृद्धि से मेध्य पशुओं की संख्या चार हो जाने के कारण उक्त सिद्धांत का निराकरण स्वयं हो जाता है। कुछ ब्राह्मण अतिरात्र को 'एकाह' यज्ञ में न रखकर 'अहीन' मानते हैं[4] किन्तु एगलिंग की सम्मति में यह यज्ञ एकाह एवं अहीन के मध्य की कड़ीस्वरूप है। उपर्युक्त चारों सोमयज्ञों की समष्टि को ज्योतिष्टोम भी कहा गया है।[5]

---

1. श० ब्रा०, 4, 2, 3
2. द्रष्टव्य, तां० ब्रा०, 12, 13, 1 पर सायण-टिप्पणी
3. द्रष्टव्य, एगलिंग, द शतपथ ब्राह्मण, 4, 5, 3, 1 का फुटनोट तथा भाग तीन में इण्ट्रोडक्शन, पृ० 17, 18
4. तां० ब्रा०, 10, 10; ला० श्रौ० सू०, 9, 5, 6
5. श० ब्रा०, 10, 1, 2, 7; तै० ब्रा०, 1, 5, 11

अत्यग्निष्टोम

अत्यग्निष्टोम वह यज्ञ है जिसमें अग्निष्टोम के अनन्तर विना 'उक्थ्य' किए ही षोडशी का विधान किया जाता है। इसमें तेरह शस्त्र या स्तोत्र होते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें और अग्निष्टोम में कोई अन्तर नहीं है। वाजपेय से पूर्व होने वाले सोमयज्ञों की श्रेणी में शतपथ में इस यज्ञ का स्थान नहीं है अतः प्रोफेसर वेवर का मत है कि पवित्र संख्या 'सात' की पूर्ति के लिए यह परवर्ती प्रक्षेप मात्र है।[1]

आप्तोर्याम

आप्तोर्यामयज्ञ अतिरात्र का ही विवर्धित रूप है अतः इसे भी एकाह तथा अहीन दोनों प्रकार के यज्ञों में गिनाया गया है। वाजपेय तथा आप्तोर्याम दोनों यज्ञ पूर्वोक्त ज्योतिष्टोम समष्टि के आवाप एवं उद्वाप से निष्पन्न नवीन यज्ञ संस्थाएँ हैं अतः उक्त चारों यागों की विकृति है। इसमें षोडशीस्तोत्र, चार अतिरिक्त स्तोत्र या शस्त्र, अश्विनशस्त्र तथा सभी पृष्ठ्याओं का प्रयोग किया जाता है। दस दिन में सम्पन्न होने वाले सर्वमेध नामक सोमयज्ञ में सातवें दिन आप्तोर्यामयज्ञ का विधान है।[2]

वाजपेय

उक्त सोमयज्ञों की श्रेणी में वाजपेय का सम्बन्ध अतिरात्र तथा आप्तोर्याम की अपेक्षा षोडशी से है। षोडशीरूप के साथ-साथ यह सत्रहवाँ स्तोत्र तथा शस्त्र भी ले लेता है। अनेक विद्वानों ने इसे शरद् ऋतु में करणीययज्ञ कहा है। इस यज्ञ का स्वतंत्र रूप से अनुष्ठान करना भी विहित है तथा सर्वमेधयज्ञ के छठे दिन के रूप में भी।[3] इसमें एक सवन-दिवस कम से कम 13 दीक्षा-दिवस तथा तीन उपसद्-दिवस अर्थात् 17 दिन लेता है तथा एक वर्ष तक चल सकता है। 'षोडशी' के उक्त तीन बलिपशुओं के अतिरिक्त सरस्वती के लिए चौथे पशु का भी विधान है।[4] इसके अतिरिक्त विषाण रहित 17 बकरे प्रजापति

---

1. द्रष्टव्य, एगलिंग, द शतपथ ब्राह्मण, भाग 3, इण्ट्रोडक्शन, पृ० 17 पर फुटनोट में वेबर का मत।
2. श० ब्रा०, 13, 7, 1, 9
3. कीथ, वैदिक धर्म एवं दर्शन, भाग 2, पृ० 420
4. कीथ के अनुसार यह पशु मरुतों के लिए 'पृषती गौ' हैं। (वही, पृ० 420)

के लिए और संयुक्त कर दिए जाते हैं। वाजपेययज्ञ का सर्वाधिक रोचक कृत्य है रथों की दौड़, जिसमें यज्ञकर्ता को विजेता बनाकर खुशी में सत्रह ढोल बजाए जाते हैं। यज्ञकर्ता अपनी पत्नी के साथ सीढ़ी के द्वारा यूपारोहण की विधि भी सम्पन्न करता है।

सोमयज्ञों के विविध रूपों की प्रतिकृति होने के कारण वाजपेययज्ञ विद्वानों के लिए वाद-विवाद का विषय रहा है। निर्वचन की दृष्टि से ओल्डेनबर्ग के अनुसार यह शक्ति का पेय है।[1] डॉ० अग्रवाल[2] भी 'वाज' का अर्थ स्फूर्ति, वेग, शक्ति, प्राण तथा वीर्य करते हैं। स्वयं शतपथ में 'वाज' को एक स्थान पर 'वीर्य' कहा गया है[3] किन्तु अन्यत्र शतपथ स्पष्ट ही इसे अन्नपेय कहता है।[4] सायण के अनुसार देवों का अन्नरूप सोम ही जिस यज्ञ में पेय है वह वाजपेय-यज्ञ है किन्तु अन्न शक्ति का भी प्रतीक है, अतः मूल अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता। कुछ ग्रन्थ राजसूययज्ञ को वाजपेय से बढ़कर मानते हैं।[5] शतपथ का विचार भिन्न है। यजमान राजसूय को सम्पन्न कर राजा बनता है, जबकि वाजपेय से वह सम्राट्-पद प्राप्त करता है। निश्चय ही राजा सम्राट् से घट कर है, अतः वाजपेय अपेक्षाकृत श्रेष्ठ है।[6] वाजपेय, ब्राह्मण का अपना यज्ञ है।[7] ब्रह्मरूप बृहस्पति ने इसका अनुष्ठान किया था, यह तथ्य भी इसकी श्रेष्ठता का प्रतिपादक है। मैत्रायणीसंहिता में भी उल्लेख है कि स्वराज्य-कामी ब्राह्मण या राजन्य ही इस यज्ञ का अनुष्ठान करे।[8] हिलेब्राण्ट के अनुसार गत वैभव को लौटाने के इच्छुक को वाजपेययज्ञ करना चाहिए।[9] डॉ० कीथ इस यज्ञ का प्रयोजन उच्च वैभव तथा उच्चतम ध्येयों की प्राप्ति मानते हैं।[10] शतपथ के अनुसार वाजपेय-याजी औपाविजानश्रुतेय के समान उच्च लोक को प्राप्त करता है। वह पृथिवी पर सब कुछ प्राप्त कर लेता है क्योंकि वह प्रजापति को पा लेता

---

1. ओल्डेनबर्ग, रिलीजन देस वेद, पृ० 470 (अंग्रेजी अनुवाद)
2. डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल, उरु ज्योति, पृ० 58 : 'वीर्य रूप वाज को भीतर ही भीतर पचाकर ओज में परिवर्तित करने की विधि वाजपेय है'।
3. श० ब्रा०, 3, 3, 4, 7
4. वही, 5, 1, 3, 3
5. तै० ब्रा०, 2, 7, 7, 1; मैक्डॉनल व कीथ, वैदिक इण्डैक्स, भाग 2, पृ० 256
6. श० ब्रा०, 5, 1, 1, 13
7. वही, 5, 1, 1, 11
8. मै० सं०, 1, 11, 5
9. तै० सं० (अंग्रेजी अनुवाद), पृ० 109
10. वैदिक धर्म एवं दर्शन, भाग 2, पृ० 421

है।[1] शतपथ (6, 6, 1, 1) में राजसूय तथा अश्वमेध के साथ वाजपेय, सोमयज्ञों में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। वाजपेय का सम्बन्ध बृहस्पतिसवयज्ञ से भी है (शतपथ 5, 2, 1, 19) अतः कात्यायन (14, 1, 2) के अनुसार वाजपेययज्ञकर्ता को पन्द्रह दिन पूर्व या पश्चात् बृहस्पतिसवयज्ञ अवश्य करना चाहिए।

राजसूय

शतपथ के पूर्वोक्त मत के अनुसार राजसूय वाजपेय से महत्त्व में घट कर है फिर भी इस सोमयज्ञ की प्रक्रिया अति सुदीर्घ एवं जटिल है। शतपथब्राह्मण के पाँचवें काण्ड के द्वितीय अध्याय से इसका विवरण प्रारंभ होता है। इसके सम्पन्न होने में लगभग दो वर्ष की अवधि समाप्त हो जाती है। श्रौतसूत्रों के अनुसार इस यज्ञ में सात विशेष सोमयज्ञों का संयोजन होता है जिनमें सभी से सम्बन्धित विधियों का विवरण शतपथ में मिलता है।[2] ये सात यज्ञ निम्न हैं—

(1) पवित्र अग्निष्टोम
(2) अभिषेचनीय उक्थ्य
(3) दशपेय अग्निष्टोम
(4) केश-वपनीय अतिरात्र
(5) व्युष्टि-द्विरात्र
(6) अग्निष्टोम एवं अतिरात्र
(7) क्षत्र-धृति अग्निष्टोम

इनके अतिरिक्त चातुर्मास्य, दर्शपूर्णमास तथा रत्निनांहवींषि नामक हवियों का भी विधान है। रत्निनांहवींषि नामक हवियाँ रत्नियों के घरों में जाकर दी जाती थीं[3] जो जन-प्रतिनिधित्व की प्रतीकात्मक हवियाँ थीं। सत्रह प्रकार के जल एकत्रित कर प्रयुक्त किए जाते थे।[4] अक्ष-क्रीड़ा भी प्रस्तुत यज्ञ का अनिवार्य अंग है।[5] इस यज्ञ का अन्त सौत्रामणीयज्ञ से होता था। राजसूययज्ञ का सम्बन्ध वरुण या इन्द्र के अभिषेक से होने के कारण इसका प्रयोजन राज्य-प्राप्ति है। राजसूय से यजन करने पर यज्ञकर्ता राजा बनता है। यज्ञकर्ता स्वयं में क्षत्रत्व एवं ब्रह्मत्व का आधान करने के प्रयोजन से क्रमशः इन्द्र तथा अग्नि का यजन करता है।[6] राजसूय यज्ञ करने वाले से भयभीत होकर समस्त पृथिवी उसकी वशवर्तिनी हो जाती है। उस पर अभिचार करने वाला स्वयं उसी अभिचार का

---

1. श० ब्रा०, 5, 1, 1, 5; 3; 8
2. वही, 5, 3, 3, 1; 5, 4, 5, 1; 5, 5, 3, 2 इत्यादि
3. वही, 5, 3, 1, 1
4. वही, 5, 3, 4, 22
5. वही, 5, 3, 1, 10
6. वही, 5, 1, 1, 12; 5, 2, 3, 8; 9, 3, 4, 8

शिकार होकर नष्ट हो जाता है। राजसूययाजी सभी यज्ञों का फल प्राप्त कर सर्वोत्कृष्ट बन जाता है।[1]

अश्वमेध

अश्वमेध 'अहीन' सोमयज्ञ है। इसमें सोम का सवन तीन दिन होता है।[2] शतपथ के तेरहवें काण्ड में इसकी विधियों का सविस्तर विवरण उपलब्ध है। प्रथम दिन अश्व का वरण (चुनाव) होता है तथा प्रथम ब्रह्मोदन-पाक तैयार किया जाता है। राजा, उसकी चार पत्नियाँ तथा सैकड़ों अनुचरियाँ एकत्रित होते हैं। दूसरे दिन अश्व को बाँध कर उसका प्रोक्षण किया जाता है। स्तोकीय, प्रक्रम तथा धृति आदि हवियाँ दी जाती हैं।[3] ब्राह्मण एवं राजन्यवीणावादक वीणा बजाते हैं। दीक्षा के समय वैश्वदेव तथा औदग्र-भण हवियाँ दी जाती हैं।[4] चातुरक्ष कुत्ते का वध कर उसे अश्व की टाँगों में फेंक दिया जाता है।[5] सैकड़ों राजकुमारों तथा योद्धाओं के संरक्षण में वह अश्व वर्ष-भर घूमने के लिए छोड़ दिया जाता है। अश्व की अनुपस्थिति में 'परिप्लव' नामक उपाख्यान वर्षपर्यन्त सुने जाते हैं। अश्व के लौटने पर तीन सवनों में यज्ञ सम्पन्न होता है जिनमें प्रथम एवं द्वितीय सवन क्रमशः अग्निष्टोम एवं उक्थ्य होते हैं। वैशाख की पूर्णिमा को प्रथम सवनदिवस प्रारंभ होता है।[6] द्वितीय सवन की विभिन्न क्रियाओं में एक महिषी का अश्व संगमन है जिसका प्रतीकार्थ भाष्यकारों ने अश्वरूपी राष्ट्र[7] से महिषीरूपी श्री का संयुक्त होना लिया है।[8] अश्व, गोमृग तथा तूपर अज में से अश्व की बलि दी जाती है जिसके साथ सैकड़ों वन्य एवं ग्राम्य बलिपशु एकत्रित रहते हैं जिन्हें मुक्त कर दिया जाता है। (कीथ, वही, पृष्ठ 429), (श० ब्रा० 13, 6, 2, 1)। कात्यायनश्रौतसूत्र अश्वमेधयज्ञ को प्रत्येक राजा के लिए अनुष्ठेय मानता है किन्तु आपस्तंब के मत में एकछत्र सार्वभौम सम्राट् ही इस यज्ञ को करने का

---

1. श० ब्रा०, 5, 4, 1, 1; 5, 4, 3, 20; 5, 4, 2, 4
2. आप० श्रौ० सू०, 20
3. श० ब्रा०, 13, 1, 3, 1-5; 13, 1, 4, 3
4. वही, 13, 1, 7, 1; 4
5. वही, 13, 1, 2, 9
6. कीथ, वदिक धर्म एवं दर्शन, भाग 2, पृ० 426
7. श० ब्रा०, 13, 5, 2, 9
8. वही, 13, 2, 2, 16

अधिकारी है।[1] शतपथ में भी उल्लेख है कि शक्ति-सम्पन्न राजा ही इस यज्ञ को करे अन्यथा अधिक शक्ति-सम्पन्न द्वारा अश्व पकड़ लिए जाने पर यज्ञभंग का पाप लगेगा। अश्वमेध सभी यज्ञों का राजा है।[2] सभी यज्ञों में ऋषभ है (13, 1, 2, 2)। अश्वमेध ही यह आदित्य है (9, 4, 2, 18)। अग्निहोत्र की प्रातःसायं की चार आहुतियों को अश्व के चार पैर तथा दर्शपूर्णमास इष्टियों को प्रथम व द्वितीय चरण बताकर इस सनातन यज्ञसमष्टि को भी अश्वमेध रूप ही कहा गया है।[3] अश्वमेधयज्ञ, ग्रीष्म में अनुष्ठान करने पर क्षत्रिय का तथा वसन्त में करने पर ब्राह्मण का माना जाता है।[4] अश्वमेध की निर्वचनात्मक व्याख्या करते हुए शतपथकार कहता है कि प्रजापति ने कामना की कि मेरा शरीर मेध्य बन जाए। यज्ञीय अश्व उससे संयुक्त हो गया। वह मेध्य बन गया।[5] यही कारण है कि अश्व को प्राजापत्य कहा जाता है।[6] शतपथ में अश्वमेधयज्ञ की महिमा का प्रदर्शन उस कथन द्वारा होता है जहाँ यह कहा गया है कि अश्वमेधयाजी यजमान अपने समस्त पाप-कर्मों से, यहाँ तक कि ब्रह्म-हत्या के पाप से भी मुक्त हो जाता है तथा सभी दिशाओं व भुवनों को जीत लेता है।[7]

पुरुषमेध

पुरुषमेध तथा सर्वमेध दोनों यज्ञों का आधार अश्वमेध है। शांखायन श्रौतसूत्र (16, 10, 2) 'सर्वमाश्वमेधिकम्' कह कर इस यज्ञ का अश्वमेध के सदृश विधान बताता है। शतपथ (13, 6, 1, 1) के अनुसार यह यज्ञ पंचरात्र अर्थात् पाँच सवन-दिवस वाला है किन्तु दीक्षा के तेईस दिन, उपसद् के बारह दिन तथा पाँच सवन-दिवस मिलाकर यह चालीस दिनों में सम्पन्न होता है। पाँच सवन-दिवसों का यज्ञ-क्रम क्रमशः अग्निष्टोम, उक्थ्य, अतिरात्र, उक्थ्य तथा अग्निष्टोम है।[8] अश्वमेध के द्वितीय सवन के दिन के मेध्य तीन पशुओं—

---

1. चिन्न स्वामी, यज्ञतत्वप्रकाश, पृ० 115
2. श० ब्रा०, 13, 2, 2, 1
3. वही, 11, 2, 5, 1-5
4. वही, 13, 4, 1, 2
5. वही, 10, 6, 5, 7
6. वही, 6, 5, 3, 9 : 'प्राजापत्यो वा अश्वः'
7. वही, 13, 1, 2, 3; 13, 5, 4, 1
8. वही, 13, 6, 1, 8

अश्व, गोमृग तथा तूपर अज[1] के साथ इस यज्ञ में पुरुष को भी संयुक्त कर दिया जाता है। पुरुष-बलि का विषय विवेचनीय है। शतपथकार कहता है कि यतः इस यज्ञ में मेध्य पुरुषों को पकड़ा या प्राप्त किया जाता है, अतः यह पुरुषमेध कहलाता है।[2] यहीं पर यह भी कहा गया है कि ये लोक ही 'पूः' हैं तथा जो इसमें पवन करता है (पवते) वही पुरुष है। वही इस पुरी में लेटा है अतः पुरुष है तथा इन लोकों में स्थित अन्न ही इसका मेधस् है अतः यह यज्ञ पुरुषमेध है। शतपथ की प्रस्तुत व्याख्या स्पष्टतया प्रतीकात्मकता की ओर इंगित करती है। एक सौ छियासठ या एक सौ चौरासी मनुष्यों की ग्यारह यूपों पर बलि[3] केवल प्रतीकात्मक रूप में ही सम्भव है। शतपथ में प्रयुक्त 'आलभते' क्रिया का अर्थ प्राप्त करना या पकड़ना है जैसा कि एगलिंग महोदय भी स्वीकार करते हैं।[4] वेबर तथा हिलेब्राण्ट आंशिक रूप में नर-बलि को स्वीकार करते हैं।[5] उन्हीं का अनुकरण कर कतिपय पुरातात्विक आधारों का उल्लेख करते हुए जी० आर० शर्मा भी पुरुष-बलि की वास्तविकता से सहमत हैं किन्तु शतपथब्राह्मण में कहीं भी मनुष्य के वास्तविक वध का वर्णन नहीं है।[6] सभी मेध्य पुरुष प्रतीकात्मक अनुष्ठान के पश्चात् मुक्त कर दिए जाते थे।[7] अश्वमेध में अश्व के आलभन तक को शतपथ प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत करता है।[8] पुरुषमेध की विधियों में ऋग्वेद के पुरुषसूक्त की भावना का संयुक्त होना भी इस यज्ञ की प्रतीकात्मकता को प्रमाणित करता है।[9] पुरुषनारायण ने इच्छा की कि मैं सर्वोपरि हो जाऊँ। उसने इस पचरात्रयज्ञ 'क्रतुः' को देखा तथा यजन किया। फलस्वरूप वह सब भूतों में 'अत्यतिष्ठ' बन गया।[10] स्पष्ट ही इस यज्ञ का प्रयोजन सर्वोपरिता की प्राप्ति है। तीनों लोकों तथा दिशाओं पर विजय प्राप्त कर पुरुषमेधयाजी सब कुछ प्राप्त कर लेता है। शतपथ

---

1. श० ब्रा०, 13, 2, 2, 2
2. 'अथो यदस्मिन् मेध्यान् पुरुषानालभते तस्माद्वेवपुरुषमेधः'। (वही, 13, 6, 2, 1)
3. श० ब्रा०, 13, 6, 2, 4; वाजसनेयी संहिता, 30, 5, 22
4. एगलिंग, द शतपथ ब्राह्मण, भाग 5, पृ० 407, फुटनोट
5. जी० आर० शर्मा, एक्सकेवेशन्स ऐट कोशाम्बी, पृ० 117 पर द्रष्टव्य हिलेब्रांट तथा वेबर के विचार।
6. कीथ, वैदिक धर्म एवं दर्शन, भाग 2, पृ० 430
7. जे० ए० एस० बी० (1876), पृष्ठ 103
8. श० ब्रा०, 11, 2, 5, 4
9. वही, 13, 6, 2, 12
10. वही, 13, 6, 1, 1

(13, 6, 2, 20) में कहा गया है कि राजा पुरुषमेधयज्ञ सम्पन्न कर अपना सर्वस्व त्याग कर परिव्राजक भी बन सकता है। कीथ (वही, पृष्ठ 430) इस यज्ञ को परवर्ती मानते हैं, किन्तु ऋग्वेद की भावना से ओतप्रोत प्रतीकात्मक पुरुष-मेधयज्ञ को मूलतः प्राचीन मानना अधिक युक्तियुक्त है।

सर्वमेध

पुरुषमेध यदि 'पंचरात्र' है तो सर्वमेध 'दशरात्र' यज्ञ, अर्थात् दस सवन-दिवसों वाला। दस दिनों में क्रमशः अग्निष्टोम, इन्द्रस्तुत-उक्थ्य, सूर्यस्तुत-उक्थ्य, वैश्वदेव, आश्वमेधिक, पौरुषमेधिक, आप्तोर्याम, त्रिनव, त्रयस्त्रिंश तथा सर्वपृष्ट-अतिरात्र यागों का अनुष्ठान होता है (शतपथ 13, 7, 1, 3-12)। प्रस्तुत यज्ञ का सम्बन्ध भी ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में वर्णित पुरुष की आत्माहुति से है। स्वयंभू ब्रह्मा ने तपस्या की। उसने सोचा कि तप तो अनन्त है अतः मैं तो 'भूतों' में स्वयं की आहुति तथा स्वयं में 'भूतों' की आहुति दूंगा।[1] इस प्रकार उसने सर्वमेध द्वारा श्रेष्ठत्व, स्वराज्य एवं आधिपत्य को प्राप्त किया। शतपथ के उक्त विवरण के आधार पर हिलेब्राण्ट सर्वमेध यज्ञ को उस प्रथा का नमूना मानते हैं जिसके माध्यम से राजा लोग बुद्ध की तरह राजकीय जीवन का परित्याग कर, तापसजीवन ग्रहण कर लेते थे[2], किन्तु इस प्रकार की कल्पना के लिए शतपथ कोई अवकाश प्रदान नहीं करता है। कीथ भी इस विचार से ही सहमत है कि सर्वमेध यज्ञ का आधार मिथॉलॉजी तथा पुरोहितों की कल्पना की उड़ान है।

2013 सौत्रामणी

सौत्रामणीयज्ञ के दो प्रकार हैं—प्रथम कौकिली सौत्रामणी (आश्व० श्रौ० सूत्र, 3, 9, 9), द्वितीय चरक सौत्रामणी। शतपथ के पंचम काण्ड में राजसूय-यज्ञ के अन्त में वर्णित चरकसौत्रामणीयज्ञ का सम्बन्ध चरकाध्वर्युओं की विधि से है। सूत्र ग्रंथों ने इस यज्ञ को हविर्यज्ञों में वर्गीकृत किया है। शतपथ (12, 7, 3, 21) में भी इसे इष्टि तथा पशुबन्ध दोनों बताया गया है किन्तु शतपथ इसके सोमयज्ञ के स्वरूप पर अधिक बल देता प्रतीत होता है—

'स वा एष प्रत्यक्षात् सोमयज्ञ एव। यत् सौत्रामणी।'[3]

---

1. श० ब्रा०, 13, 7, 1, 1
2. कीथ, वैदिक धर्म एवं दर्शन भाग 2, पृ० 432
3. श० ब्रा०, 12, 8, 2, 21

यही कारण है कि यह याग अग्निचयन यज्ञ का भी अनिवार्य अंग रहा है। इस यज्ञ का आधार शतपथ का एक उपाख्यान है जिसके अनुसार त्वष्टा-पुत्र त्रिशीर्ष की हत्या करने के बाद क्रुद्ध त्वष्टा द्वारा सोम वंचित किए जाने पर इन्द्र ने त्वष्टा के यज्ञ को नष्ट कर सारा सोम पी लिया। वमन तथा रेचनप्रक्रिया द्वारा सोम निःसरण के कारण इन्द्र क्षीण हो गया। देवों ने अश्विनौ तथा सरस्वती से इस रोग का उपचार करवाया। इस यज्ञ में इन्द्र की पाप-रूप मृत्यु से सम्यक् रक्षा की गई (सुत्रातम्)। यही सौत्रामणी का सौत्रामणीत्व है।[1] इस यज्ञ का यजमान इन्द्र ही है; देवता भी सुत्रामन् इन्द्र, अश्विनौ तथा सरस्वती हैं जिनके लिए क्रमशः ऋषभ, अज तथा मेष बलिपशु हैं। रोगोपचार से सम्बद्ध होने के कारण ही यह चरक सौत्रामणी यज्ञ है। राजसूय के अन्त में इसके अनुष्ठान का उद्देश्य भी प्रस्तुत यज्ञ में अधिक सोमपान से उत्पन्न विकारों का शमन ही है। मैत्रायणीसंहिता में पुराने रोगियों द्वारा इस यज्ञ के अनुष्ठान का आदेश है।[2] सौत्रामणीयज्ञकर्ता सौ वर्ष की आयु पूर्ण कर लेता है।[3] क्षीण यजमान के आरोग्यहेतु पयोहविस्वरूप पृथक्-पृथक् उत्पवनमन्त्र दिए गए हैं।[4] किसी एक यज्ञ का अनुष्ठान करने पर प्रजापति जब रिक्त हो जाता है तो सौत्रामणी-यज्ञ द्वारा ही परिपूर्ण होता है।[5] हिलेब्राण्ट[6] का अनुमान है कि प्रस्तुत यज्ञ आर्येतर प्रभाव को ग्रहण किए हुए है किन्तु किसी भी महत्त्वपूर्ण साक्ष्य द्वारा पुष्ट न होने के कारण यह मत ग्राह्य नहीं है। सौत्रामणीयज्ञ से 'पुरुष' की उत्पत्ति का वर्णन स्पष्ट ही इसे ऋग्वेद की पुरुष-यज्ञ परम्परा से संयुक्त कर देता है। शतपथब्राह्मण में सौत्रामणीयज्ञ से उत्पन्न पुरुष के शरीर के विविध घटक यज्ञ की वस्तुओं से समीकृत किए गए हैं।[7] तथा यह कहा गया है कि इस प्रक्रिया को समझ कर यजन करने वाला स्वर्ग को भी जीत लेता है।

प्रवर्ग्य

सोमयज्ञों के साथ अनिवार्य रूप से संयुक्त[8] 'प्रवर्ग्य' नामक याग को उपसद्

---

1. श० ब्रा०, 12, 7, 1, 14
2. मै० सं०, 2, 4, 1
3. श० ब्रा०, 12, 7, 3, 16
4. वही, 12, 7, 3, 9
5. वही, 12, 8, 2, 1
6. वैदिशे मिथॉलॉजी, भाग 1, पृ० 250
7. श० ब्रा०, 12, 9, 1, 1; 17
8. वही, 14, 1, 1, 17; 18; 21

विधि के साथ अनुष्ठान करने का आदेश शतपथब्राह्मण में उपलब्ध है। उपसद् यदि यज्ञ की ग्रीवा है तो प्रवर्ग्य शिर।[1] यह भी कहा गया है कि प्रथम बार सोमयज्ञ करने वाले को प्रवर्ग्य का अनुष्ठान नहीं करना चाहिए।[2] श्री, यश तथा अन्न की इच्छा वाले देवों ने निश्चय किया कि श्रम, तप, श्रद्धा तथा आहुतियों द्वारा जो भी यज्ञ की पूर्णता को पहले प्राप्त कर लेगा, वह हम में श्रेष्ठ होगा। विष्णु ने सारा यश स्वयं ही देवों ने ले लिया। उसे घेर लिया। तब विष्णु ने अकेले ही धनुष लेकर सामना किया। धनुष की प्रत्यञ्चा से निःसृत बाणों ने यज्ञ-रूप-विष्णु का शिर काट कर उछाल दिया। यह छिन्न सिर ही प्रवर्ग्य है।[3] यज्ञ का शिर होने के कारण ही यह प्रत्येक यज्ञ से संयुक्त है। इसमें अश्विनों को गरम दूध (घर्म) दिया जाता है। तप्त घृत तथा आज्ययुक्त महावीर पात्र में दूध को मिलाना प्रवृंजन कहलाता हैं अतः इस प्रक्रिया के कारण ही यह 'प्रवर्ग्य' याग है।[4] इसे घर्म, महावीर तथा सम्राट् भी कहते हैं। प्रवर्ग्ययाजी आदित्य का भी यजन कर लेता है क्योंकि यह तपने वाला सूर्य भी घर्म ही है।[5] शतपथ (14,3,2) में प्रवर्ग्य को संवत्सर, सर्व, लोक, देवता, यजमान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबंध तथा सोम सब कुछ कहा गया है। वस्तुतः सभी यज्ञों के फलों की पूर्णता से प्राप्ति करवाना ही इसका मुख्य प्रयोजन है। डॉ० कीथ महावीरपात्र को सूर्य का तथा दूध की उष्णता को सूर्य-ताप की शक्तिमत्ता का प्रतीक मानते हैं तथा उनके विचारानुसार यजमान की शक्तियों का पुनर्नवीकरण ही इसका प्रयोजन है।[6]

अग्निचयन

अग्नि प्रज्वलित करने के लिए वेदी की इष्टकाओं का चयन ही अग्निचयन कहलाता है। प्रत्येक सोमयाग का आवश्यक कृत्य होते हुए भी शतपथ इसे पृथक् यज्ञ के रूप में निरूपित करता है जिसका समर्थन सूत्रग्रन्थ भी करते हैं।[7] अत्यन्त प्रपञ्चात्मक होने के कारण यह यज्ञ सामान्य यज्ञकर्ता द्वारा अनुष्ठेय नहीं है अतः इस यज्ञ का अनुष्ठान विरल रूप में ही होता रहा होगा। चिति-निर्माण

1. श० ब्रा०, 3, 4, 4, 1
2. वही, 14, 2, 2, 44
3. वही, 14, 1, 1, 1-17
4. चिन्नस्वामी, यज्ञतत्वप्रकाश, पृष्ठ 64
5. श० ब्रा०, 12, 1, 3, 5
6. कीथ, तैत्तिरीय संहिता (अंग्रेजी अनुवाद), भूमिका, पृष्ठ 124
7. आपस्तम्ब, 16; का० श्रौ० सू०, 16-18

के प्रारम्भ में ही पञ्च-पशु-वध का विधान है जिनमें एक पशु पुरुष है। सर्वोपरि होने के कारण पुरुष का वध सबसे पहले विहित है किन्तु यह वध प्रतीकात्मक ही होता है क्योंकि शतपथकार विषाण-विहीन अज की बलि में ही पाँचों की बलि सन्निहित मानता है। इस यज्ञ में धूमधाम से मिट्टी लाई जाती है। आषाढा नामक इष्टका को यज्ञकर्ता की पत्नी तथा विश्वज्योति इष्टकाओं को यज्ञकर्ता स्वयं बनाता है। स्वयमातृण्णा, दिव्ययजुः, रेतःसिच् ऋतव्या, अपस्या तथा छन्दस्या आदि दस हजार आठ सौ इष्टकाएँ वेदीचयन में प्रयुक्त होती हैं।[1] इन इष्काओं को सृष्टि-रचना-प्रक्रिया का प्रतीक माना गया है। स्वयमातृण्णा इष्टकाएँ तीनों लोकों की प्रतीक हैं। रेतःसिच् प्राणियों के पाँच वर्गों की प्रतीक हैं। 'प्राणभृत' दश इष्टकाएँ दशप्राण हैं तथा 'दिश्या' इष्टकाओं द्वारा दिशाएँ स्थिर होती हैं। 'ऋतव्या' छः ऋतुओं का निर्माण करती हैं। विराट नामक ईंटें वाणी की प्रतीक हैं। कूर्म इष्टका का मध्य में स्थापन कच्छप द्वारा पीठ पर पृथिवीधारण की कल्पना का मूल है। वेदी के निचले स्तर में पुरुष की स्वर्णाकृति, रुक्म तथा पुष्करपर्ण का स्थापन उल्लेखनीय है जो आज भी कूप, सरोवर या भवन-निर्माण का कार्य प्रारम्भ करने पर नींव में रखे जाते हैं।[2] अग्निचयन की पंच चितियों के सम्बन्ध में समीकरण दर्शनीय है। पुरुषरूप प्रजापति के शरीर के लोम, त्वक्, मांस, अस्थि तथा मज्जा, पाँच अंग संवत्सर प्रजापति की पाँचों ऋतुएँ तथा वायु-प्रजापति की पाँचों दिशाएँ विघटित हो गई थीं। ये ही पाँच इस अग्निचिति याग की पंचचितियाँ हैं। अग्नि ने इन्हें यथास्थान चुना है, अतः ये चिति हैं।[3] वेदी-निर्माण के पश्चात् वनस्पतियों से निर्मित 425 आहुतियाँ रुद्रों के लिए दी जाती हैं। अग्निचयन-याग में सोमयज्ञ के अन्य सामान्य अनुष्ठानों के साथ-साथ अनुमति, राका, कुहू, सिनीवाली, धातृ, मित्र तथा वरुण के लिए दूध की आहुति का विधान है। अग्निचयन करने वाला यजमान तीनों लोकों में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। शाण्डिल्य का कथन है कि इस यज्ञ का तुरकावषेय ने (कारोती में) तथा नग्नजित गांधार ने भी अनुष्ठान किया था जिनका यश प्रतिष्ठित हो गया।[4]

शतपथ में उपर्युक्त सोमयज्ञों के अतिरिक्त द्वादशाह, षडह्याग, अभिप्लव, विश्वजित, सद्यक्री, बृहस्पति-सव आदि अनेक आनुषंगिक सोमयागों एवं सत्रों

---

1. श० ब्रा०, 6, 4, 2, 1 से 6, 5, 2, 42
2. वही, 7, 4, 1, 7; 10; 15
3. वही, 6, 1, 2, 17
4. वही, 9, 5, 2, 15

का उल्लेख भी मिलता है। विषय की दृष्टि से प्रक्रिया में मौलिक अन्तर नहीं होने के कारण इनका वर्णन अपेक्षित प्रतीत नहीं होता है। शतपथ में ब्रह्मयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, पितृयज्ञ तथा देवयज्ञ को पंचमहायज्ञ कहा गया है।[1] यद्यपि गृहस्थ के कर्त्तव्यस्वरूप इन महायज्ञों का स्वरूप अत्यन्त सरल एवं साधारण था किन्तु इनमें यज्ञ-धर्म का उदात्त स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। इनमें ब्रह्मयज्ञ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होने के कारण, शतपथ में इसकी महती प्रशंसा की गई है जिसका विस्तृत वर्णन परवर्ती षष्ठ अध्याय में किया जाएगा।

यजमान

यज्ञ-प्रक्रिया से यजमान का प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। यज्ञ यजमान की अभीष्ट-प्राप्ति का साधन है। अभीष्टप्राप्तिहेतु वह यज्ञानुष्ठान का संकल्प करता है, अतः यजमान संकल्पात्मक मन का ही प्रतिरूप है।[2] रुचिकर प्रसंग यह है कि लगभग प्रत्येक यज्ञ के कारणभूत महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिए स्वयं देवता ही पहले 'यजमान' का रूप धारण करते हैं। स्वयं यज्ञ का सम्पादन कर वे मनुष्यों को अनुष्ठान की प्रेरणा प्रदान करते हैं, अतः यजमान द्वारा सम्बोध्य एवं स्तुत्य होने के कारण देवता अभीष्ट फलप्रदाता एवं प्रेरक यजमान दोनों हैं। इन्हीं का अनुकरण कर मनुष्य यजमान-रूप धारण कर अनुष्ठान का संकल्प लेते हैं। यजमान यज्ञ की आत्मा है।[3] वह यज्ञ का प्रजापति भी है।[4] श्रौतयज्ञों को प्रारंभ करने से पूर्व यजमान के लिए 'दीक्षा' लेना अनिवार्य है। दीक्षा कृष्णाजिन् पर आसीन होकर ली जाती है।[5] दीक्षा के समय यजमान केश एवं श्मश्रुओं को मुंडवाता है तथा गोदान करता है।[6] दीक्षित यजमान के लिए अनेक निषेध एवं व्रत पालनीय कहे गए हैं। दीक्षित व्यक्ति पश्चिम की ओर सिर करके न सोए ताकि पूर्व दिशा देवों की होने के कारण उधर पैर न रहें।[7] पशु-इष्टि के उपरान्त जमीन पर सोना चाहिए, ऊपर नहीं।[8] दीक्षित यजमान अग्न्याधेय से पहले दिन,

1. श० ब्रा०, 11, 5, 6, 1-3
2. वही, 12, 8, 2, 4
3. वही, 9, 5, 2, 16
4. वही, 1, 6, 1, 20
5. वही, 1, 1, 4, 3
6. वही, 3, 1, 2, 1-5
7. वही, 3, 1, 1, 7
8. वही, 6, 2, 2, 39

दिन में ही भोजन करे क्योंकि देवता मानव-मन के ज्ञाता होने के कारण यज्ञ से पूर्व ही उसके घर आ जाते हैं, अतः उसका उपवास रखना अनिवार्य है।[1] व्रत एवं नियमों के पालन से यजमान रोग एवं पाप से मुक्त होता है।[2] व्रत भंग हो जाने पर प्रायश्चित का विधान है।[3] प्रायश्चितस्वरूप अवान्तर दीक्षा भी लेनी पड़ती थी। निष्कर्षतः यजमान के लिए यज्ञानुष्ठानों में धन व्यय करने के अतिरिक्त अपनी देह एवं मन को भी संयमित रखना आवश्यक था।

ऋत्विज

यजमान के मन में उद्भूत यज्ञानुष्ठान के संकल्परूपी बीज को पुष्पित एवं पल्लवित करना तथा अभीष्ट प्राप्तिहेतु अनुष्ठान करवाना ऋत्विज का कार्य है। ऋत्विज यजमान के लिए अनेक ऐश्वर्यों की कामना करता है। विभिन्न यज्ञों में यज्ञ के महत्त्व के अनुसार ही ऋत्विजों की संख्या निर्धारित रहती है। तैत्तिरीयब्राह्मण (2, 3, 6) अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुयाग, सोमयाग तथा सोमसत्रों में क्रमशः एक, चार, पाँच, छः, सात तथा दस ऋत्विजों की अनिवार्यता प्रस्तुत करता है। शतपथ के अनुसार हविर्यज्ञों में चार ऋत्विज, होता, अध्वर्यु, ब्रह्म तथा अग्नीध्र काम करते हैं।[4] सोमयज्ञ के सर्वप्रमुख ऋत्विज उद्गाता को सम्मिलित करने पर मुख्य ऋत्विजों की संख्या पाँच हो जाती है जिन्हें विभिन्न ब्राह्मणों में क्रमशः यज्ञ की आत्मा, यज्ञ की प्रतिष्ठा, यज्ञ का चिकित्सक, यज्ञ का मुख एवं यज्ञ का यश कहकर गौरवान्वित किया गया है,[5] किन्तु वस्तुतः प्रमुख ऋत्विज-होता, अध्वर्यु, उद्गाता एवं ब्रह्मा—चार ही हैं जिन्हें शतपथ में 'महर्त्विज' कहा गया है।[6] अग्नीध्र तो अग्नि के प्रज्वलन में सहयोगी ऋत्विज है जिसे महान् अग्नि के सान्निध्य के कारण महत्त्व दे दिया गया है। सोमयज्ञों में नियुक्त सोलह ऋत्विजों की एक सुदीर्घ सूची शतपथकार प्रस्तुत करता है जिसमें अग्नीध्र, आत्रेय, ब्रह्मा, उद्गाता, होता, अध्वर्युद्वय, प्रस्तोता, मैत्रावरुण, ब्रह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा, अच्छावाक, उन्नेता, ग्रावस्तोता

---

1. श० ब्रा०, 2, 1, 4, 1
2. वही, 3, 2, 2, 19
3. वही, 3, 4, 3, 1
4. वही, 1, 1, 1, 15
5. क्रमशः द्रष्टव्य, कौ० ब्रा०, 9, 6; तै० ब्रा०, 3, 3, 8, 10; गो० ब्रा०, पूर्व भाग, 5, 15; उत्तर भाग, 3, 18; ऐ० ब्रा०, 5, 34
6. श० ब्रा०, 13, 1, 1, 4

तथा प्रतिहर्त्ता सन्निहित हैं।[1] इनके अतिरिक्त भी प्रशास्ता, प्रतिपस्थाता, सुब्रह्मण्य आदि अनेक ऋत्विजों का प्रासंगिक उल्लेख शतपथ में उपलब्ध है किन्तु उक्त चार महर्त्विजों के अतिरिक्त जितने भी ऋत्विज हैं वे या तो इनमें से किसी के भी सहायक हैं जिन्हें होत्रक कहा जाता है अथवा यज्ञ-प्रक्रियाओं के आनुषंगिक कार्यकर्ता हैं। इन ऋत्विजों के माध्यम से यजमान देवानुग्रह प्राप्त करता है तथा ये ऋत्विज प्रतिफल में यजमान से दक्षिणा प्राप्त करते हैं। संभवतः किसी समय यज्ञ की परिसमाप्ति पर ऋत्विजों के लिए दक्षिणाग्नि में हलुआ आदि तैयार कर दक्षिणा के रूप में दिया जाता था। बाद में हिरण्य, पशु, अलंकार तथा वस्त्रादि की भेंट भी दक्षिणा का स्वरूप बन गईं। शतपथ के अनुसार दक्षिणा चार प्रकार की महत्त्वपूर्ण हैं—हिरण्य, गौ, वासस् एवं अश्व।[2] हिरण्य आयु है। गौ प्राण हैं। वस्त्र त्वचा हैं तथा अश्व वज्र का प्रतीक है।[3] दक्षिणा के रूप में सुवर्ण-शतमानों का भी प्रयोग होता था। दक्षिणा-सम्बन्धी आधारपरकता एवं तार्किकता दर्शनीय है। स्वर्ण की स्थानापन्न दक्षिणा अनड्वान् है क्योंकि दोनों का सम्बन्ध अग्नि से है। हिरण्य यदि अग्नि का रेतस् है तो अनड्वान् भी हव्यवाहन-अग्नि की तरह मनुष्यवाहन है।[4] प्रथमगर्भा गायों एवं ऋषभों का भी दक्षिणा के रूप में अत्यधिक प्रचलन था।[5] सम्भवतः दक्षिणा यज्ञों की विशालता एवं लघुता के अनुपात में दी जाती थी क्योंकि एक स्थान पर अश्व वाले रथ को भी दक्षिणा के रूप में दर्शाया गया है जिसमें तीन अश्व तथा दो सव्यष्टा सारथी भी सम्मिलित हैं।[6] अन्य ब्राह्मणों के विपरीत शतपथ में दक्षिणा में भूमिदान का भी उल्लेख मिलता है।[7] पशुओं में विषाणहीन (तूपर) बकरों के दान का विशेष प्रचलन प्रतीत होता है। दक्षिणा-दान में उपयोगितावादी दृष्टिकोण भी कहीं-कहीं दिखाई देता है। तीन इषुओं से युक्त धनुष तथा दण्ड जब दक्षिणा में दिया जाता है तो कहा गया है कि धनुष से ही कुत्ते को भगाया जाता है तथा दण्ड से कुत्ता प्रताड़ित किया जाता है।[8] इस प्रकार सभी प्रकार की दक्षिणाओं

---

1. श० ब्रा०, 4, 3, 4, 20-22
2. वही, 4, 3, 4, 7
3. वही, 4, 3, 4, 24
4. वही, 2, 2, 3, 28
5. वही, 4, 6, 1, 11-13
6. वही, 5, 2, 4, 9
7. वही, 13, 6, 2, 18; 7, 1, 13, 5
8. वही, 11, 1, 5, 10; प्रस्तुत उल्लेख कुत्तों की भयंकरता एवं उनके आधिक्य पर भी प्रकाश डालता है।

को प्रशंसित करने पर भी शतपथ हिरण्य को ही वास्तविक दक्षिणा सिद्ध करता है क्योंकि हिरण्य ही अग्नि का वीज है।[1]

यज्ञ-उपकरण

भौतिकयज्ञ की क्रिया-प्रक्रियाओं में सहायक वस्तुएँ यज्ञ के उपकरण कहलाती हैं। यज्ञों के वैविध्य के कारण इनकी प्रवर्द्धित संख्याओं को समाहरित कर इन्हें वारह भागों में बाँटा जा सकता है।

(1) **आज्य तथा आहुतिपात्र :** आज्यधानी, पृषदाज्यधानी आदि आज्य-पात्र हैं। स्रुवा पिघले हुए आज्य को आज्यपात्र से लेकर स्रुचाओं में डालती हैं[2] अतः स्रुवा की उपमा शतपथ में पवन से दी गई है। 'स्रुवा ही पवन है। जिस प्रकार वायु का संचार सभी लोकों में होता है, तथैव स्रुवा सभी स्रुचाओं तक पहुँच जाती है।'[3] आहुति देने की चम्मचों का समष्टिगत नाम स्रुक है। ये पाँच प्रकार की वर्णित की गई हैं—अग्निहोत्रहवणी, प्रचरणी, जुहू, उपभृत एवं ध्रुवा। अग्निहोत्रहवणी से प्रातःहोम में दूध की आहुति दी जाती थी जिसकी लम्बाई वाहुमात्र कही गई है। प्रचरणी जुहू के समान एक स्रुक-विशेष थी जिससे विशिष्ट आहुतियाँ दी जाती थीं। स्रुचाओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी तीन ही मानी गई हैं—जुहू, उपभृत एवं ध्रुवा। इन तीनों को क्रमशः तीनों लोकों—द्यौ, अन्तरिक्ष एवं पृथिवी का प्रतीक माना गया है।[4] उल्लेखनीय है कि आहुति देते समय भी प्रक्रिया में इस आनुरूप्यता का ध्यान रखा जाता था। दर्वी भी एक प्रकार की कड़छी थी जिससे साकमेधयज्ञ में निष्काष की आहुति दी जाती थी। प्रस्तुत यज्ञपात्र विभिन्न प्रकार के यज्ञिय वृक्षों की काष्ठाओं से वनते थे, जैसे कि विकंकत वृक्ष को यज्ञिय वृक्ष कहा गया है। आहुति देने के पश्चात् प्रजापति ने हाथों को रगड़ा जिससे विकंकत की उत्पत्ति हुई, अतः यह यज्ञपात्रीय वृक्ष है।[5] अग्निहोत्रहवणी विकंकत से बनती थी तथा जुहू पलाश की लकड़ी से। ध्रुवा भी विकंकत से बनती थी। ध्रुवा से आज्यस्थाली में से आज्य

---

1. श० ब्रा०, 5, 2, 3, 6
2. वही, 3, 4, 1, 25
3. 'तस्माद् स्रुवः सर्वा अनुस्रुचः संचरति' (वही, 1, 3, 2, 5)
4. वही, 1, 3, 2, 4
5. 'स हुत्वा न्यमृष्ट। ततो विकंकतः समभवत्तस्मादेष यज्ञियो यज्ञपात्रीयो वृक्षः' (श० ब्रा०, 2, 2, 4, 10)

लेकर रखा जाता है। निर्वचनात्मक दृष्टि से जुहू ही आहुति देने की सर्वप्रमुख चम्मच है क्योंकि 'यथा हूयते सा जुहू' निर्वचन के अनुसार इसका उपयोग स्वयं निरुक्त है।[1] स्रुवा विकंकत एवं उदुम्बर वृक्ष दोनों के काष्ठ से निर्मित होती थी।

(2) **मन्थन उपकरण :** अग्निमन्थनशकल तथा दो अरणियाँ मन्थन उपकरण हैं। इन दो अरणियों में एक उत्तर-अरणि तथा दूसरी अधो-अरणि कही जाती है।

(3) **यज्ञायुध :** प्रस्तुत उपकरणों से वेदी की खुदाई एवं हविष्यान्न तथा सोम आदि फटकने, कूटने, पीसने का काम लिया जाता है। ये नौ हैं—स्फ्य, अभ्रि, परशु, शम्या, शूर्प, उलूखल, मुसल, दृषद तथा उपल।

(4) **दोहन उपकरण :** हवि के लिए दूध दुहने में प्रयुक्त उपकरण दोहन उपकरण कहे जाते हैं जो पलाश, शमी की शाखा, शाखा-पवित्र, उखा, कुंभी तथा निदाना (रस्सी) हैं। उखा दूध निकालने तथा गरम करने का पात्र था जिसका पतीली या घड़े का सा आकार था। प्रवर्ग्य में यह शकट के आकार का बनता था। इसका ढक्कन लकड़ी या लोहे का होता था। कुंभी को सायणाचार्य उखा का पर्याय मानते हैं।[2] एगलिंग के अनुसार यह सैकड़ों छिद्रों वाला कोई पात्र था।[3] निदाना को राजस्थान में आज भी 'नदाणा' या 'न्याणा' कहते हैं जिसे गाय की टाँगों में बाँध कर दूध दुहा जाता है।

(5) **हविपात्र :** हविपात्रों में हवियाँ तैयार की जाती हैं। बारहकपाल, उपवेश, मदन्ती पात्र, संवपनपात्री, मेक्षण, चरुस्थाली, पुरोडाशपात्र, महावीर, शराव, अन्वाहार्यस्थाली, उपयाम, उपयमनी तथा परिग्राह आदि हवि पात्र प्रयुक्त होते हैं। कपाल मिट्टी से बने बारह तवेनुमा टुकड़े होते हैं। लकड़ी का नौ अंगुल लम्बा चिमटानुमा पात्र उपवेश या धृष्टि कहलाता है। शतपथ (12, 7, 2, 13; 14, 1, 2, 17) में सत् तथा पिन्वन दो प्यालों का भी उल्लेख है। मदन्ती नामक गरम जल मदन्तीपात्र में रखा जाता है। लकड़ी के लम्बे चपटे पात्र 'मेक्षण' द्वारा पिसे हुए हविष्यान्न में जल मिलाया जाता था। चरुस्थाली में चरु तैयार किए जाते थे। प्रदेशमात्र लम्बे तथा छः अंगुल गहरे पुरोडाशपात्रों में पुरोडाश रखा जाता था। घड़े के आकार के उखा सदृश महावीरपात्र

---

1. चिन्नस्वामी, यज्ञतत्वप्रकाश, पृ० 39
2. द्रष्टव्य, श० ब्रा०, 6, 7, 1, 24 की सायण टीका
3. वही, 12, 7, 2, 13; द्रष्टव्य एगलिंग के अनुवाद की टिप्पणी

में प्रवर्ग्य तैयार किया जाता था। तश्तरियों को शराव तथा मिट्टी की कटौरियों को उपयाम कहा जाता था। हविपात्रों को अग्नि पर से उतारने के लिए परिग्राह (संडासी) प्रयुक्त होता था।[1] यज्ञ की हवि जिस पात्र में पकाई जाती थी वह पचन् कहलाता था।[2]

(6) **उपयोजनपात्र :** वेद, पवित्र, विधृति, प्रस्तर, आसन्दी आदि वस्तुएँ जो यज्ञ की विविध विधियों में काम में आती हैं, उपयोजन-उपकरण हैं।

(7) **प्रातिस्विक उपकरण :** यज्ञों में कतिपय द्रव्यों के प्रयोग की अनिवार्यता प्रदर्शित की गई है। ये द्रव्य प्रातिस्विक-उपकरण कहे जाते हैं जो संख्या में छः हैं—समिधा, प्रोक्षणपात्र, इध्म, परिधि, बर्हि, पुष्करपर्ण तथा संभार। संभार संभरण क्रिया से सम्बद्ध एक तात्त्विक शब्द है जो यज्ञ से पूर्व अनेक यज्ञिय वस्तुओं के संभरण (एकत्रित करना) का द्योतक है। शतपथ (2, 1, 1, 12) में यज्ञ को पांक्त कहे जाने के कारण पांच संभारों—हिरण्य, शर्करा, ऊष (नमक), आखुकरीष तथा अपस् (जल) का उल्लेख किया गया है। कृष्णयजुर्वेद के अनुसार संभारों की संख्या चौदह है जिनमें से सात—मृद्, ऊष, आखुकरीष, वल्मीक, सिकता, शर्करा, हिरण्य, धरती से लिए गए हैं तथा शेष सात—अश्वत्थ, उदुम्बर, पलाश, शमी तथा विकंकत आदि वृक्षों की लकड़ी के टुकड़े हैं अतः स्पष्ट है कि कृष्णयजुर्वेदी प्रोक्षणजल को संभार नहीं मानते हैं।

(8) **चमस तथा ग्रहपात्र :** चमस एवं ग्रहपात्र सोमयज्ञों में प्रयुक्त होते हैं। इन यज्ञों में दस चमस, उन्नीस ग्रहपात्र, सवनीय तथा द्रोणकलश अपेक्षित हैं। तीन अंगुल दण्ड वाला, चार अंगुल ऊंचा, छः अंगुल चौड़ा, कुल प्रादेश मात्र लम्बा लकड़ी, ताँवे या कांस्य का वना चम्मच चमस कहलाता है। दशपेय यज्ञ में सौ चमस प्रयुक्त होते थे।[3] चौदह काष्ठपात्र चार मिट्टी की थाली तथा एक होमपात्र कुल उन्नीस पात्रों को ग्रहपात्र कहा गया है। सोमरस भरने के मिट्टी के कलश सवनीयकलश कहे जाते हैं तथा द्रोण परिमाण सोमरस समाने वाला छोटा घड़ा द्रोणकलश कहलाता था। शतपथ में चमस का वैकल्पिक पात्र 'उदञ्चनपात्र' कहा गया है अतः उदञ्चन का उपयोग सम्भवतः चमस के समान ही था।[4] शतपथ (12, 7, 2, 13) में सत् नामक प्याले का भी उल्लेख है जिसमें सोम डाला जाता था।

---

1. 'परितः गृह्यते अनेन इति परिग्राहः'
2. श० ब्रा०, 6, 5, 43, 3
3. चिन्नस्वामी, यज्ञतत्वप्रकाश, पृ०ऽ 35
4. श० ब्रा० 4, 3, 5, 21

(9) **दीक्षा उपकरण :** मेखला, दण्ड, योक्त्र, कृष्णविषाण, क्षौमवस्त्र, त्रैककुभ अंजन, नवनीत तथा दर्भ ये आठ दीक्षा उपकरण कहलाते हैं जो दीक्षा के समय यजमान तथा उसकी पत्नी के काम आते हैं।

(10) **भक्षणपात्र :** ऋत्विज तथा यजमान जिन पात्रों में हविर्भाग को खाते हैं वे भक्षणपात्र कहलाते हैं। प्राशित्रहरण, यजमानपात्र तथा पत्नीपात्र क्रमशः ब्रह्मा, यजमान तथा यजमानपत्नी के पात्रों का नाम है। शेष पात्र 'इडा पात्र' कहलाते हैं जो अरत्निमात्र लम्बे तथा चार अंगुल चौड़े होते हैं। इनमें इडारूपी हवि रखी जाती है।

(11) **पशुयाग विशिष्टपात्र :** कुछ विशेष पात्रों का सम्बन्ध पशुयज्ञों से ही है जैसे वपा, श्रवणी, शूल वसाहोमहवणी, छुरी तथा प्लक्ष शाखा आदि।

(12) **आस्तरण :** ऋत्विजों तथा यजमान आदि के बैठने के लिए अनेक प्रकार के आसनों का प्रयोग यज्ञों में किया जाता था जो घास, काष्ठ तथा चर्म आदि से निर्मित होते थे। चर्म-आसन के रूप में यद्यपि वस्ताजिन् (अजचर्म) का भी प्रयोग होता था किन्तु इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृष्णाजिन् है।

कृष्णाजिन्

कृष्णमृग के चर्म को कृष्णाजिन् कहा जाता था जिसका शतपथ में गौरवपूर्ण वर्णन उपलब्ध है। कृष्णाजिन् के श्वेतलोम 'साम' हैं। कृष्ण लोम ऋचा है तथा बभ्रू एवं हरित लोम यजुष् रूप है।[1] कृष्णाजिन् त्रयीविद्या का शिल्प है। यज्ञ की पूर्णता के लिए कृष्णाजिन् का प्रयोग किया जाता है। यजमान इस चर्म पर बैठकर ही दीक्षा ग्रहण करता है। हवि के चावलों को कूटने-फटकने का काम भी इस मृग-चर्म पर बैठकर ही किया जाता है।[2] कृष्णाजिन् को चर्म भी कहते हैं। चर्म मानवीय नाम है। दैवीय नाम इसका 'शर्म' है जिसका अर्थ कल्याणकारक है।[3] कृष्णमृग शतपथ में केवल 'कृष्ण' शब्द द्वारा भी व्यक्त किया गया है।[4] ब्रह्मवर्चस् की इच्छा करने वाला यजमान कृष्णाजिन् का अभिषिंचन करता था। कृष्णाजिन् की अपूर्व महिमा के कारण ही कृष्णाजिन् को यज्ञ कहा गया है।[5] औपमन्यव आचार्य भी यज्ञ की

---

1. श० ब्रा०, 1, 1, 4, 2
2. वही, 1, 1, 4, 3
3. वही, 1, 1, 4, 4
4. 'यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम स कृष्णो भूत्वा चचार' (वही, 1, 1, 4, 1)
5. 'यज्ञो वै कृष्णाजिनम्' (वही, 6, 7, 1, 6)

परिभाषा देते हुए कहते हैं, 'क्योंकि इस यज्ञ में अनेक कृष्णाजिन् बिछी रहती हैं, अतः वह यज्ञ कहलाता है।'[1] कृष्णाजिन् का यज्ञ से तथा यज्ञ का आर्य-देश से अभिन्न सम्बन्ध होने के कारण ही कृष्णमृग भारतभूमि का प्रतीक बन गया इसलिए मनु एवं याज्ञवल्क्य[2] ने भी कहा—

'यस्मिन्देशे मृगः कृष्णः तस्मिन्धर्मान्निबोधत'

यज्ञमूलक धर्म के अधिष्ठाता आर्यों ने कृष्णाजिन् को कैसे प्राप्त किया इस सम्बन्ध में शतपथ एक रोचक तथ्य उपाख्यान द्वारा उद्घाटित करता है। एक बार यज्ञ देवताओं के पास से भाग गया तथा कृष्णमृग के रूप में विचरता रहा। देवताओं ने इसे पहिचान लिया तथा वे उसका चर्म, जो 'शर्म' होने के कारण कल्याणकारक है, ले आए।[3] निष्कर्षतः कृष्णाजिन् यज्ञ के गौरव तथा उसकी रक्षा का प्रतीक है।

यज्ञीय आपस्

यज्ञीय आपस् से तात्पर्य वह जल है जो यज्ञ की सम्पन्नता के लिए सर्वप्रथम अनिवार्य संभार है। शतपथब्राह्मण का प्रारम्भ ही जल के उपस्पर्शन की विधि से होता है।[4] जल की महिमा का वर्णन प्रारम्भ हो जाता है। 'मेध्यो वाऽआपः' द्वारा जल की उस पवित्रता को प्रकट किया गया है जो मानव की अपवित्रता दूर करने वाली है। जल ही जगत् की प्रतिष्ठा है।[5] आपस् अमृत है। यही रेतस् है। ऊर्जा की उत्पत्ति जल से ही होती है। आपस् सभी ओषधियों का रस तथा सोम-सुत है।[6] जल-सम्बन्धी इन मधुर कल्पनाओं के विपरीत जल को वज्र भी कहा गया है। जल आकाश का ऊधस् है। गाय के ऊधस् में जैसे दुग्ध छिपा रहता है वैसे ही आकाश के ऊधस् में जल।[7] आपस् की इन विविध महिमाओं के कारण ही यह यज्ञ है।[8] यज्ञ के विभिन्न प्रयोजनों में प्रयुक्त

---

1. निरुक्त, 3, 4
2. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1, 2; मनुस्मृति, 2, 22
3. श० ब्रा०, 1, 1, 4, 1
4. वही, 1, 1, 1, 1
5. 'आपो वा अस्य सर्वस्य प्रतिष्ठा' (श० ब्रा०, 6, 8, 2, 2)
6. वही, 1, 9, 3, 7; 3, 8, 4, 11; 9, 4, 1, 10; 3, 6, 1, 7; 7, 1, 1, 22
7. वही, 6, 7, 4, 5
8. वही, 3, 8, 5, 1

'जल' भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। 'प्रणेजन' से हाथ धुलाये जाते हैं। प्रणीतजल गार्हपत्याग्नि के सान्निध्य से लाया जाता है। वसतीवरी जल सोम के अभिषव में प्रयुक्त होता है। इस जलहेतु शतपथ में उपाख्यान प्राप्त है कि जब यज्ञ का सिर काटा गया था तब उस छिन्न सिर से रस द्रवित हुआ। वही यह वसतीवरी जल है।[1] जलों की विविध दृष्टिकोणों से वर्णित उपर्युक्त महिमा जल एवं यज्ञ के घनिष्ठ सम्बन्ध की द्योतक है।

यज्ञ में पशुबलि

शतपथ में कहा गया है कि 'अध्वरो वै यज्ञः' अर्थात् अध्वर ही यज्ञ है।[2] ध्वर् धातु हिंसार्थक है। हिंसा का प्रतिषेध होने के कारण यज्ञ को अध्वर कहा जाता है।[3] शतपथ के कथन 'अध्वरो वै यज्ञः' के दो अभिप्राय संभव हैं। प्रथम, यज्ञ हिंसा-रहित होता है, तथा द्वितीय, हिंसा-रहित यज्ञ ही वास्तविक यज्ञ है, अन्य नहीं। इनमें से द्वितीय अर्थ ही अभिप्रेत प्रतीत होता है। शतपथीय यज्ञों में बलि के लिए विभिन्न पशुओं का विधान, पुरुषमेध तथा सर्वमेध में पुरुष-बलि तथा अग्निचयन के समय पंचपशु यज्ञ तथा वपा, श्रवणी, शूल आदि आलभन-सम्बन्धी उपकरणों के विवरण को पढ़कर सामान्य पाठक कदापि स्वीकार नहीं कर सकता कि शतपथ में पशुबलि-विहीन यज्ञ की परम्परा थी। अतः दो विरोधी विचारों की एकत्र स्थिति गवेषणीय है।

शतपथ में पशुओं को पांक्त कहा गया है क्योंकि अग्निचयन में बलिपशुओं की संख्या पाँच है—पुरुष, अश्व, गौ, भेड़ तथा बकरा।[4] प्रजापति ने इन्हें देखा (अपश्यत्) अतः ये पशु कहलाते हैं। इनमें पुरुष का आलभन ही सर्वप्रथम किया जाता है क्योंकि वह पशुओं में प्रथम है।[5] आलभन का इतिहास भी है—

'पुरुषं ह वै देवा अग्रे पशुमालेभिरे'[6]

देवों ने सर्वप्रथम पुरुषपशु का आलभन किया। अभिधार्थ ग्रहण करने पर

1. श० ब्रा० 3, 9, 2, 1; 1, 2, 2, 18; 3, 6, 1, 26
2. वही, 3, 5, 3, 17
3. निरुक्त, 1, 3
4. श० ब्रा०, 1, 8, 1, 39; 6, 2, 1, 2
5. वही, 6, 2, 1, 18
6. वही, 1, 2, 3, 6

तो यह केवल पशुबलि ही नहीं अपितु नरबलि का भी संकेत प्रस्तुत करता है किन्तु पद-पद पर प्रतीकार्थ के प्रतिपादक शतपथ में इसी स्थल पर अभिधार्थ ग्रहण करना पक्षपातपूर्ण है। अभिधार्थ लेने पर पुरुष को 'पशु' कहना भी अशुद्ध है। पुनः शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट ही 'पुरोडाश' को पशु का प्रतीक मानकर आलभन का आदेश है—

'पशुर्ह वा एष आलभ्यते-यत् पुरोडाशः'[1]

प्रस्तुत प्रतीक बलियाँ यज्ञ में हिंसा का खंडन करती अवश्य प्रतीत होती हैं किन्तु प्रश्न उठ सकता है कि यज्ञों में प्रतीकात्मक हिंसा की क्रिया अनिवार्य क्यों थी? वस्तुस्थिति यह प्रतीत होती है कि प्रारम्भ में किसी समय यज्ञों में ये बलियाँ सामान्यतया प्रचलित थीं।[2] हिंसा की बीभत्सता के फलस्वरूप घृणा का उदय होने पर वास्तविक हिंसा को प्रतीकात्मक रूप देकर अध्वरयज्ञों का संयोजन व प्रचलन किया गया। पुरुष-पशु के आलभन से तात्पर्य ऋग्वेद के पुरुषसूक्त के यज्ञ-पुरुष का आलभन है जिससे सृष्टि की रचना हुई। शतपथ स्वयं इस प्रकार का वर्णन करता है: 'जब यज्ञ का शिर काट दिया गया तो उसका रस बह कर जलों में मिल गया। इसी रस के कारण ये जल आज तक बहते हैं'[3] अतः 'तस्य शिरो निदधाति' आदि वाक्यों को प्रतीकात्मक समझना ही अपेक्षित है। पशुबलि के निषेध का एक अन्य अप्रत्यक्ष किन्तु उल्लेखनीय उदाहरण प्रस्तुत है। दर्शपूर्णमास इष्टि की किसी विधि-विशेष के अवसर पर कहा गया है कि यजमान तथा पुरोहित 'इडा' (हवि) को खाते हैं, अग्नि में नहीं छोड़ते, क्योंकि इडा का अर्थ पशु भी है अतः इडा को अग्नि में इसी कारण नहीं छोड़ते हैं कि कहीं पशुओं को अग्नि में न छोड़ दें।[4]

यज्ञ-परम्पराओं से सम्पन्न उस युग में यह भी संभव है कि हिंसक प्रवृत्ति के लोग पशुओं की वास्तविक बलियाँ भी देते थे किन्तु शतपथ[5] का रुझान

---

1. श० ब्रा०, 1, 2, 3, 5
2. प्रोफेसर मैक्समूलर का भी विचार है कि पूर्ववर्ती काल में ये सभी बलियाँ दी जाती थीं। द्रष्टव्य, सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, वोल्यूम 2, पृ० 50, फुटनोट
3. श० ब्रा०, 3, 9, 2, 1
4. वही, 1, 8, 1, 38
5. राजसूययज्ञ के अवसर पर गायों पर प्रतीकात्मक आक्रमण तथा राजन्य के साथ प्रतीकात्मक युद्धहेतु द्रष्टव्य, शतपथ, 5, 1, 1, 12; 5, 2, 3, 1 तथा 5, 4, 3, 1

प्रतीकात्मकता की ओर अधिक होने के कारण यह प्रतीत होता है कि वास्तविक बलियों की संभावना दिन-प्रति-दिन कम होती जा रही थी।

यज्ञों के उपर्युक्त विस्तृत विवरण से स्पष्ट है कि यज्ञ द्वारा अभीष्ट प्राप्ति की श्रद्धा ने याज्ञिक कर्मकाण्ड को लोकप्रिय बना दिया था। ऋत्विगवर्ग की कुशाग्र बुद्धि ने यज्ञ-विधियों एवं क्रियाओं में विभिन्न परिवर्तन एवं परिवर्धन कर लोकबुद्धि को यज्ञमूलक धर्म की ओर इस प्रकार संवलित किया कि प्रारम्भिक देवाराधन का साधन तथा पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति प्रक्रिया का दार्शनिक आधार 'यज्ञ' क्रमशः श्रौत, स्मार्त एवं गृह्य यज्ञों की धाराओं में प्रवाहित होता हुआ गीता के तपोयज्ञ, योगयज्ञ, प्राणयज्ञ एवं ज्ञानयज्ञ जैसे मनोमय यज्ञों को भी समेटता हुआ चला गया तथा आज सहस्रों वर्ष बाद भी गृह्यसंस्कारों के रूप में भारतीय जनता की धर्मप्राणता को यथावत् बनाए हुए है।

धर्मप्राण जनता के विश्वासों एवं आस्थाओं में भी तात्कालिक धर्म के अनेक पक्ष प्रच्छन्न रहते हैं अतः शतपथकालीन आर्यों की धार्मिक आस्थाओं पर भी विहंगम दृष्टि डालना साभिप्राय एवं सार्थक है।

अभिचार तथा शकुन

अदृश्य शक्तियों के प्रति विचारणा, उनसे भय तथा उनमें असीम विश्वास की भावनाओं ने ही धर्म की चिन्तनात्मक एवं कर्मपरक दोनों प्रवृत्तियों की ओर मानव को उन्मुख किया प्रतीत होता है। यही कारण है कि यज्ञरूपी धर्म में भी उच्चस्तरीय दार्शनिक-चिन्तन के साथ-साथ यज्ञ के कर्मकाण्ड में अभिचारीय कृत्यों का समावेश भी है। अभिचार एवं शकुनशास्त्र आदि का मूल यज्ञ की कर्मकाण्डीय विधियों में प्रत्यक्ष परिलक्षित होता है। शतपथ में गुप्त अभिचार अर्थात् टोने-टोटके को 'वलगम्' कहा गया है।[1] 'कृत्य' शब्द का प्रयोग भी किसी अभिचारीय टोने के रूप में किया गया है। शतपथ में एक स्थान पर वर्णित है कि देवों ने असुरों द्वारा उन पर किए गए अभिचार (कृत्य) के प्रभाव को इस यज्ञरूपी प्रति-अभिचार द्वारा दूर कर दिया।[2] इस प्रकार यज्ञ जहाँ एक ओर सृष्टि-विद्या का प्रकाशक विज्ञान है वहीं शत्रुओं के प्रति अभिचारित कृत्य भी है।

---

1. 'इदमहं ते वलगमुत्किरामि यन्मे निष्ठ्योयममात्यो निचखाम' (शतपथ 3, 5, 4, 10)
2. वही, 2, 4, 3, 11

विधि-निर्देश के विभिन्न अवसरों पर शकुन-सम्बन्धी आस्थाओं का भी प्रदर्शन उपलब्ध है। 'स्विष्टकृत' के लिए आहुति में से कुछ भी भाग न बचाए जाने पर अपशकुन-सम्बन्धी विचार द्रष्टव्य हैं—

"पर्याभूद्वाऽयमेककपालो मोहिष्यति राष्ट्रमिति"[1]

अर्थात् यह एककपाल उलट गया है। यह राष्ट्र को नष्ट कर देगा। यज्ञ-विधि के नियमों का उल्लंघन करने पर अपशकुन की आशंकाएँ की गई हैं कि 'उल्लंघनकर्ता का सबसे बड़ा पुत्र मर जाएगा, घर का मालिक मर जाएगा, पशु समाप्त हो जाएँगे अथवा परिवार बिना उत्तराधिकारी के रह जाएगा।'[2] त्रिरात्रयज्ञ में गोदान के अवसर पर कहा गया है कि 'यजमान द्वारा गाय छोड़ दी जाती है। यदि वह पूर्वाभिमुख हो जाती है तो यजमान को समझना चाहिए कि वह सफल होगा तथा यदि वह उत्तर की ओर उन्मुख हो जाती है तो उसे समझना चाहिए कि वह संसार में यशस्वी बनेगा इत्यादि।'[3] इसी प्रकार यूप की रचना करवाते समय उल्लेख है कि कपोती के आकार का यूप बनवाने वाला आयु से पूर्व मर जाता है। दृष्ट अपशकुनों के प्रतिकारस्वरूप किये गए अभिचार को 'प्रतिसर' कहा गया है।[4] इस प्रकार अभिचार एवं शकुन-अपशकुनों में भी तत्कालीन आर्यों की आस्था स्पष्ट दिखाई देती है।

जीवनोत्तर धारणाएँ

जीवनोत्तर धारणाओं के रूप में शतपथ में मृत्यु, स्वर्ग, पितृलोक, पुनर्जन्म एवं मोक्ष आदि की आस्थाओं के अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं जिनमें से कतिपय पर दृष्टि-विक्षेप आवश्यक है। शतपथ में कहा गया है कि संसार मृत्युसंयुत है। मृत्यु सौ प्रकार की होती हैं,[5] जिनसे बचने का प्रयास मानव को करना चाहिए। किन्तु जरावस्था के बाद की मृत्यु ही स्वाभाविक एवं वास्तविक मृत्यु है—

'एष वै मृत्युर्यत् संवत्सरः। एष हि मर्त्यानामहोरात्राभ्यामायुः क्षिणोति। अथ म्रियन्ते। तस्मादेष एव मृत्युः।[6]

---

1. श० ब्रा०, 2, 4, 3, 10
2. वही, 11, 5, 3, 8, 9; 11
3. वही, 4, 5, 8, 11
4. वही, 5, 2, 4, 20
5. वही, 10, 6, 5, 1
6. वही, 10, 4, 3, 1

पुरा-आयुष अर्थात् अकाल-मृत्यु का भी उल्लेख मिलता है।[1] मृत्यु की दार्शनिक व्याख्या के अनुसार सूर्य भी मृत्यु है—

'तद्वा एष एव मृत्युः...य एष तपति... सर्वा प्रजाः रश्मिभिः प्राणेष्व-भिहिता'।[2]

तथा देवता जो सूर्य के 'पराच्य' हैं, अमर हैं। इस मण्डलपुरुष (मृत्यु-रूपी सूर्य) के दक्षिण भाग में अवस्थित अक्षतपुरुष ही आत्मा है।[3] यह आत्मा अमर है अतः मृत्यु पाप्मा (झूठ) है।[4] शतपथ में सौ प्रकार की मृत्युओं में भूख को भी मृत्यु कहा गया है[5] अतः शतपथीय विचारधारा के अनुसार अमर आत्मा की कभी मृत्यु नहीं होती है। प्रस्तुत विचार स्वतः ही पुनर्जन्म की धारणा को जन्म दे देता है जिसका वर्णन शतपथ में मिलता है।

पुनर्जन्म—विचाररूप में पुनर्जन्म का उल्लेख सर्वप्रथम शतपथ में आता है।[6] उक्त है कि—

ये वैतत् कर्म कुर्वते-मृत्वा पुनः संभवन्ति[7]

मनुष्य मर कर पुनः जन्म लेता है। मनुष्य के तीन जन्म होते है—प्रथम, माता-पिता से, द्वितीय यज्ञ से, तथा तृतीय अग्निदग्ध हो जाने पर पुनः-संभव-रूप जन्म।[8] इस पुनः-संभूति की उपमा अत्यन्त सुन्दर दी गई है। यथा अहि केंचुली त्याग कर चल देता है तथैव आत्मा भी देह त्याग कर चल देती है।[9] वह निर्मुक्त आत्मा विजातीय देह में भी प्रवेश ग्रहण कर सकती है। उर्वशी की आत्मा ने हंसिनी में प्रवेश किया था।[10] जन्म को दुःख का कारण मानने की विचारधारा का संकेत भी शतपथ में मिलता है।[11] यही कारण है कि

1. श० ब्रा०, 2, 1, 4, 1
2. वही, 2, 3, 3, 7
3. 'स एष एव मृत्युः य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः। यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः स एष एवंविद आत्मा भवति।' (शतपथ, 10, 5, 2, 23)
4. वही, 10, 4, 4, 1
5. वही, 10, 6, 5, 1
6. राधाकुमुद मुकर्जी, हिन्दू सभ्यता (हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ 119
7. श० ब्रा०, 10, 4, 3, 10
8. वही, 11, 2, 1, 1
9. वही, 4, 6, 9, 13
10. वही, 11, 5, 1, 4
11. 'तप्तायनी मे असि इमामेवैतदाह अस्यां हि तप्त एति' (शतपथ, 3, 5, 1, 27)

जन्म लेते ही मनुष्य देवऋण, ऋषिऋण, पितृऋण, तथा मनुष्यऋण को चुकाना प्रारम्भ कर देता है।[1] ऋणी उत्पन्न होना स्पष्ट ही पुनर्जन्म की आस्था का परिणाम है जिसमें कर्मों का फल मिलना अवश्यम्भावी है। शतपथ (11, 7, 2, 4) में इस कर्म-फल का उल्लेख भी किया गया है।

अंधो वा स्रामो वा बधिरोवा पद्माहतो वा भविष्यतीति।

स्वर्ग : शतपथीय धर्म में स्वर्ग की कल्पना साकाररूप धारण कर चुकी थी। तत्कालीन आर्यों का विचार था कि इस लोक में किए गए श्रेष्ठ अथवा निम्न कर्मों के आधार पर ही मृतकों को इतर लोक में स्वर्ग मिलता था।[2] मृत व्यक्ति दूसरे लोक में 'सर्वतनु' जाता था तथा वहाँ पृथिवी-जन्य सुखों का उपभोग करता था।[3] यजमान इस लोक में यज्ञादि कर्म करके परलोक में पूर्ण सुखों का उपभोग करता है।[4] परलोक में ओजस्वी एवं श्रेष्ठतर जीवन व्यतीत करने की कल्पना तत्कालीन मानव को अत्यन्त सुखद प्रतीत होती थी जैसाकि गौरवीति शाक्त्य ने कहा था कि 'हम उस लोक में क्षत्रिय के समान जियेंगे।[5]

जिस प्रकार पृथिवीलोक की शक्ति मानव है, उसी प्रकार स्वर्ग की शक्तियाँ देवता हैं—

स्वर्गो वै लोको नाकः। देवा महिमानः।[6]

स्वर्ग को 'नाकः' कहे जाने का कारण इस शब्द के निर्वचन में निहित है। 'न अकः (वेदना) यत्र स नाकः' अर्थात् स्वर्ग में वेदना एवं कष्टों का नितान्त अभाव है।[7] स्वर्ग को संवत्सर का मध्य भी कहा गया है,[8] जहाँ संभवतः यह अभिप्राय हो कि काल (संवत्सर) के चक्रनेमिक्रम में मानव पृथिवी पर किए कर्मों का फल भोगने स्वर्ग में जाता है तथा पुनः पुण्यों का क्षय हो जाने पर पृथिवी पर जन्म लेता है। इस स्थिति में स्वर्ग की संवत्सर में मध्यस्थिति स्पष्ट है किन्तु

---

1. श० ब्रा०, 1, 7, 2, 1; तै० ब्रा०, 6, 3, 10, 5; अथर्ववेद, 5, 11, 7, 3
2. वही, 6, 2, 2, 27
3. वही, 5, 6, 1, 1
4. वही, 6, 5, 2, 3
5. वही, 12, 8, 3, 7
6. वही, 10, 2, 2, 2
7. वही, 8, 4, 1, 24
8. वही, 6, 7, 4, 11

प्रतिष्ठा पृथिवी को ही माना गया है।[1] लौटकर प्रत्येक को यहीं आना है। पृथिवी को प्रतिष्ठान मानते हुए भी तत्कालीन मानव ऊपर के लोकों की मधुर कल्पना का वितान बुना करता था। नक्षत्रों की कल्पना दर्शनीय है—

> नक्षत्राणि वै जनयः। ये हि जनाः पुण्यकृतः स्वर्गलोके यन्ति तेषामेतानि ज्योतींषि।[2]

प्रस्तुत शतपथीय कल्पना ही परवर्ती पौराणिक ध्रुव-कथा में ध्रुव तारे की कल्पना की स्रोतस्विता को प्रमाणित करती है। गाय की पूँछ पकड़ कर वैतरणी पार करने की पौराणिक कल्पना का उत्स भी शतपथ में ही है। घोड़ा स्वर्ग का मार्ग जानता है मनुष्य नहीं, अतः स्वर्ग जाने के लिए घोड़े की पूँछ पकड़ते हैं।[3] इसी प्रकार स्वर्ग जाने की योग्यता प्रतिपादक तुला का भी उल्लेख उपलब्ध है।[4] स्वर्ग के विपरीत नरक की कल्पना का सर्वथा अभाव आश्चर्य-जनक है। यह प्रतीत होता है कि तत्कालीन आर्य सुखद एवं मनोहर कल्पनाओं के द्वारा आत्मा को आनन्दित करने के पक्ष में थे। अतः भयंकर नारकीय कल्प-नाओं की ओर ध्यान आकर्षित नहीं हुआ था। मृत्यु, पुत्रोत्पत्ति का अभाव तथा रोगी होना ही उन्हें दुष्कर्मों का फल अनुभव होता था। उनकी आस्था थी कि स्वर्गलोक को प्राप्त न कर सकने वाले मृतक पितृलोक में निवास करते हैं।

पितृलोक—शतपथ में पितृलोक के सम्बन्ध में अधिक सुस्पष्ट विचार उप-लब्ध हैं। मृत व्यक्ति को 'प्रेत' कहा गया है।[5] यहाँ प्रेत में परवर्ती प्रेतात्मा का भाव भासित नहीं होता। मृत्यु के पश्चात् दाह-संस्कार सम्पन्न होने पर पापसंयुत व्यक्तित्व पितर् बनकर पितृलोक में बसते हैं।[6] पितरों की दिशा दक्षिण कही गई है।[7] देव अमरधर्मा हैं किन्तु पितर् मरणशील हैं।[8] कभी-कभी ऋतुएँ पितरों की प्रतीक कही गयी हैं। अंगिरा को पितर् कहा गया है तथा पितरों को देवता-तुल्य पूजे जाने का भाव भी मिलता है।[9]

---

1. श० ब्रा०, 6, 7, 3, 4
2. वही, 6, 5, 4, 8
3. वही; 13, 2, 3, 1
4. वही, 11, 2, 7, 33
5. वही, 10, 5, 2, 13
6. वही, 2, 1, 3, 4
7. वही, 2, 6, 1, 9
8. वही, 2, 1, 3, 4
9. 'यदि नाश्नाति पितृदेवत्यो भवति' (वही, 1, 1, 1, 9; 14, 2, 2, 4; 9, 4, 3, 8)

दक्षिण-दिशा के अतिरिक्त अवान्तर चार दिशाएँ भी पितरों का प्रतिनिधित्व करती हैं।[1] पितरों का राजा यम है। अन्य पितर् उसकी विश हैं।[2] प्रजापति ने जब सृष्टि रची तथा विधान तैयार किया तो पितरों के लिए भी नियम बना कि तुम मास में एक बार भोजन करोगे तथा चन्द्रमा तुम्हारी ज्योति रहेगा।[3] 'स्वधा' के द्वारा पितरों का अभिवादन किया जाता है तथा पितरों के निमित्त तैयार की गईं हवि को 'कव्य' कहा गया है।[4] शतपथ में 'घृतकुल्याओं' का उल्लेख मिलता है। ये घी तथा मधु की नदियाँ उस समय की कल्पना के अनुसार पितरों की ओर प्रवाहित होती थीं। इस प्रकार एक समृद्ध एवं ज्योतिपूर्ण लोक पितृलोक में बसने वाले पितरों के अस्तित्व में तत्कालीन आर्यों की गहरी आस्था थी जिन्हें वह समुचित आदर तथा श्रद्धा कव्यहवियों के रूप में प्रदान करते थे।

मोक्ष अथवा अमरत्व—शतपथ में पुरुषार्थ के रूप में 'मोक्ष' शब्द के अथवा मोक्ष-सम्बन्धी विचार के उल्लेख का सर्वथा अभाव है किन्तु अमरत्व के अनेक विचारों में मोक्ष की भावना का सूत्रपात दिखाई देता है। शाण्डिल्य के मतानुसार देह तथा आत्मा का भेद बाह्य तथा आन्तरिक का भेद है—

> बाह्यानि हि लोमानि, अन्तर आत्मा। यदीतरेण यदीतरेणेति
> ह स्माह शाण्डिल्यः।[5]

इस आन्तरिक आत्मा को बाह्य देह से मुक्ति दिलाने की विचारधारा का प्रारम्भ स्पष्ट दिखाई देता है। शतपथ में कहा गया है कि आत्मयाजी व्यक्ति की अहि-रूपी आत्मा मर्त्य शरीर को केंचुलीवत् त्याग कर मुक्त हो जाती है।[6] यहीं पर आत्मयाजी को देवयाजी से श्रेष्ठ भी कहा गया है। अग्निहोत्र से यजन करने वाला जरा तथा मृत्यु से छुटकारा पा लेता है।[7] यहाँ जरा से मुक्ति का अर्थ है इन्द्रियशैथिल्य, त्वचासंकुचन तथा मानसिक उन्मन आदि जरा-लक्षणों से मुक्त रहते हुए यावज्जीवन युवादेह की प्राप्ति, तथा मृत्यु से मुक्ति का तात्पर्य आवा-

1. श० ब्रा०, 1, 8, 1, 40
2. 'क्षत्रं वै यमो, विशः पितरः' (वही, 7, 1, 1, 4)
3. वही, 2, 4, 2, 2
4. वही, 1, 4, 5, 1; 2, 6, 1, 30
5. वही, 7, 5, 2, 43
6. 'स यथाऽहिस्त्वचो निर्मुच्येत् एवमस्यान्मर्त्याच्छरीरात्पाप्मनो निर्मुच्यते' (वही, 11, 2, 6, 13)
7. वही, 12, 4, 1, 1

गमन के चक्र से मुक्ति की भावना है क्योंकि शतपथ में 'अमरत्व' को ही सर्वोत्तम कहा गया है।[1] अतः यह कहा जा सकता है कि अमरत्व की सर्वोच्चता तथा पाप्मादेह से मुक्ति का प्रस्तुत भाव ही परवर्ती काल में मोक्ष को परम पुरुषार्थ स्वीकार करने में मूल प्रेरक भाव था।

धर्म एवं धार्मिक आस्था-सम्बन्धी उपर्युक्त विवरण के पश्चात् यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि शतपथ में यद्यपि धर्म के कर्मकाण्डीय पक्ष का निरूपण अधिक है किन्तु आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विचारों तथा सामान्य आस्थाओं ने भी उस निरूपण में अनुस्यूत एवं संग्रथित होकर धर्म का सांगोपांग चित्र प्रस्तुत कर दिया है जो यज्ञ-मूलक धर्म की सामर्थ्य एवं शक्तिमत्ता का द्योतक है। कर्म-प्रवृत्ति के साथ-साथ इन यज्ञों के रूप में भारतीय मानस द्वारा प्रसूत आध्यात्मिक एवं दार्शनिक चिन्तनाएँ अपने वैलक्षण्य के कारण नव-नव-अर्थोन्मेषिणी विवेचना की अपेक्षा रखती हैं।

---

1. 'तस्मादस्य सर्वस्यामृतमुत्तमम्' (श० ब्रा०, 8, 7, 4, 18)

तृतीय अध्याय

देव, मानव तथा असुर

देव

शतपथब्राह्मण का मूल प्रतिपाद्य यज्ञ-मीमांसा है। इसमें देवताओं का उल्लेख अथवा वर्णन यज्ञ के प्रसंग में ही होने के कारण उनके चरित्र एवं व्यक्तित्व का अनुपात, रूप तथा क्रम ऋग्वेद जैसा नहीं है। ऋग्वेद में देवों की प्रत्यक्ष स्तुति है। अतः उनकी व्यक्तिगत विशेषताएँ प्रकट होना स्वाभाविक है, किन्तु शतपथ में उन्हें प्रत्यक्ष संबोधित न करके या तो यज्ञ की सम्पन्नता हेतु उनका आह्वान किया गया है या निर्वचन एवं समीकरण द्वारा उनकी भौतिक या दार्शनिक व्याख्या (यज्ञ की प्रतिपादिका) प्रस्तुत की गई है अतः ऋग्वेद के महान् शक्तिसम्पन्न देवता यदि पराक्रम-युक्त क्रिया-कलापों के कर्त्ता हैं तो शतपथ में वे यज्ञिय हवियों के ग्राहक तथा यज्ञकर्ता यजमान की ऋद्धि-सिद्धि के वितरक हैं।

ऋग्वैदिक युग के अन्तिम चरण में सर्वदेववाद[1] की जिस प्रवृति का प्रारंभ परिलक्षित है, उसका पूर्ण परिपाक शतपथ में द्रष्टव्य है जहाँ सम्पूर्ण देवों को प्रजापति में अन्तर्भाव कर दिया गया है।[2] महान् देव[3] प्रजापति के नेतृत्व को प्राप्त देव-समाज की विशेषताओं के अध्ययन के लिए शतपथीय विचारधारा से अवगत होना अत्यावश्यक है।

देवताओं का आकलनात्मक विवरण

शतपथब्राह्मण में यद्यपि 3003 तथा 303 देवों की स्थिति का भी उल्लेख मिलता है किन्तु वस्तुतः 33 देवताओं की स्थिति को ही अंगीकार किया गया है।[4] विदग्ध शाकल्य द्वारा याज्ञवल्क्य से पूछे गए प्रश्नों के प्रत्युत्तर में इसी

1. हॉपकिंस, रिलीजन्स ऑफ इण्डिया, पृ० 153
2. 'सर्वं वै प्रजापतिः' (श० ब्रा०, 1, 3, 5, 10; 4, 5, 7, 2)
3. वही, 6, 1, 3, 16
4. वही, 11, 6, 3, 4-5

स्थल पर तैंतीस के पश्चात् पुनः तीन, दो, डेढ़ तथा एक देवता के अस्तित्व को स्वीकारा जाना 'सर्वदेववाद' की प्रवृत्ति का ही उदाहरण प्रस्तुत करता है। 3003 तथा 303 देवताओं के नाम पूछे जाने पर याज्ञवल्क्य द्वारा यही उत्तर दिया गया है कि 'ये देव न होकर उनकी महिमाएँ हैं।' नामोल्लेख केवल तैंतीस देवों का ही मिलता है जिन्हें तीन समूहों में विभक्त प्रदर्शित किया गया है—आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य तथा इन्द्र और प्रजापति।[1] इनमें अग्नि, पृथिवी, वायु, अंतरिक्ष, आदित्य, द्युलोक, चन्द्रमा तथा नक्षत्र 'वसु' हैं क्योंकि ये ही इस ब्रह्माण्ड की वसति (वस्तियाँ) हैं। पुरुष में स्थित दस प्राण तथा आत्मा रुद्र हैं क्योंकि जब ये मर्त्यों की देह से निकलते हैं तो रोने के कारण रुद्र कहे जाते हैं। संवत्सर के बारह मास ही आदित्य हैं क्योंकि ये सारे संसार को आत्मसात् (अद्=भक्षण से आदित्य) कहते हुए चलते हैं। स्तनयित्नु ही इन्द्र है तथा यज्ञ प्रजापति है।[2] उपर्युक्त प्रश्नोत्तरों[3] में ही याज्ञवल्क्य तीनों लोकों को त्रिदेव, अन्न तथा प्राण को द्विदेव, पवन को अध्यर्द्ध (क्योंकि इससे संसार ऋद्धि को प्राप्त होता है) तथा प्राण को एकदेव के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इन देव-समूहों के बारे में कुछ वेदज्ञों का विचार है कि शिव को रुद्रों तथा विष्णु को आदित्यों में सम्मिलित किया गया है। प्रत्यक्ष तैंतीस न कह कर एक स्थान पर ग्यारह के तिगुने देवता भी कहा गया है।[4] एक जगह उल्लेख है कि तैंतीस देवता हैं तथा चौंतीसवाँ प्रजापति स्वयं है।[5] अन्यत्र इसी कथन का स्पष्टीकरण भी किया गया है कि आठ वसु, ग्यारह रुद्र तथा बारह आदित्यों के अतिरिक्त द्यावा तथा पृथिवी बत्तीसवें तथा तैंतीसवें देवता हैं तथा चौंतीसवां प्रजापति।[6] ऐतरेयब्राह्मण[7] में बत्तीसवें तथा

---

1. श० ब्रा०, 11, 6, 3, 6-8; ऋग्वेद, 3, 6, 9 तथा अथर्ववेद, 10, 7, 13 में भी तैंतीस देवताओं का उल्लेख प्राप्त है।
2. वही, 6, 1, 2, 6। 'शब्दकल्पद्रुम' में वसु, रुद्र तथा आदित्यों का विवरण निम्नरूप में है—धर, ध्रुव, सोम, विष्णु, अनिल, अनल, प्रत्यूष तथा प्रभास आठ वसु; अज, एकपात्, अहिर्बुध्न, पिनाकी, अपराजित, त्र्यंबक, महेश्वर, वृषाकपि, शंभु, हरण तथा ईश्वर, एकादश रुद्र; विवस्वान्, अर्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, शक्र तथा उरुक्रम बारह आदित्य।
3. श० ब्रा०, 11, 6, 3, 4-5
4. वही, 12, 8, 3, 28। यही गणना-पद्धति ऋग्वेद, 8, 35, 3 में भी द्रष्टव्य है।
5. वही, 5, 3, 4, 23। इस प्रकार वस्तु-परिगणन के उपरांत सम्पूर्ण वस्तुओं की समाहारात्मक इकाई के रूप में एक अतिरिक्त संख्या गिनाने की प्रक्रिया शतपथ में अन्यत्र भी अनेक बार द्रष्टव्य है।
6. वही, 4, 5, 7, 2
7. ऐ० ब्रा०, 2, 37, 3, 22 तथा 1, 10, 2, 18

तैंतीसवें देवता वषट्कार एवं प्रजापति हैं। उपर्युक्त वर्गीकरण बत्तीसवें तथा तैंतीसवें देवताओं के बारे में मतैक्य स्थापित न करते हुए भी वसु, रुद्र तथा आदित्य के रूप में तीन सामूहिक देवों की सत्ता प्रतिपादित कर देता है। यही कारण है कि देवताओं की तीन संख्या को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया—

त्रया वै देवाः। वसवो रुद्रा आदित्याः।[1]
एते वै त्रया देवाः। यद् वसवो रुद्रा आदित्याः[2]।

निरुक्तकारों के मतानुसार भी देवता तीन हैं—अग्नि, इन्द्र तथा सूर्य—जिन्हें क्रमशः पार्थिव, मध्यमस्थानीय तथा दिव्य कहा गया है—

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानः
वायुर्वेन्द्रोवान्तरिक्ष स्थानः। सूर्यो द्युस्थानः।[3]

तैत्तिरीयसंहिता[4] तथा ताण्ड्यब्राह्मण[5] भी तीन देवों का समर्थन करते हैं किन्तु अंतिम देवता सूर्य न होकर विश्वेदेवा हैं। अथर्ववेद भी प्रस्तुत वर्गीकरण से सहमत है।[6] ऋग्वेद में भी इसी आशय का द्योतक संकेत उपलब्ध है[7] किन्तु उपर्युक्त मतैक्य में विशेष्य (देवता) की अपेक्षा विशेषण (संख्यावाचक) को महत्त्व एवं प्राथमिकता दी गई प्रतीत होती है।

शतपथ में एक स्थान पर ग्यारह देवों का भी उल्लेख है जो पाँच प्रयाज, दो आज्यभाग, स्विष्टकृत तथा तीन अनुयाज हैं। किन्तु इस प्रकार के विवरण ब्राह्मण ग्रंथों की उस बहुभक्तिवादिता का परिणाम है जिसका वर्णन निरुक्त ने सविस्तार प्रस्तुत किया है।[8] उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि तत्कालीन वेदज्ञों के लिए देवों से अधिक उनकी निश्चित संख्याएँ आप्त एवं अपरिहार्य थीं। फलस्वरूप सभी वैदिक ग्रंथों में संख्यागत एकता तो द्रष्टव्य है किन्तु देवों के

1. श० ब्रा०, 4, 3, 5, 1
2. वही, 1, 5, 1, 17
3. निरुक्त, 7, 2, 1
4. तै० सं०, 1, 1, 4, 5
5. तां० ब्रा०, 6, 1, 6, 11
6. अथर्ववेद, 10, 9, 12
7. ऋग्वेद, 10, 158, 1
8. निरुक्त, 7, 3, 1

बारे में मतवैविध्य मिलता है। स्वयं शतपथ में भी देवों की संख्या का सापेक्षिक महत्त्व है अतः विभिन्न स्थानों पर पृथक्-पृथक् उल्लेख मिलना स्वाभाविक है।

देवों का मानवीकरण

प्राकृतिक शक्तियों एवं दृश्यों को चेतनवत् मानने के दृष्टिकोण ने देवों की कल्पना को जन्म दिया। इस प्रसंग में यह कहना आवश्यक है कि तत्कालीन आर्यों का प्रकृति के प्रति मानसिक दृष्टिकोण आज से सर्वथा भिन्न था। विश्व के रंगमंच पर घटित होने वाली प्राकृतिक घटनाओं तथा शक्तियों से जब मनुष्य का साक्षात्कार हुआ तो दैवीय कल्पनाएँ उभर कर आने लगीं, जिन्हें उपयुक्त एवं संगत सिद्ध करने के लिए मानवीकरण ही सहज एवं स्वाभाविक प्रक्रिया थी। शतपथ के वसु, रुद्र तथा आदित्य-सन्बन्धी उपर्युक्त चित्रण में देवों की उक्त प्रकृतिपरकता स्पष्ट परिलक्षित है, साथ ही अनेक स्थलों पर मानवीकरण के संकेत भी मिलते हैं अतः प्राकृतिक घटनाओं के मानवीकरण का प्रारंभिक रूप पारदर्शक की भाँति द्रष्टव्य है।[1] मानवीकरण की प्रक्रिया में देवों को शतपथ ने मरणशील माना है।[2] मरणशील का जन्म भी आवश्यक है, अतः संवत्सर को देवों का जन्म कहा गया है।[3] शतपथ में ही पुनः उनके अमर होने की चर्चा भी की गई है। प्रारंभ में देवता मरणशील थे। संवत्सर को प्राप्त कर लेने पर वे अमर हो गए।[4] देवों के परवर्ती अमरत्व की पुष्टि अथर्ववेद (11, 5, 19 तथा 4, 11, 6) तथा ऋग्वेद (4, 54, 2) द्वारा भी होती है। अथर्ववेद के अनुसार देवों ने यह अमरत्व ब्रह्मचर्य एवं तप के द्वारा प्राप्त किया था। तैत्तिरीयब्राह्मण[5] में भी उक्त संकेत प्राप्त है। ऐतरेयब्राह्मण (8, 14, 4 तथा 3, 4) में इन्द्र तथा अग्नि को पृथक् रूप में मरणधर्मा कहा गया है। इस प्रसंग में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शतपथ का वह उल्लेख है जहाँ प्रजापति के आधे भाग को मर्त्य तथा आधे भाग को अमर्त्य दर्शाया गया है।[6] इन सभी उल्लेखों से प्रकट है कि देवों का अमरत्व जन्म-सिद्ध न होकर उपार्जित तथ्य है जिसे उन्होंने सोम-पान,[7]

---

1. ए० मैक्डॉनल, वैदिक मिथॉलॉजी, पृ० 3
2. श० ब्रा०, 10, 4, 3, 3
3. 'संवत्सरो वै देवानां जन्म' (वही, 8, 7, 3, 21)
4. वही, 11, 1, 2, 12
5. तै० ब्रा०, 3, 12, 3, 1
6. श० ब्रा०, 10, 1, 3, 1
7. वही, 9, 5, 18, 1 तथा अथर्ववेद, 9, 106, 8

यज्ञ-कर्म[1], ब्रह्मचर्य तथा तप[2] अथवा सविता एवं अग्नि के वरदान[3] द्वारा प्राप्त किया था। यज्ञविशेष के द्वारा अमरत्व प्राप्त करने के कारण देवताओं को 'गातुविद' विशेषण मिला।[4] प्रजापति ने अग्नि, इन्द्र तथा सोम का सृजन किया,[5] साथ ही परमेष्ठी प्राजापत्य के रूप में नए देवता का प्रादुर्भाव हुआ। एक स्थान पर शिपिविष्ट[6] देवता की भी कल्पना की गई है। प्रजापति ने जितने भी देवता सिरजे उन्हें यज्ञ-रूपी अन्न भेंट कर चार तत्त्व प्रदान किए—अमृत, ऊर्जा, सूर्य तथा ज्योति—

यज्ञो वो अन्नं अमृतत्वं वः, ऊर्ग्वः सूर्यो वो ज्योतिः[6]।

अग्नि-रूपी मुख से प्राणों के द्वारा देवता अन्न का भक्षण करते हैं, अतः देवता अग्नि-मुख कहे गए हैं।[7]

'तस्माद्देवा अग्निमुखा अन्नमदन्ति, प्राणेन वै देवा अन्नमदन्ति

छन्दों के द्वारा देवों ने स्वर्ग प्राप्त किया था।[8] ऊपर कहा गया है कि प्रजापति ने देवों को यज्ञरूपी अन्न प्रदान किया था। शतपथ में देवों द्वारा कुरुक्षेत्र की पवित्र भूमि पर यज्ञ किए जाने का स्पष्ट संकेत मिलता है—

अग्नि इन्द्र सोम मख विष्णु विश्वेदेवाः। तेषां कुरुक्षेत्रं देवयजनमास।[9]

प्रस्तुत उल्लेख देवों के मानवीकरण की चरम स्थिति का द्योतक है। साथ ही इसमें किसी ऐतिहासिक घटना का संकेत भी दिखाई देता है। इनके अतिरिक्त देवों के विविध आयुधों, रथों, वाहनों, पौरोहित्य आदि का प्रासंगिक उल्लेख भी मिलता है जिनका यथा-स्थान वर्णन किया जायेगा। देवों की सोम पीने की प्रवृत्ति भी मानव-प्रवृत्ति है जिसका पुनः-पुनः वर्णन किया गया है। निष्कर्षतः शतपथ में देवों का मानवीकृत तथा प्रकृतिगत दोनों स्वरूप सुस्पष्ट रेखाओं से

---

1. तै० सं०, 7, 4, 2, 1
2. अथर्ववेद, 11, 5, 19; 4, 11, 6
3. ऋग्वेद, 4, 52, 2; अथर्ववेद 4, 23, 6
4. श० ब्रा०, 1, 9, 2, 28
5. वही, 11, 1, 6, 14
6. वही, 2, 4, 2, 1
7. वही, 7, 1, 2, 4; 10, 1, 4, 12
8. वही, 5, 3, 2, 5
9. वही, 14, 1, 1, 1

विभाजित दृष्टिगत हैं अतः पौराणिक देवों के विश्लेषणात्मक अध्ययन के लिए शतपथ कुंजी का काम कर सकता है।

देवों की मानवेतर विशेषताएँ

शतपथ में मनुष्यों को यदि अनृत् कहा गया है तो देवों को सत्य। अनृत् नष्ट हो जाता है किन्तु सत्य नष्ट नहीं होता।[1] सत्य के अधिष्ठाता होने के कारण ही संभवतः इन्होंने मनुष्यों की अपेक्षा अमरता प्राप्त की। श्रम तथा तप ने, जिसका शतपथ पुनः-पुनः यशोगान करता है, देवों को मृत्यु पर विजयी बनाया। देवता नैतिक दृष्टि से उच्च, सत्यवादी एवं कपटरहित हैं।[2] ऋग्वैदिक देवता महान् एवं शक्तिशाली तो थे किन्तु वरुण के अतिरिक्त अन्य देवों का नैतिक धरातल अधिक ऊँचा नहीं था। शतपथ के समय तक, संभवतः सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तन के कारण, नैतिक आचरण की उच्चता की अपेक्षा की जाने लगी। मनुष्यों को अनृत् तथा देवों को सत्य कहा जाना इसी परिस्थिति का प्रतिफलन ज्ञात होता है। देवों की एक अन्य विशेषता है कि वे मनुष्यों से तिरोहित रहते हैं।[3] देवता मनुष्यों के मन की बात जान लेते हैं[4] अर्थात् मानसिक आचरण का संदेश देवों के पास स्वतः पहुँच जाता है। इनके अतिरिक्त परोक्षप्रियता भी देवों की एक विशेषता है[5] जिसके अनुसार वे प्रत्यक्ष कथन के द्वेषी कहे गए हैं। देवता प्रकृति के नियमों (ऋत) का उल्लंघन नहीं करते।

देवों की उक्त सामान्य विशेषताओं के अतिरिक्त पृथक् रूप में भी कतिपय विशेषताएँ दिखाई देती हैं जिनका ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। यास्क[6] ने तीन प्राकृतिक आधारों (द्युः, अन्तरिक्ष तथा पृथिवी) के अनुसार देवों को तीन वर्गों में विभाजित किया है। शतपथ में कतिपय देवों के अतिरिक्त अन्य के आवास-स्थलों के संकेत के अभाव में यह विभाजन ग्राह्य नहीं हो सकता है। शतपथ के वरुण, रुद्र, आदित्य आदि देवसमूह भी सम्पूर्ण देवों को स्वयं में

---

1. श० ब्रा०, 1, 1, 2, 17
2. बर्गेन, लॉ रिलीजन वैदिके, भाग 3, पृ० 199
3. 'तिर इव वै देवा मनुष्येभ्यः' (श० ब्रा०, 3, 1, 2, 8)
4. 'मनो ह वै देवा मनुष्यस्याजानन्ति' (वही, 1, 1, 1, 7)
5. वही, 7, 4. 1, 16 : परोऽक्षकामा हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः।
6. द्रष्टव्य, डॉ० सूर्यकान्त, वैदिक देवशास्त्र, भूमिका, पृ० 37-40

समाहित करने में असमर्थ रहे हैं अतः उक्त वर्गीकरण के अनुसार भी विवरण अधूरा रहना संभव है। शतपथब्राह्मण में देवों की महत्ता यज्ञ-सापेक्ष्य है अतः इसी दृष्टि से वर्गीकरण करना उचित प्रतीत होता है। श्री नाथूलाल पाठक ने इस दृष्टि से देवों का बहुस्तुत, अल्पस्तुत तथा अत्यल्पस्तुत त्रिविध वर्गीकरण किया है।[1] ब्राह्मणों में देवों की स्तुति की अविद्यमानता के कारण प्रस्तुत वर्गीकरण औचित्य की सीमा से परे है, अतः बहुमानित, अल्पमानित तथा अत्यल्पमानित देवों के रूप में वर्गीकरण संभव है अथवा प्रमुख, गौण एवं गौणतर रूप में भी क्रमशः वर्गीकरण किया जा सकता है। इस दृष्टि से प्रजापति, अग्नि, इन्द्र, सोम तथा विष्णु प्रथम वर्ग, सविता, सूर्य, आदित्य, वरुण, बृहस्पति, वायु, रुद्र, मरुत्, अश्विन, विश्वेदेव द्वितीय वर्ग तथा अवशिष्ट देवी-देवता तृतीय वर्ग में समाहित हो सकते हैं जिनका विस्तृत विवरण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रजापति

ऋग्वेद में अत्यल्पस्तुत प्रजापति[2] शतपथ में परम महत्त्व को प्राप्त सर्वश्रेष्ठ देवता हैं। शतपथ में उक्त तैंतीस देवों की सूची में यद्यपि प्रजापति का नाम नहीं है किन्तु चौंतीसवें देवता प्रजापति हैं।[3] संभवतः तैंतीस देवों के देवत्व की समष्टि के अधिष्ठाता के रूप में समाहारात्मक दृष्टिकोण से प्रजापति को चौंतीसवाँ देव कहा गया है। प्रजापति में जब इच्छा का बीज अंकुरित हुआ तो उसने कामना की कि 'मैं अन्नाद हो जाऊँ।'[4] तैंतीस देवों के रूप में विभक्त होकर प्रजापति जब अन्नाद बन जाता है[5] तो वह इच्छा (मनस् का बीज) साकार हो उठती है। वह साकारत्व ही चौंतीसवाँ प्रजापति है। शतपथ में ही जहाँ तीन देवों का उल्लेख तीनों लोकों के प्रतिनिधि के रूप में किया गया है वहाँ प्रजापति को चतुर्थ देवता कहा गया है।[6] उपर्युक्त समाहार-प्रक्रिया के अनुसार ही यहाँ

1. ऐतरेय ब्राह्मण एक अध्ययन, पृ० 171
2. ऋग्वेद, 4, 53, 2; 9, 5, 9 में प्रजापति क्रमशः सविता और सोम की उपाधि है तथा 10, 121 में सूक्त के अन्त में इसका आह्वान सर्वोच्च देवता के रूप में किया गया है।
3. श० ब्रा०, 4, 5, 7, 2
4. वही, 2, 4, 4, 1
5. अग्नि देवों का मुख हैं। देवों के निमित्त दी गई आहुति अग्नि में ही गिरती है अतः देवों का, फलतः प्रजापति का भी अन्नाद होना सिद्ध है।
6. श० ब्रा०, 4, 6, 1, 4

प्रजापति चतुर्थ देवता है।[1] प्रजापति देवों की आत्मा है।[2] आत्मा तथा आत्मावान् का ऐक्य होते हुए भी आत्मा की पृथक् स्थिति द्रष्टव्य है अतः प्रजापति देवों की समष्टिरूप में पृथक् देवता हैं। प्रजापति को देवों का पिता भी शतपथ (11, 1, 6, 14) में कहा गया है अतः पिता-पुत्र की पृथक् इकाई के रूप में भी पार्थक्य स्पष्ट है। प्रजापति निर्वैकल्पिक आदि स्रष्टा हैं।[3] ऋग्वेद (10, 85, 43) तथा अथर्ववेद[4] में भी इनका सम्बन्ध प्रजा एवं प्रजनन से है। शतपथ में ये असुरों तथा देवों दोनों के पिता हैं।[5] प्रजापति ने प्रजा को उत्पन्न किया।[6] प्रजापति ही विश्वकर्मा है क्योंकि सम्पूर्ण (विश्व) कार्य(कर्म) उसके द्वारा ही किया जाता है।[7] प्रजापति ही भरत (अग्नि) है (6, 8, 1, 14)। वह संवत्सर तथा यज्ञ भी है। संवत्सररूप प्रजापति ने उषस् में गर्भ स्थापित कर 'कुमार' को जन्म दिया। वह वाक्पति एवं चितपति है (श० ब्रा०, 3, 1, 3, 22)।

शतपथ में प्रजापति के द्वारा विभिन्न सृष्टियों की उत्पत्ति का विचार प्रदर्शित किया गया है।[8] प्रजापति सर्वप्रथम याज्ञिक है।[9] मृगशिरा एवं रोहिणी नक्षत्रों की निर्वचना हेतु प्रजापति के अपनी पुत्री उषस् पर आसक्त हो जाने की पुराकथा भी प्राप्त है।[10] शतपथ में प्रजापति को पुनः-पुनः अनिरुक्त कहा गया है।[11] उसे प्रश्नवाचक 'कः'[12] संज्ञा भी संभवतः इसीलिए दी गई है कि अनिर्वच होने के कारण वह सदा प्रश्नवाचक ही बना रहता है। शतपथ (6, 2, 2, 2) में प्रजापति को तूपर (विषाणरहित) विशेषण प्राप्त है। 'विषाण' पशुत्व का लक्षण-विशेष है (भर्तृहरिः नीतिशतक; साक्षात् पशुपुच्छ विषाणहीनः !) अतः प्रजापति को

---

1. परवर्ती दर्शनों (वेदान्त आदि) में भी चिन्तन की यह प्रक्रिया द्रष्टव्य है।
2. श० ब्रा०, 4, 5, 9, 2
3. वही, 6, 2, 2, 5
4. द्रष्टव्य, सेंट पीटर्सबर्ग कोश, वर्ण-क्रम स्थान पर 'प्रजापति'
5. श० ब्रा०, 1, 2, 5, 1; 11, 1, 8, 1 आदि
6. वही, 10, 1, 3, 2; 11, 4, 3, 1 आदि
7. वही, 8, 2, 1, 10। विश्वकर्मन् का ऋग्वेद के दसवें मण्डल में इन्द्र तथा सूर्य की उपाधि के रूप में तथा पृथक् उल्लेख मिलता है। शतपथ में प्रजापति के साथ समीकृत है।
8. द्रष्टव्य, इसी शोध-प्रबंध का सप्तम अध्याय
9. श० ब्रा०, 2, 4, 4, 1
10. वही, 1, 7, 4, 1
11. वही, 1, 1, 1, 13; 1, 6, 1, 20; 5, 3, 5, 3
12. वही, 7, 3, 1, 20

लक्षण-रहित कहा जाना भी इसी अभिप्राय का समर्थक है। अनिरुक्त होते हुए भी प्रजापति 'सर्वम्' हैं।[1]

अग्नि

शतपथ का यज्ञ से तथा यज्ञ का अग्नि से अभिन्न सम्बन्ध है। यज्ञ का परम साधन होने के कारण अग्निदेवता की विविध चारित्रिक विशेषताओं का प्रस्तुत ग्रंथ में प्रकट होना स्वाभाविक है। वैदिक ऋषि सबसे पहले घर्षण-जन्य (फिशनल) अग्नि को पूजते थे।[2] शतपथ में भी इस पूजा के संकेत उपलब्ध हैं (13, 5, 1, 15)।

अग्निदेवता के चरित्र का जितना समृद्ध एवं विविधतापूर्ण वर्णन शतपथ में मिलता है, अन्यत्र नहीं। प्रस्तुत ग्रंथ में अग्नि के भौतिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक एवं दैवीय सभी पक्षों पर प्रकाश पड़ता है। निर्वचनजन्य परिभाषा के अनुसार देवों में सबसे पहले उत्पन्न होने के कारण अग्नि को 'अग्नि' कहा जाता है—"स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्निः"[3] अथवा "तद्वा एनमेतदग्रे देवानामजनयत् तस्मादग्निः"। वह उत्पन्न होकर सबसे पहले प्रेरित हुआ, यही उसका अग्नीत्व है—

स जातः पूर्वः प्रेयाय सा उ एवास्य अग्निता।[4]

अग्नि का प्रजापति से सम्बन्ध उल्लेखनीय है। प्रजापति ने अग्नि को जन्म देकर उसे सहस्रायु प्रदान की।[5] अग्नि प्रजापति का पिता और पुत्र दोनों है।[6] वह स्वयं प्रजापति है क्योंकि अग्नि यज्ञ का भी प्रतीक है तथा यज्ञ प्रजापति का।[7] इसी प्रकार अग्नि को संवत्सररूप भी कहा गया है जो प्रजापति का भी समीकृत रूप है।[8] देवों से पलायित हो कर, जलों में प्रविष्ट अग्नि को प्रजापति ने शुक्ल अश्व के रूप में पुष्करपर्ण पर प्राप्त किया।[9] सृष्टिरचना के पश्चात् विस्रस्त प्रजापति

---

1. श० ब्रा०, 4, 5, 7, 2
2. गोविन्दकृष्ण पिल्लइ, हिन्दू गौड्स एण्ड हिडेन मिस्ट्रीज, पृ० 48
3. वही, 6, 1, 1, 11
4. वही, 2, 2, 4, 2
5. वही, 11, 1, 6, 14
6. वही, 6, 1, 2, 27
7. वही, 6, 1, 2, 13; 5, 2, 3, 6
8. वही, 9, 1, 1, 43
9. वही, 7, 3, 2, 14

को अग्नि ने ही संधित किया था।[1] संभवतः इसीलिए अग्नि को प्रजापति का पिता कहा गया है। अग्निवैश्वानर से 'संवत्सर' तथा 'प्रजापति' का तादात्म्य स्थापित कर उसके लिए द्वादशकपाल पुरोडाश का विधान इसलिए किया गया है कि संवत्सर में मासों की संख्या बारह है।[2] संवत्सर से अग्नि के साम्य का कारण है कि अग्नि संवत्सर का भी प्रेरक है, अतः वह 'गायत्री' भी है क्योंकि संवत्सर में 24 पक्ष हैं तथा गायत्री में 24 अक्षर। इस प्रकार प्रजापति, अग्नि तथा संवत्सर को सूत्रबद्ध कर दिया गया है।

यज्ञ की साधनारूप अग्नि त्रिविध है। गार्हपत्य, आहवनीय तथा दक्षिणाग्नि।[3] इन अग्नियों में ही आहुति डालने का विधान है। अग्नि के रुद्र, वरुण, इन्द्र तथा मित्र, चार स्वरूप हैं।[4] जब वेदी में अग्नि डाली जाती है तो सर्वप्रथम धूम्र उत्पन्न होता है। यह धूम्रयुक्त अग्नि ही रुद्र है। यह प्रदीप्त होने पर वरुण, अत्यधिक प्रज्वलित होने पर इन्द्र तथा घट कर शांत सी तिरछी जलने पर मित्र कहलाती है। प्रज्वलित अङ्गारों को 'ब्रह्म' कहा गया है। अग्नि ही 'विश्वकर्मन्' है क्योंकि सम्पूर्ण कर्म इसके द्वारा ही किये जाते हैं।[5] 'पशु' से संयुक्त होने पर अग्नि ही रुद्र बन जाता है। अग्नि से रुद्र बनने की कथा तैत्तिरीयसंहिता (1, 5, 1) में भी वर्णित है। शतपथ (1, 7, 3, 8) में वास्तुहवि (आहुतियों से अवशिष्ट) को ग्रहण करने वाला पशुओं का अधिपति रुद्र नामक अग्नि ही बताया गया है जिसे पूर्व के लोग 'शर्व' तथा वाहीक लोग 'भव' नाम से पुकारते थे किन्तु इसमें सर्वाधिक शुभ नाम अग्नि है। अग्नि का सोम से अन्नाद एवं अन्नरूपी सम्बन्ध है।[6] अग्नि की रश्मियाँ सूर्य के सदृश हैं क्योंकि यही अग्निदेव द्युलोक में आदित्य, अन्तरिक्ष में वायु तथा पृथिवी पर अग्निस्वरूप है तथा इन तीनों के संयुक्त रूप को ही 'विश्वज्योति' कहा गया है।[7] अग्नि ही तेज है।[8] अग्नि देवों का सेनापति (अनीकवत्), दूत, हव्यवाहक तथा होता है।[9] वह देवों

---

1. श० ब्रा०, 6, 1, 2, 16
2. वही, 5, 2, 5, 14-15
3. वही, 2, 3, 2, 2-6
4. वही, 2, 3, 2, 9-13; 5, 2, 4, 13
5. वही, 9, 2, 2, 2
6. वही, 11, 1, 6, 19
7. वही, 8, 6, 1, 16; 7, 1, 1, 24; 6, 3, 3, 16
8. वही, 3, 9, 1, 19
9. वही, 5, 3, 1, 1; 1, 4, 1, 34; 2, 6, 1, 30; 1, 5, 1, 5

का रथी तथा व्रतपति है।[1] व्रत के प्रभाव से वह देवों के जन्मजात शत्रु राक्षसों को मार कर भगा देता है अतः उसे 'रक्षोहा' या 'रक्षसामपहन्ता' भी कहा जाता है।[2] हव्यवाहक अग्नि कव्यवाहक भी है क्योंकि पितरों को 'कव्य' पहुँचाता है।[3] अग्नि को पवमान्, पावक तथा शुचि भी कहा गया है।[4] द्यौ का पुष्कर (कमल) यदि सूर्य है तो पृथिवी का पुष्कर अग्नि।[5] मनुष्यों में प्राणरूप तथा जलों एवं औषधियों में अन्तर्निहित अग्नि को क्रमशः नृषद्, अप्सुषद् तथा बर्हिषद् कहा गया है।[6] औषधिरूप अप्सराओं से मिथुनिकृत अग्नि गन्धर्व है।[7] त्रयीविद्यारूप 'ब्रह्म' अग्नि का मुख है अतः अन्यत्र अग्नि ब्रह्मचारी का आचार्य कहा गया है।[8] अग्नि दाता है।[9] वह गृहपति, विविचि, संवर्ग एवं शुचि है जिसके लिए अष्टकपाल पुरोडाश का विधान है।[10] 'पार्थ' नामक हवि भी अग्नि के लिए ही दी जाती है। अग्नि वाक् है। वही इसकी महिमा है।[11] संसार में जो कुछ 'चित्र' है वह अग्नि है। यजमान को यज्ञ के पथ पर ले जाने के कारण यह 'पथिकृत' है।[12] 'नराशंस' अग्नि का गुह्य रूप है। इसी नाम से यह पशुयज्ञ में सम्बोधित किया जाता है।[13] सुपर्ण के रूप में यह यज्ञ को द्युलोक में ले जाती है। कद्रूसुपर्णी की दार्शनिक व्याख्या के अनुसार अग्नि श्वेत अश्व है।[14] प्राणरूप पुरुष से उत्पन्न अग्नि ही चीयमान अग्नि है।

तीनों लोकों में स्थापित 'त्रिवृत्' अग्नि के स्थूल रूप में तीन भेद हैं— आमाद (भोजन बनाने की), क्रव्याद (मृतदेह जलाने की), तथा देवयाज (यज्ञ की अग्नि)[15]

---

1. श० ब्रा०, 1, 1, 1, 2; 1, 4, 2, 11
2. वही, 1, 2, 2, 13; 1, 6, 1, 16; 2, 4, 2, 15; 5, 2, 4, 12
3. वही, 2, 6, 1, 30
4. वही, 2, 2, 1, 6-8
5. वही, 4, 1, 5, 17
6. वही, 9, 2, 1, 8
7. वही, 9, 4, 1, 7
8. वही, 6, 1, 1, 10; 11, 5, 4, 2 : 'मुखं ह्येतदग्नेः यद् ब्रह्म'
9. वही, 5, 2, 5, 2; 11, 1, 4, 2
10. वही, 5, 4, 4, 22; 12, 4, 4, 2
11. वही, 2, 2, 4, 2; 6, 1, 2, 28
12. वही, 11, 1, 5, 5; 6, 1, 3, 20
13. वही, 1, 5, 1, 20
14. वही, 6, 1, 2, 36; 3, 6, 2, 5
15. वही, 1, 2, 1, 4

सहस्राक्ष अग्नि का सम्बन्ध हिरण्य से है। हिरण्य को अग्नि का बीज भी कहा गया है।[1]

अग्नि के चारित्रिक विवरण के माध्यम से कुछ ऐतिहासिक संकेत भी उपलब्ध हैं। अग्नि को पणियों ने छिपा लिया था।[2] प्रथम यज्ञकर्ता अंगिराओं ने अग्नि को दूत बनाकर आदित्यों के पास भेजा।[3] अग्नि ने पुरु नामक असुर-रक्षस् को युद्ध में परास्त किया।[4] एक स्थान पर उल्लेख है कि पूर्व दिशा को अग्नि द्वारा ही पहचाना गया था।[5] अग्नि ही प्रजापति के तेज को दक्षिण की ओर ले गया। दक्षिण में जहाँ तक अग्नि की पहुँच है, वह असुर-रक्षसों को दूर भगा देता है।[6]

इन्द्र

इन्द्र यज्ञ का देवता भी है तथा यजमान भी।[7] उसने वाजपेययज्ञ द्वारा प्रमुखता प्राप्त की थी अतः इन्द्र का सम्बन्ध 'क्षत्र' से है।[8] अग्नि यदि देवों की आत्मा है तो इन्द श्रेष्ठत्त्व।[9] असुर-रक्षसों के प्रवेश से घबरा कर देवों ने इन्द्र को महत्त्व दिया।[10] यहाँ इन्द्र को यद्यपि श्रेष्ठ कहा गया है किन्तु यह उपार्जित महिमा न होकर प्रदत्त महिमा है। ऋग्वेद-काल में व्यक्तिगत महान् कार्यों द्वारा उच्च प्रकर्ष को प्राप्त इन्द्र अब सामान्य देवों के हाथ की कठपुतली दिखाई देता है जो उसके चारित्रिक ह्रास को प्रतिबिंबित करता है। फिर भी शतपथ के समय तक इन्द्र में पूर्ववर्ती विशेषताएँ भी अवशिष्ट दिखाई देती हैं। इन्द्र को क्षत्र, धर्म तथा राजा कहा गया है।[11] वह दक्षिण-दिशा का रक्षक है। बृहस्पति की सहायता से इन्द्र ने दक्षिण-दिशा से असुर-रक्षसों को भगा दिया था।[12] अग्नि

---

1. श० ब्रा०, 5, 2, 3, 6; 9, 2, 3, 32
2. वही, 1, 8, 3, 22
3. वही, 3, 5, 1, 11
4. वही, 6, 8, 1, 14
5. वही, 3, 2, 3, 16
6. वही, 7, 4, 1, 39; 9, 2, 3, 6
7. वही, 2, 3, 1, 38; 3, 4, 3, 15
8. वही, 5, 1, 1, 6-11
9. वही, 3, 4, 2, 2
10. ऐ० ब्रा०, 1, 24 में राजा वरुण को यह महत्त्व सौंपे जाने का उल्लेख है।
11. श० ब्रा०, 13, 4, 3, 14
12. वही, 9, 2, 3, 3

तथा वरुण के साथ इन्द्र देवों का सेनापति है।[1] अन्यत्र अग्नि तथा सूर्य के साथ इन्द्र को भी देवों में महान् कहा गया है (5, 5, 4, 1)। इन्द्र द्वारा वृत्र को मारने का पुनः-पुनः उल्लेख किया गया है। त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को इन्द्र ही मारता है।[2] इन महान् कार्यों को वह सोम पीकर ही करता है। वृषभ इन्द्र का पशु है तथा वषट्कार शब्द उसका गर्जन।[3] पार्थ हवि का अग्नि के साथ-साथ इन्द्र से भी सम्बन्ध है। कामधेनु इन्द्र का विशेष भाग है।[4] मघवत् तथा हरिवन्त उसके विशेषण हैं।[5] इन्द्र को कौशिक तथा गौतम भी कहा गया है किन्तु उसका गुह्य नाम अर्जुन है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में यह एकाकी उल्लेख है।[6]

सोम

शतपथ ब्राह्मण के सोमयज्ञों में सोम देवता की अनिवार्यता के कारण सोम शतपथ के सर्वप्रमुख देवों में से एक है। सोम देवता का प्रजापति से समीकरण उसकी विशेष महिमा का द्योतक है—'सोमो हि प्रजापतिः' अथवा 'सोमो वै राजा यज्ञः प्रजापतिः।[7] यहाँ वरुण तथा इन्द्र के समान सोम को भी राजा कहा गया है अतः सोम इस प्रमुख 'देवत्रयी' का सदस्य है। सोम ब्राह्मणों का राजा है।[8] अग्नि तथा इन्द्र को समर्पित की जाने वाली 'पार्थ' हवि सोम को भी देने का विधान है। इस दृष्टि से अग्नि, इन्द्र तथा सोम का देवत्व समान हो जाता है।[9] सोम का पितरों से सम्बन्ध उल्लेखनीय है। पितृयज्ञ में सोम तथा अग्नि दोनों को हवि देने का विधान प्राप्त है।[10] अतिथियज्ञ में भी सोम को हवि दी जाती थी।[11] सोम तीनों लोकों की ज्योति तथा उत्तर दिशा का सम्राट् है।[12]

---

1. श० ब्रा०, 2, 6, 4, 1-4
2. वही, 5, 5, 4, 3
3. वही, 2, 5, 3, 18; 5, 3, 1, 3
4. वही, 4, 2, 3, 6
5. वही, 4, 5, 3, 4; 14, 1, 1, 13
6. वही, 5, 4, 3, 7; 3, 3, 4, 19
7. वही, 5, 2, 1, 26; 12, 6, 1, 1
8. वही, 5, 3, 3, 12
9. वही, 5, 3, 5, 4
10. वही, 2, 4, 2, 11; 2, 6, 1, 4
11. वही, 3, 4, 1, 3
12. वही, 3, 9, 4, 12; 8, 6, 1, 8

सोमदेवता का प्राकृतिक स्वरूप चन्द्रमा से समीकृत हैं। शतपथ में इसे देवों का अन्नरूप 'चन्द्रमा' ही कहा गया है—

एष वै सोमो राजा देवानां अन्नं यच्चन्द्रमाः[1]

सोम को वृत्र कहा जाना भी इसी अभिप्राय का द्योतक है क्योंकि वृत्र का समीकरण चन्द्रमा से अनेक बार किया गया है। हिलेब्राण्ट इसे निश्चित रूप में चन्द्रमा का ही प्रतिनिधि देवता मानते हैं।[2] अमावस्या के दिन चन्द्रमा (सोम) को वनस्पतियों में अन्तर्निहित कहा गया है इसीलिए सोमदेवता वनस्पतियों के भी अधिपति हैं तथा वनस्पतियाँ 'सौम्य' भी इसी कारण कहलाती हैं।[3] स्वर्ग से भी सोम का सम्बन्ध है (3, 4, 3, 13)। वरुण के अभिषेक के समय यज्ञरूप विष्णु के उससे पृथक् हो जाने पर सोम ने वरुण को सहायता दी थी। सोम को एक स्थान पर वैष्णव-राजा कहा गया है जिसकी प्रजा अप्सराएँ थीं। सम्भवतः यह किसी प्रसिद्ध आख्यान की प्रथम पंक्ति है।[4] शतपथ[5] में उल्लेख है कि अश्विन् सोम को नमुचि असुर से लाए थे जिसे सरस्वती ने इन्द्र के लिए तैयार किया। इस प्रकार वनस्पतिरूप सोम के दो भेद हैं—सुत तथा असुत। स्वर्भानु असुर ने जब सूर्य पर प्रहार कर अन्धकार उत्पन्न कर दिया था तब सोम तथा रुद्र ने उसे दूर किया।[6] यहाँ भी सोम का चन्द्रमारूप ही प्रत्यक्ष है। सूक्ष्मरूप सोम को 'अप्तुः' कहा गया है (3, 6, 3, 8)। यज्ञ में प्रयुक्त सोम के पौधों को ग्रावा द्वारा अभिषुत किया जाता है। अभिषवण से पूर्व इसके क्रय किये जाने की प्रतीकात्मक विधि प्रचलित थी।[7] सोम के स्थानापन्न पौधों के नामोल्लेख से यह स्पष्ट है कि पौधे के रूप में सोम के अभाव ने इसके दैवीय स्वरूप को और अधिक दिव्य बना दिया।

ऋग्वेद का अत्यल्पस्तुत गौण देवता विष्णु शतपथ में परम महान् देवता है। विष्णु को पुनः-पुनः 'यज्ञरूप' कहा जाना इस देवता के प्रवर्द्धित यश का

---

1. श० ब्रा०, 1, 6, 4, 5; 10, 4, 2, 22; 11, 1, 4, 4
2. हिलेब्राण्ट, वेदिशे मिथॉल़ाजी, पृ०, 309
3. श० ब्रा०, 1, 6, 4, 15; 12, 1, 1, 2
4. वही, 8, 6, 1, 8
5. वही, 5, 4, 5, 1; 13, 4, 3, 8
6. वही, 5, 3, 2, 2
7. वही, 5, 4, 5, 15; 12, 8, 2, 14

द्योतक है ।[1] यज्ञ का आधा भाग विष्णु का है—

अग्निर्वै यज्ञस्यावराध्यों विष्णुः परार्ध्यः[2]

विष्णु

विष्णु का यज्ञ से प्रस्तुत तादात्म्य ही देवतारूप में इसके पौराणिक विकास की स्रोतस्विता को प्रस्तुत करता है। शतपथ के प्रथम काण्ड में ही विष्णु की वामनावतार-कथा का सूत्र मिलता है। यज्ञरूप विष्णु ने तीन क्रमों द्वारा तीनों लोकों को विक्रान्त कर लिया ।[3] विष्णु देवों में अवर (श्रेष्ठ) है ।[4] वरुण का सहायक है। प्रजापति ने विष्णु के क्रमों की सहायता से ही प्रजा का सृजन किया था ।[5] विष्णु को 'प्रादेशमात्र' कहा गया है ।[6] शतपथ में 'पुरुष' भी प्रादेशमात्र ही वर्णित है तथा 'पुरुष' का नारायण के रूप में भी प्रासंगिक उल्लेख किया गया है। नारायण का विष्णु से संयुक्त होकर नररूप में अवतरित होने का मूल शतपथ के उक्त प्रसंगों में सहज ही ढूंढा जा सकता है। शतपथ के चौदहवें काण्ड (1, 1, 6) में विष्णु जब धनुष ग्रहण करते हैं तो अनायास ही धनुर्धर राम का स्मरण हो आता है।

विष्णु को सोम से भी समीकृत किया गया है ।[7] निरुक्त (7, 3) में विष्णु के संस्तविक (सहकारी) देवों में से एक सोम भी है। यह तथ्य इस अभेद मैत्री का समर्थन करता है। नरंधिष, आप्रीतप तथा शिपिविष्ट, विष्णु के विशेषण हैं[8] जिनमें से अन्तिम को आचार्य औपमन्यव निन्दित अर्थ वाला कहते हैं ।[9]

वरुण

ऋग्वेद के प्रमुख देवों, इन्द्र तथा अग्नि की पंक्ति में आसीन वरुण देवता

---

1. 'यज्ञो वै विष्णुः' (वही, 1, 1, 3, 1; 1, 4, 5, 2)
2. वही, 3, 1, 3, 1
3. वही, 1, 1, 2, 13
4. वही, 5, 2, 3, 6
5. वही, 6, 7, 2, 12
6. 'प्रादेशमात्रो वै गर्भो विष्णुः' (वही, 6, 5, 2, 8)
7. वही, 3, 6, 3, 9
8. वही, 12, 6, 1, 12
9. निरुक्त, 5, 2

(गोविन्दकृष्ण पिल्लइ, हिन्दू गोड्स एण्ड हिडेन मिस्ट्रीज, पृष्ठ 79) की विशेषताएँ शतपथ में यद्यपि अपरिवर्तित हैं किन्तु वर्णन का अनुपात अपेक्षाकृत अल्प है। इन्द्र तथा सोम की तरह वरुण भी देवों का राजा है। उसके अभिषेक का भी वर्णन मिलता है।[1] सम्भवतः इन्द्र कालविशेष के लिए निर्वाचित राजा था तथा वरुण सार्वकालिक। राजा वरुण को गन्धर्वों का भी राजा कहा गया है।[2] अग्नि तथा इन्द्र के साथ वह देवों का सेनापतित्व भी करता है। यह देवों का प्रेरक है।[3] मेष इसका पशु है। वरुण ने सूर्य के लिए मार्ग प्रशस्त किया है।[4] मित्र तथा वरुण को क्रमशः प्राण तथा अपान से भी समीकृत किया गया है। पिंगाक्ष होने के कारण वरुण को 'जुम्बक' भी कहा गया है (13, 3, 6, 5)। वरुण 'धर्मपति' हैं तथा धर्म-धारक होने के कारण वे 'क्षत्र' भी कहे गए हैं।[5] वरुण के पाश "वरुण्या" से प्रजा के मुक्त किये जाने का भी उल्लेख मिलता है।[6] संसार में दुर्भाग्य का कारण यह वरुणपाश ही है—

यद्वा इन्द्र किंवाच्र्छति-वरुण एवेदं सर्वमार्पयति

अतः उक्त धर्मपति विशेषण वरुण को राजा के साथ-साथ न्यायकर्ता की पीठिका भी प्रदान करता है। वरुण-सम्बन्धी उपाख्यान में वरुण-पुत्र भृगु, पिता से भी बढ़ कर विद्यावान् वर्णित है।

सविता, सूर्य तथा आदित्य

देवों को महान् कार्यों के लिए प्रेरणा देना सविता देव का प्रमुख कर्तृत्व है। यही उनका देवत्व भी है—"सविता वै देवानां प्रसविता।"[7] बृहस्पति जब प्रेरणा-रहित हो गया तो उसे प्राप्त करने के लिए सविता की ओर दौड़ा।[8] सविता यज्ञ का मन तथा प्राण है। ऋग्वेद की भाँति इसे हिरण्यपाणि भी कहा गया है।[9]

---

1. 'वरुणो वै देवानां राजा' (श० ब्रा०, 12, 8, 3, 10; 13, 4, 3, 8)
2. वही, 13, 4, 3, 7
3. वही, 5, 3, 1, 5
4. वही, 4, 4, 5, 4
5. वही, 5, 3, 3, 9; 9, 4, 2, 16
6. वही, 2, 5, 2, 16; 3, 2, 4, 18
7. वही, 1, 1, 2, 17
8. वही, 1, 7, 4, 8
9. वही, 4, 4, 1, 1; 1, 2, 1, 19

प्रस्तुत विशेषण सविता तथा सूर्य के समीकृत रूप को प्रस्तुत करता है। सूर्यदेव ही जब प्रेरक का कार्य करते हैं तो 'सविता' कहलाते हैं तथा अदिति के पुत्र होने के कारण 'आदित्य'।[1] अग्नि, वायु तथा आदित्य ही विश्वज्योति हैं।[2] सूर्य की किरणें सब कुछ पवित्र बना देती हैं तथा इसकी रश्मियाँ ही विश्वेदेवता हैं।[3] सूर्य सम्पूर्ण ऋतुओं का प्रतीक है, इसका उदय वसन्त, संगव ग्रीष्म, मध्यं-दिन वर्षा, अपराह्ण शरद् तथा अस्तकालीन स्थिति ही हेमन्त ऋतु है।[4] वस्तुतः आदित्य ही महान् है।[5] वही एकमात्र देवता है। तेंतीस देवों की कोटि में आदित्य—समूहान्तर्गत देवों का वर्णन मिलता है। आदित्य को 'विवस्वान्' भी कहा गया है। प्राणों में वह 'व्यान' है। अदिति के आठ पुत्रों (आदित्यों) से सम्बन्धित उपाख्यान में 'मार्तण्ड' का अदिति द्वारा त्याग किसी विशेष घटना या दृष्टिकोण का प्रतीक है।[6]

बृहस्पति

बृहस्पति देवों के पुरोहित कहे गए हैं।[7] पुरोहितों में भी 'ब्रह्मा' से समी-करण द्रष्टव्य है। तैत्तिरीयसंहिता (1, 7, 1, 5) भी समर्थन करती है—"बृहस्पतिर्वै देवानां ब्रह्म"। शतपथ में अनेक स्थलों पर बृहस्पति को 'ब्रह्म' भी कहा गया है। यहाँ सम्भवतः 'ब्रह्म' अर्थ ही अभिप्रेत है। बृहस्पति वाक्-पति है।[8] वह 'द्युम्न' भी है।[9] यहाँ 'द्युम्न' से अभिप्राय वाणी का तेज ही है जिसके द्वारा उन्हें पौरोहित्य कर्म में सर्वोच्च 'ब्रह्मा' पद प्राप्त हुआ।

वायु

ऊपर उल्लेख हो चुका है कि वायु 'विश्वज्योति त्रिवर्ग' का सदस्य है।

---

1. श० ब्रा०, 3, 1, 3, 3
2. वही, 6, 3, 3, 16
3. 'एते वा उत्पवितारः यत् सूर्यस्य रश्मयः' (वही, 3, 9, 2, 12)
4. वही, 2, 2, 3, 9
5. वही, 10, 3, 4, 4
6. वही, 3, 1, 3, 2
7. 'बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोहितः' (वही, 5, 3, 1, 2)
8. वही, 5, 3, 3, 5
9. वही, 3, 1, 4, 19

शतपथ वायु की स्पष्ट व्याख्या करता है—[1] 'अयं वै वायु मातरिश्वा योऽयं पवते' अर्थात् यह अंतरिक्ष में (मातरि) बहती है (श्वसिति)। वायु को विश्व-कर्मा भी कहा गया है।[2] वायु भौतिक जगत् में बीज का विकर्त्ता है। यह देवों का 'नियुत्वत्' तथा अश्वों के समूह का वाहक है।[3] वायु प्रजापति का अर्द्धाङ्ग है।[4] यह प्राण है। अग्नि, वायु तथा आदित्य को क्रमशः भर्गः, महः, तथा यज्ञः कहा जाना वायु को शक्ति का प्रतीक सिद्ध करता है।[5] शतपथ में वायु देवता का विस्तृत वर्णन प्राप्त है किन्तु वर्णन का मुख्य आधार उसका भौतिक एवं वैज्ञानिक पक्ष है जिसमें वायु की अनिवार्यता को प्रतिपादित किया गया है।

मरुद्गण

शतपथ द्युतान-मारुतों को वायु के अर्थ में ही ग्रहण करता है—'यो वा अयं पवते एव द्युतानो मारुतः।'[6] ये ऋग्वेद में वर्णित मरुतों के वंशज प्रतीत होते हैं। मरुतों का गण है। मरुतों की क्रीड़ा का भी उल्लेख किया गया है जिससे सम्बन्धित उपाख्यान तैत्तिरीयब्राह्मण में मिलता है। वृत्रवध के समय भी इन्द्र के चारों ओर ये क्रीड़ा कर रहे थे तथा प्रशंसा कर प्रेरित भी करते जाते थे।[7] इन्द्र-मरुत् साहचर्य के अनेक प्रसंग मिलते हैं। निष्केवल्यसवन द्वारा जब इन्द्र वृत्र का वध करता है तो ये अश्वत्थ पर स्थित रहते हैं।[8] इन्द्र यदि 'क्षत्र' है तो मरुत् 'विश'।[9] अन्य देवों के साथ मरुतों का वर्षा से भी सम्बन्ध है।[10] यहाँ स्पष्टतः वर्षा लाने वाले वायु अर्थ में मरुतों को लिया है।

रुद्र

ऋग्वेद के अनुसार रुद्र मरुतों के पिता हैं।[11] रुद्र देवता का शतपथीय

---

1. श० ब्रा०, 6, 4, 3, 4
2. वही, 8, 1, 1, 7
3. वही, 6, 2, 2, 6
4. वही, 6, 2, 2, 11
5. वही, 12, 3, 4, 8
6. वही, 3, 6, 1, 16
7. वही, 2, 5, 3, 20; तै० ब्रा०, 1, 6, 7, 4
8. श० ब्रा०, 4, 3, 3, 6
9. वही, 3, 9, 1, 17
10. वही, 7, 2, 2, 10
11. ऋग्वेद, 1, 114, 6

विवरण ऋग्वेद से अत्यधिक भिन्न है यद्यपि साम्य के कतिपय संकेत भी मिल जाते हैं। रुद्र पशुओं का अधिपति है।[1] यह क्षत्रत्व से युक्त देवता है। देवों का अन्न अर्क है जिसके पर्ण पर रुद्र को हवि देने का विधान है।[2] एक जगह 'अर्क' के देवता को परंव्योमवासी कहा गया है।[3] अतः रुद्र देवता का आवास परम व्योम है। शतपथ (2, 6, 2, 3) में युद्ध प्रारम्भ करने से पूर्व रुद्र के लिए त्र्यम्बक-यज्ञ करने का आदेश दिया गया है। त्र्यम्बक हवि चौराहे पर भी रखी जाती थी। परवर्ती काल में त्र्यम्बक शिव का विशेषण बन गया। शतपथ के 'शतरुद्रिय' में रुद्र के शतपक्षों एवं उपाधियों का विस्तृत विवरण मिलता है। शतरुद्रिय में वर्णित रुद्र को 'अग्नि' कहा गया है।[4] रुद्र अग्नि का ही विशिष्ट रूप हैं। प्रजापति ने संवत्सर भर में 'कुमार' को जन्म दिया। वह जन्म लेते ही रुदन करने लगा अतः रुद्र कहलाया। यह रुद्र की निर्वचनात्मक व्याख्या है। सृष्टि के सृजन का कारण अग्नि है अतः रुद्र अग्निरूप है। रुद्र अग्नि के शर्व, भव तथा पशूनांपति, तीन अन्य नाम कहे गये हैं।[5] वसु, रुद्र तथा आदित्य देवसमूहों में ग्यारह रुद्रों के नाम दस पुरुषस्थित प्राण तथा एक आत्मा गिनाए गए हैं।[6] इस प्रकार अग्नि से संयुक्त रुद्र में अनेक विशिष्ट पक्षों का विकास द्रष्टव्य है।

पूषन्

पूषन देव का सम्बन्ध भी पशुओं से है।[7] वह 'भागदुघ' (वितरक) है अतः उसके दो हाथ कहे गये हैं।[8] पूषन् 'अदन्तक' (दाँतों से विहीन) है। मार्गों के रक्षक पूषन् को पृथ्वी से समीकृत किया गया है।[9] वायु पूषन् की गति है। पूषन् ही 'विश्वेदेवा' है, यह भी कहा गया है।

---

1. श० ब्रा०, 12, 7, 3, 20
2. वही, 9, 1, 1, 4; 12, 8, 1, 2
3. वही, 8, 6, 2, 19
4. वही, 5, 2, 4, 13
5. वही, 1, 7, 3, 8
6. वही, 11, 6, 3, 7
7. वही, 3, 9, 1, 12; 5, 2, 5, 8
8. वही, 1, 1, 2, 17
9. वही, 3, 2, 4, 19; 1, 7, 4, 7

विश्वेदेवाः

विश्वेदेव शतपथ में बृहस्पति के साथ 'घर्म' नामक हवि ग्रहण करते हैं ।[1] प्रारम्भ में 'विश्वेदेवाः' से तात्पर्य 'शेष सम्पूर्ण देवता' था । सूर्य की रश्मियों तथा ऋतुओं आदि को भी 'विंश्वेदेवाः' कहा गया है ।[2] पुनः ये 'विश' का प्रतिनिधित्व करने वाले पृथक् देवता के रूप में स्थापित हो गए । वाक् से उत्पन्न विश्वेदेव चन्द्रमा के साथ दिशाओं में स्थापित हुए ।[3] प्राण ही विश्वेदेव हैं । इन्हें मरुतों का सलाहकार कहा गया है । ऋभुओं तथा विश्वेदेवों को भूतप्राणियों से सम्बद्ध कहा गया है ।

अश्विन्

अश्विनों का युग्म है । इन्हें शतपथ अधिकतर भिषगों के रूप में ही प्रस्तुत करता है । 'नमुचि' के साथ ये सोम पीते हैं । नमुचि असुर के द्वारा शक्तिरहित किये जाने पर इन्द्र को इन्होंने पुनः शक्ति प्रदान की थी ।[4] ये देवों के अध्वर्यु हैं । धरती पर चिकित्सा करते हुए घूमते हैं ।[5] इन्हें द्यौ तथा पृथिवी से समीकृत किया गया है ।[6] ऋग्वेद (6, 70, 5) में मधु मिलाने के लिए द्यावा-पृथिवी द्वारा इनके आह्वान में इस समीकरण का सूत्र मिलता है ।

देवताद्वन्द्व

शतपथ ब्राह्मण में वर्णित देवता द्वन्द्वों में इन्द्र-अग्नि, अग्नि-सोम, अग्नि-आपस्, इन्द्र-विष्णु तथा द्यावा-पृथिवी मुख्य हैं । प्रजापति की दो भुजाओं के प्रतीक इन्द्राग्नि क्रमशः वीर्य एवं तेजस्वरूप हैं ।[7] क्षत्र तथा ब्रह्म हैं । अग्नि वसुवनि (धन लेने वाला) है तो इन्द्र वसुधेय (धन धारण करने वाला) ।[8] इन्द्र तथा अग्नि ही प्राण एवं उदान हैं ।[9]

---

1. श० ब्रा०, 14, 2, 2, 10
2. वही, 12, 4, 4, 6; 7, 1, 2, 1
3. वही, 6, 1, 2, 10
4. वही, 5, 5, 4, 25; 12, 7, 1, 14
5. वही, 4, 1, 5, 8
6. वही, 4, 1, 5, 16
7. वही, 2, 5, 4, 8; 7, 4, 1, 43
8. वही, 1, 8, 2, 16
9. वही, 2, 5, 2, 8

अग्नि तथा सोम का भी महत्त्वपूर्ण युग्म है। सम्पूर्ण पृथिवी पर दो ही तत्त्व हैं—आग्नेय तथा सौम्य—

द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति, आर्द्रं चैव शुष्कञ्च यच्छुष्कं तदाग्नेयं, यदार्द्रं तत्सौम्यं···

दोनों तत्त्व सूर्य तथा चन्द्रमा से सम्बद्ध हैं—

सूर्य एवं आग्नेयश्चन्द्रमासौम्यः[1]

सूर्य तथा चन्द्रमा देवता हैं तथा अग्नि-सोम इनकी प्रकृति। किन्तु महान् ऐश्वर्यशाली देवों की प्रकृति या विभूति भी देवता ही कहलाती है।[2] सोमयज्ञ में दोनों को साथ आहुति दी जाती है। अग्नि-सोम क्रमशः दिन तथा रात के भी प्रतिनिधि हैं—

अग्निर्वाऽग्रहः सोमो रात्रिः। यदन्तरेण तद् विष्णुः[3]

यहाँ विष्णु स्पष्ट ही सृष्टि के बीच चल रहे अव्यतिक्रम प्रकृति-यज्ञ का स्वरूप हैं।

द्यावा-पृथिवी के युग्म को प्रत्यक्षतः अश्विन् कहा गया है जिनका पहले वर्णन किया जा चुका है। इन दोनों के हार्दिक मिलन से वर्षा होने का उल्लेख शतपथ में मिलता है।[4] अतः इन्हें संयुक्त करने का प्रतीकात्मक उपक्रम किया जाता है।[5]

अग्नि-आपस् के युग्म में अग्नि को वृष तथा आपस् को योषा कहा गया है। एक उपाख्यान में इन्द्र तथा विष्णु युग्मरूप में मिलते हैं जहाँ वृत्रवध हेतु विष्णु इन्द्र के पार्श्व में बैठते है।[6]

उपर्युक्त विशिष्ट देवों के अतिरिक्त कतिपय देवता वे हैं जो पहले किसी प्रमुख देवता के विशेषण या सम्बोधनमात्र थे। बाद में उन्होंने स्वतन्त्र देवता के रूप में मूर्त्त अथवा अमूर्त्त स्थिति को प्राप्त कर लिया। इनमें 'निर्ऋति' पाप का देवता है।[7] ऋग्वेद में अग्नि के एक संबोधन 'मनोता' ने भी स्वतन्त्र देव-स्वरूप

1. श० ब्रा०, 1, 6, 3, 23
2. निरुक्त, 7, 1
3. श० ब्रा०, 3, 4, 4, 15
4. वही, 1, 8, 3, 12
5. वही, 1, 7, 2, 16
6. वही, 5, 5, 5, 1; 2, 1, 1, 4
7. वही, 5, 2, 3, 3

धारण कर लिया जिसके लिए पृथक् हवि का विधान है।[1] ऐसे ही एक 'संसृप' देवता हैं जिनकी हवियाँ दशपेय नाम से प्रसिद्ध हैं।[2] त्रित, द्वित तथा एकतः आप्त्य देवों की स्थिति भी कुछ इसी प्रकार है जिन्होंने त्रिशीर्ष विश्वरूप को इन्द्र के मनोनुकूल मार कर हत्या का दोष स्वयं ले लिया।[3] 'पशु-देवता' का भी शतपथ (11, 8, 3, 2) में उल्लेख है जो सौर्य देवों की कोटि में माना गया है।

देवियाँ

इनके अतिरिक्त अनेक देवियों की स्थिति भी सामने आती है। इन्द्रपत्नी इन्द्राणी का अनेक बार उल्लेख हुआ है किन्तु ऋग्वेद में उसका 'सधवा' विशेषण उसे देवी की अपेक्षा पत्नी सिद्ध करता है।[4] ऋग्वैदिक देवी उषा को भी शतपथ संवत्सर की पत्नी के रूप में प्रस्तुत करता है जिससे कुमार का जन्म हुआ। देवियों में सर्वप्रमुख पृथिवी है जिसे भारती, इडा तथा सरस्वती भी कहा गया है।[5] पृथिवी की महिमा विविध रूपों में उपलब्ध है। पृथिवी प्रथमजन्मा है। पृथिवी तीन हैं जिनमें से दृष्टिगत प्रस्तुत पृथिवी ही उच्चतमा है। यह आसंदी है, क्योंकि इस पर सब आसन्न हैं।[6] पृथिवी ही प्रतिष्ठा है, सम्भवतः इसलिए कि मानव को स्वर्ग आदि लोकों में घूम-फिर कर पुण्य क्षय होने के उपरान्त भी यहीं जन्म लेना पड़ता है।[7] यह जल में पुष्करपर्ण की तरह है। पृथिवी के भूमि, पृथिवी तथा गायत्री नाम की निर्वचना निम्नप्रकार है—

अभूद्वा इयं प्रतिष्ठेती, तद्भूमिरभवत् तामप्रथयत् सा पृथिव्यभवत् सेयं सर्वा कृत्स्ना मन्यमानाऽगायत। यदगायत तस्मादियं गायत्री।[8]

गायत्री ने देवों का पक्ष लिया था अतः असुर हार गए।[9] प्रस्तुत कथना-

---

1. 'त्वंहि अग्ने प्रथमो मनोता' (ऋग्वेद 6, 1, 1; श० ब्रा०, 3, 8, 3, 14, तथा 4, 5, 2, 8)
2. श० ब्रा०, 5, 4, 5, 3
3. वही, 1, 2, 3, 2
4. ऋग्वेद, 10, 86, 11; 'इन्द्राणी ह वा इन्द्रस्य प्रिया पत्नी' (श० ब्रा०, 14, 2, 1, 8)
5. निरुक्त, 8, 2, 10
6. श० ब्रा० 6, 7, 1, 12; 11, 5, 6, 3; 14, 1, 2, 10
7. 'इयमु वै पृथिवी प्रतिष्ठा' (वही, 1, 9, 3, 11)
8. वही, 6, 1, 1, 15
9. वही, 1, 4, 1, 36

नुसार गायत्री प्रत्यक्षतः पृथिवी है क्योंकि शतपथ में असुरों से स्वयं को छिपाने के लिए देवों द्वारा पृथिवी को चुने जाने का भी वर्णन मिलता है। प्रथमजन्मा पृथिवी का उत्पत्तिस्थल मुख होना चाहिए। गायत्री को प्रजापति के मुख से उत्पन्न होने के कारण 'ब्रह्मवर्चसी' कहा गया है।[1]

यह पृथिवी ही अदिति कहलाती है। दिति तथा अदिति दो देवियाँ हैं जिनमें अदिति उभयशीर्ष्णी है।[2] पृथिवी ही धेनु है क्योंकि यह धेनु की तरह मनुष्यों की सभी कामनाओं को पूरा करती है।[3] विभिन्न प्रकार के पेड़-पौधों आदि से चित्रित होने के कारण यह पृथिवी पृश्नि है। यह सर्पराज्ञी है। इसे ही उर्वी भी कहा गया है।[4]

शतपथ (3, 6, 2, 2) में कद्रू-सुपर्णी उपाख्यान में कद्रू को पृथिवी तथा सुपर्णी को वाक् कहा गया है। यह सुपर्णी वाक् ही देवी सरस्वती है जिसका सम्बन्धित पशु मेष है।[5] वाक् को बारंबार सरस्वती कहा गया है इसीलिए परवर्ती काल में सरस्वती विद्या की देवी के रूप में प्रतिष्ठित हो गई। जहाँ सरस्वती को वाक् कहा गया है तो मन को सरस्वान्।[6] मन तथा वाक् दोनों ही विद्या के उत्स हैं। पुंडरीकपुष्प सरस्वती का अपना पुष्प है।

तीसरी देवी इडा है जो मनु की दुहिता है।[7] इडा गौ है, वह श्रद्धा है। जो कुछ श्रद्धा से जीता जा सकता है वही इडा से भी।[8] निरुक्त (8, 2, 10) में इसे पृथिवीस्थानीय अग्नि कहा गया है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध नाटककार जयशंकर प्रसादरचित कामायनी महाकाव्य के श्रद्धा, इडा, मनु आदि पात्र शतपथ से ही गृहीत प्रतीत होते हैं।

अनुमति, राका, सिनीवाली तथा कुहू चार देवियाँ हैं जो चन्द्रमा के चार पक्षों का प्रतिनिधित्व करती हैं जिनके लिए चरु की हवि देने का विधान है। ए० कुन्ह के अनुसार 'अनुमति' पृथिवी ही है किन्तु 'देवों की अनुमति की

---

1. श० ब्रा०, 4, 1, 1, 14
2. वही, 3, 2, 4, 16; 4, 5, 1, 2; 5, 4, 1, 15
3. वही, 2, 2, 2, 21
4. वही, 2, 1, 4, 28
5. वही, 12, 7, 1, 12
6. वही, 7, 5, 1, 31; 11, 2, 4, 9
7. वही, 1, 8, 1, 10
8. वही, 11, 2, 7, 20

भावना' ही देवी अनुमति है, यह भी संकेत शतपथ में मिलता है।[1] शतपथ में अम्बा, अम्बिके, अम्बालिके आदि सम्बोधन भी प्राप्त हैं जिनका पार्वति[2] के साथ कोई सम्बन्ध वहाँ है या नहीं, कहना कठिन है, किन्तु यह स्पष्ट है कि यहाँ देवियों को ही सम्बोधन किया गया है।

निष्कर्षतः देवसम्बन्धी उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहना समीचीन प्रतीत होता है कि ऋग्वेद तथा शतपथ में देव-समाज अधिकांशतः यथावत् है किन्तु कतिपय पूर्ववर्ती गौण देवता, यथा विष्णु, रुद्र आदि—महत्तर प्रभुत्व को प्राप्त हुए हैं। प्रजापति के रूप में नवीन किन्तु सर्वप्रमुख देवता के अस्तित्व की उपस्थिति ने अन्य देवों के चरित्र को भी अंशतः प्रभावित किया है अतः उसके रूप एवं क्रम में परिवर्तन दिखाई देता है। प्रजापति एवं संवत्सररूप प्रजापति से संयुक्त अग्नि देवता में अनेक नवीन विशेषताओं का प्रादुर्भाव द्रष्टव्य है। आनुपातिक वर्णन की दृष्टि से भी प्रजापति तथा अग्नि ने इन्द्र तथा सोम को पीछे छोड़ दिया है। यज्ञ के प्रधान आधार, अग्निदेव का चरित्र पूर्वापेक्षा विविधतापूर्ण दिखाई देता है। पौधे के रूप में सोम की अनुपलब्धि के कारण सोम के दार्शनिक एवं प्रतीकात्मक पक्ष को अधिक उभरा हुआ देखा जा सकता है। वरुण के व्यक्तित्व का शनैः-शनैः ह्रास भी स्पष्ट परिलक्षित है। मानवीकरण की अपेक्षा देवों के प्रकृतिगत उपयोगी एवं हितकारी स्वरूप को प्रशस्त करने का प्रयास किया गया है। परवर्ती वैष्णव एवं शैव धर्मों के सर्वप्रमुख देवता विष्णु एवं शिव की चारित्रिक विशेषताएँ पूर्वाधार के रूप में शतपथ में सामूहिक रूप में उपलब्ध होती हैं। ऋग्वैदिक युग में क्षीण रेखांकन के रूप में उपलब्ध अनेक देव-व्यक्तित्वों को पुराणों ने एक निश्चित रूप-रंग प्रदान किया। उन देवों के व्यक्तित्व के विकास की मध्य-श्रृंखला के रूप में शतपथ का अध्ययन अपरिहार्य एवं योगदान अक्षुण्ण है।

मानव

शतपथ के विचारानुसार 'मानव' राजा मनु वैवस्वत की प्रजा है।[3] प्रजापति के मनस् से मनुष्य उत्पन्न हुआ है किन्तु उसका अपना स्वरूप 'मृद्' है, अर्थात् मानव 'मिट्टी का पुतला' है।[4] मानव को शतपथ में मनुष्य, प्राणभृत्, नर तथा

---

1. श० ब्रा०, 5, 2, 3, 2
2. वही, 13, 2, 8, 3
3. वही, 13, 4, 3, 3
4. वही, 7, 4, 2, 17; 7, 5, 2, 6

कहीं-कहीं पुरुष नाम से उल्लिखित किया गया है।[1] मनुष्य के तीन जन्म होते हैं—प्रथम माता-पिता से, द्वितीय यज्ञ द्वारा तथा तृतीय जन्म मरने पर अग्नि द्वारा[2] सम्भव होता है। तृतीय जन्म के रूप में पुनर्जन्म का दृष्टिकोण प्रत्यक्ष है। तत्कालीन मानव की आयु औसतन सौ वर्ष थी। कुछ लोग शताधिक वर्षों की आयु भी भोगते थे क्योंकि शतपथ में भुजाओं के बाल श्वेत होने की चर्चा भी प्रसंगप्राप्त है।[3] फिर भी देवों की आयु से मनुष्यों की आयु कम मानी गई है—

द्राघीयो हि देवायुषम्, ह्रसीयो मनष्यायुषम् (शतपथ 7, 3, 1, 10)

उक्त मानवरूपी विशिष्ट प्राणी के चरित्र का गहन चिन्तनात्मक निष्कर्ष देते हुए उपनिषदकार का कथन है—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि, न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।

मानव का अनृतत्व

किन्तु मानव के बारे में शतपथ के निष्कर्ष आदर्श-मंडित अतिवादिता की भावना से नितान्त परे हैं।[4] यद्यपि 'मनुष्य-यज्ञ' को पंच-महायज्ञों में स्थान प्रदान कर मानव को समादृत किया गया है, फिर भी चारित्रिक दृष्टि से उसे 'अनृत' ही कहा गया है।[5] 'अनृत' कहे जाने का कारण मनुष्य का शाश्वत नियमों (ऋत) की अवहेलना करना प्रतीत होता है। मानव को पुनः-पुनः 'अनृत' कहा जाना मानवीय अनियमितताओं के बाहुल्य का संकेतक है। देवों तथा मानवों के विभेदात्मक चरित्र-चित्रण में भी मानव-चरित्र की अनेक विशेषताएँ प्रत्यक्षीकृत हैं। देवों का अनुकरण पक्षी, औषधि एवं वनस्पतियाँ करते हैं, किन्तु मनुष्य का अनुकरण केवल पशु करते हैं। यह कथन भी मानवीय अनियमितताओं को ही इंगित करता है।[6] प्राची देवों की दिशा है तथा उदीची मनुष्यों

---

1. श० ब्रा०, 7, 3, 1, 10; 7, 4, 2, 2; 9, 3, 1, 3; 6, 2, 1, 18 में 'पुरुष' शब्द का प्रयोग अधिकांशतः सृष्टिसर्जक परमात्मा के रूप में मिलता है।
2. वही, 11, 2, 1, 1
3. वही, 10, 2, 6, 7; 11, 4, 1, 6; 3, 8, 2, 25
4. "खमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति" (वही, 1, 1, 1, 1)
5. 'द्वयं वा इदं, न तृतीयमस्ति—सत्यं चैवानृतच, सत्यमेव देवाः, अनृतं मनुष्याः' (वही, 3, 3, 2, 2)
6. वही, 3, 6, 2, 26

की ।[1] देव यदि 'यज्ञियाः' हैं तो मनुष्य 'इडेन्याः' (स्तुत्य)[2] स्तुति के अधिकारी वे ही मनुष्य हैं जो देवों का अनुकरण करते हैं ।[3] मनुष्यों के 'मन' देवों के चक्षु हैं, अतः देवता मनुष्यों के मन की बात जान लेते हैं। देवों तथा मनुष्यों का सम्मिलित दाय भी दिखाया गया है, यथा उदीची तथा प्राची देवों तथा मनुष्यों की सम्मिलित दिशाएँ भी हैं। 'पशु' को भी देव तथा मनुष्य दोनों का उपजीव्य माना गया है ।[4]

देवों की ऋतगामिता के विपरीत मनुष्य की अनृतगामिता को एक उपाख्यान द्वारा भी स्पष्ट किया गया है—'प्रजापति ने जब सृष्टिरचना की तो विधान भी तैयार किया . . . प्रजापति के विधान का अतिक्रमण न पितर करते हैं, न देवता और न पशु। केवल मनुष्य ही इस विधान का अतिक्रमण करते हैं अतः मनुष्यों में जो स्थूलकाय होता है वह इस अतिक्रमण के परिणामस्वरूप ही होता है (अनृतं हि कृत्वा मेद्यति)। अतः जो नियमानुसार सायं-प्रातः भोजन करता है वह पूर्ण आयु को प्राप्त होता है तथा जो कुछ वह वाणी के द्वारा बोलता है वह सत्य होता है क्योंकि वह दैवीय सत्य का पालन करता है ।[5]

प्रजापति के उपर्युक्त विधान के अनुसार सायं-प्रातः भोजन करना, प्रजोत्पत्ति, मृत्यु तथा अग्निरूप ज्योति मनुष्य का भाग था। मनुष्य इसीलिए मर्त्य प्राणी है। मर्त्य प्राणी आत्मारहित होता है, यह भी उल्लेख है (2, 2, 2, 8)। संभवतः पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अनुसार 'आत्मा का स्थानांतरित होना' आशय अभिप्रेत हो अतः इस दृष्टि से आत्मावान् केवल प्रजापति है जहाँ आत्मा स्थिर है अथवा मानव की अनृतगामिता के कारण निन्दा को व्यंजित करने वाला कथन भी यह वाक्य हो सकता है। अनृत होने के कारण मनुष्य को 'अमेध्य' भी कहा गया है[6] अतः विधि-विशेष में जल-प्रोक्षण द्वारा उसे पवित्र किए जाने का विधान है।

देवों का श्रम तथा तप-सम्बन्धी गुण मनुष्य के लिए अनुकरणीय है ।[7]

---

1. 'प्राची हि देवानां दिक् उदीची हि मनुष्याणां दिक्' (श० ब्रा०, 3, 1, 1, 2)
2. वही, 1, 5, 2, 3
3. वही, 1, 3, 1, 1
4. वही, 6, 4, 4, 22
5. वही, 2, 4, 2, 3
6. वही, 1, 1, 1, 1; 3, 1, 2, 10
7. वही, 9, 5, 1, 2

शतपथ में कहा गया है कि दैवीय गुणों का मानवीकरण संभव है तथा मानव भी दैवीय गुणों का उपार्जन कर सकता है।[1] यही कारण था कि 'अमृत' जो देवों की विरासत था, देवों से अलग हो गया जिसे श्रम एवं तप द्वारा उन्हें पुनः प्राप्त करना पड़ा।

मानव की अन्य विशेषताएँ

त्रिविध शक्तियों का सन्निवेश मानव की प्रमुख विशेषता है। वे शक्तियाँ हैं—मानसिक शक्ति, बाहु-शक्ति एवं बौद्धिक शक्ति।[2] यही विशेषता उसे इतर प्राणियों से पृथक् कर उसे विशिष्ट एवं महनीय बना देती है। यश-लिप्सा मानव की द्वितीय विशेषता है। यश की भूख को मिटाने का तत्कालीन साधन ज्ञानोपार्जन अथवा यज्ञ-सम्पादन था। यश-रहित व्यक्ति को शतपथ[3] 'तमसावृत' कहता है (यो न यशो भवति स तमसा वै तत् प्रावृतो भवति)। ऐश्वर्यप्राप्त व्यक्ति को शतपथ (2, 3, 4, 6) में ईश्वर कहा गया है। देव, पितर् या मनुष्य किसी को भी संतुष्ट न करने वाला मनुष्य 'अनद्धा पुरुष' कहा जाता था।[4] मर्त्य मानव का सब कुछ नाशवान् कहा गया है—

व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषम्[5]

यद्यपि मनुष्य से ऋतगामी होने की अपेक्षा की गई है किन्तु सत्य का अनुसरण करने वाले व्यक्ति के कष्टों का भी वर्णन किया गया है। सत्य पर चलने वाला तुच्छता एवं दरिद्रता को प्राप्त हो जाता है—

य आसक्ति सत्यं वदति एषावीरतर इवैव भवति, अनाद्र्यतर इव।

इसके विपरीत असत्य पर चलने वाले असुर निःसन्देह समृद्धि को प्राप्त हो गए थे—

अथ हासुरा आसक्त्यनृतं वदन्त ऊष इव पिपिशुः, आढ्या इवासुः।[6]

---

1. श० ब्रा०, 9, 5, 1, 61
2. वही, 6, 5, 1, 11
3. वही, 5, 3, 2, 3
4. वही, 6, 3, 1, 24
5. वही, 9, 5, 1, 16
6. वही।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि तत्कालीन मानव का स्वयं के प्रति दृष्टिकोण यथार्थवादी एवं सुलझा हुआ था। मानवीय दुर्बलताओं के फलस्वरूप मिलने वाले क्षणिक सुखों तथा संयम के फलस्वरूप मिलने वाले स्थायी सुखों का उन्हें पूर्ण परिचय था किन्तु स्थायी सुखों की प्राप्ति पर ही बल दिया गया है। समाज में सह-अस्तित्व की भावना का भी विकास द्रष्टव्य है—'हम लोग पाप और पुण्य दोनों में समान रूप से साझेदार हों'।[1] मानव, मानव के लिए दीर्घायुत्त्व एवं सुप्रजत्व की कामना करता है—

दीर्घायुत्वमाशास्ते। सुप्रजास्त्वमाशास्ते।...दिव्यं धामाशासते[2]

असुर

शतपथ ब्राह्मण में असुर देवों के प्रतिद्वन्दी शत्रुओं के रूप में वर्णित हैं। निरुक्तकार 'असुर' शब्द का निर्वचन निम्नतः प्रस्तुत करता है—

असुरा असुरताः। स्थानेष्वस्ताः स्थानेभ्य इति वा। (3, 2, 1)

अर्थात् ये स्थानों पर ठहरते नहीं हैं या देवों ने इन्हें स्थानच्युत कर रखा है। प्रस्तुत निर्वचन असुरों तथा उनके देवों से युद्ध को अन्तरिक्ष में होने वाली घटना-विशेष से सम्बद्ध कर देता है। शतपथ (11, 1, 6, 10) में भी इस नकली युद्ध का संकेत उपलब्ध है जिसे 'माया' कहा गया है—

न त्वं युयुत्से कतमच्चनाहर्न तेऽमित्रो मघवन् कश्चनास्ति।
मायेत्सा ते यानि युद्धानि आहुर्नाद्य शत्रुं न नु पुरा युयुत्सः॥

अर्थात् 'हे इन्द्र! तुम कभी नहीं लड़े। न तुम्हारा कोई शत्रु है। तुम्हारे युद्धों का वर्णन सब माया अर्थात् बनावटी है। न आज तुम्हारा कोई शत्रु है और न पहले तुम से लड़ने वाला कोई था।' यद्यपि इस प्रकार के प्रतीकात्मक वर्णनों का अभाव नहीं है किन्तु निश्चित रूप में किसी इतिहास को व्यंजित करने वाले स्थलों का भी प्राचुर्य है जहाँ शतपथकार की दुहरी दृष्टि स्पष्ट ही पहचानी जा सकती है।

---

1. श० ब्रा०, 4, 6, 8, 13
2. वही, 1, 9, 1, 13

प्राजापत्य देवासुर

शतपथ में बारंबार इस तथ्य पर जोर दिया गया है कि देव तथा असुर दोनों ही प्रजापति की संतान थे।[1] ऋग्वेद के अनुसार आधे असुर थे तथा आधे देव।[2] देव तथा असुरों का जनक एक होते हुए भी जन्मस्थल भिन्न था। देवों की उत्पत्ति प्रजापति के मुख से हुई थी किन्तु असुरों की अवाङ् प्राणों से।[3] प्रस्तुत कथन असुरों के जन्म के मूल में ही स्तर की निम्नता की सूचना देता है अतः तदनुसार असुरों की निम्न गति थी। असुर तथा देव जब प्रजापति से उत्पन्न हुए तो सत्य तथा अनृत दोनों का सहारा लेते थे। कालांतर में देवों ने सत्य को अपना लिया था किन्तु निम्न गति के कारण असुरों ने अनृत को ही अपनाया।[4] इस प्रकार दो परस्पर विरोधी व्यक्तित्वों का टकराना स्वाभाविक है। शतपथ में पुनः-पुनः दोनों की स्पर्धा का बखान किया गया है—

देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्या अस्पर्द्धन्त

असुरों का चरित्र

स्पर्द्धा का कारण चारित्रिक गुणावगुणों का संघर्ष था। असुरों का चरित्र भोगवादी एवं भौतिकतावादी था। देवता कुछ न कुछ कार्य करते रहते थे किन्तु असुर शाला में बैठे रहते थे।[5] चक्र में चलते-चलते ही देवों ने इस कर्म (यज्ञ) को देखा। देवों में दूरदर्शिता की दृष्टि थी किन्तु असुरों की आँखों के आगे अंधकार रहता था। सभी ब्राह्मणों में असुरों का सम्बन्ध अंधकार से प्रदर्शित है।[6] दिन देवों का तथा रात असुरों की मानी गई है।[7] शतपथ में वर्णित देवासुर-स्पर्द्धा से स्पष्ट है कि असुर सदा आक्रामक प्रवृत्ति के रहे हैं तथा देवों ने रक्षात्मक प्रयासहेतु युद्ध किया है। संघर्ष के फलस्वरूप प्रारंभ में देवता

---

1. श० ब्रा०, 5, 1, 1, 1; 9, 5, 1, 13 आदि
2. 'नेमे देवा नेमे असुराः' (ऋग्वेद, 1, 147, 5; निरुक्त, 3, 4 : पीयति त्वो अनुत्वो गृणाति)
3. श० ब्रा०, 11, 1, 6, 7; 8। निरुक्त, 3, 2, 1 में भी उल्लेख है कि 'सोदवानसृजत तत् सुराणां सुरत्वं असोरसुरानसृजत . . . आदि
4. श० ब्रा०, 9, 5, 1, 13
5. वही, 6, 8, 1, 1
6. हापकिंस, 'रिलीजन्स ऑफ इण्डिया', पृ० 187
7. श० ब्रा०, 11, 1, 6, 11

पराजित होते हैं तथा बाद में देवता किसी कौशल द्वारा असुरों पर विजयी होते हैं।[1] असुरों पर विजय पाने का एक कारण देवों का परोपकारी होना था। इसके विपरीत असुर आपापंथी थे। शतपथ का एक सारगर्भित उपाख्यान प्रस्तुत आसुरी अवगुण का उद्घाटन करता है—"देव तथा असुर दोनों प्रजापति की संतान थे। उनमें स्पर्द्धा हुई। असुरों ने सोचा कि हम क्यों किसी अन्य के मुँह में आहुति दें ? हम से बढ़ कर कौन है ? अतः वे स्वयं अपने मुँह में आहुति देते हुए विचरने लगे। वे अहंकार के कारण पराभूत हुए, किन्तु देवता परस्पर एक-दूसरे के मुँह में आहुति देते हुए विचरते थे। उनके लिए प्रजापति ने स्वयं को समर्पित किया। यज्ञ ही इनका मुख है। यज्ञ ही देवों का अन्न है।"[2] प्रस्तुत उपाख्यान असुरों के स्वार्थपरक व्यक्तित्व का प्रकाशक है। उनके चरित्र की अद्भुतता भी वर्णित की गई है। असुर अपनी देह को इच्छानुसार स्थूल अथवा सूक्ष्म बना लेते थे।[3] वे मायावी थे। माया के रूप में उनकी किसी गुह्यशक्ति का विशिष्ट वर्णन मिलता है।[4] असितधान्व असुरों का राजा था। माया उनका वेद था।[5] एक स्थान पर असुर-विद्या शब्द भी प्रयुक्त हुआ है जो इन्द्रजाल का ही पर्याय प्रतीत होता है। प्रजापति ने देवों तथा असुरों में दायभाग का विभाजन करते समय असुरों को माया एवं अंधकार दिया—

तेभ्यः तमश्च मायां च प्रददौ[6]

असुरों की भाषा

असुरों की वाणी 'असुर्यावाक्' भी विचित्र थी जैसे गाड़ी के अक्ष में क्रैक्-क्रैक् ध्वनि निकलती है।[7] भाषा के लिए उदाहरण प्रस्तुत है—यथा हेऽलवो हेऽरयः।[8] भाषा-विज्ञान की दृष्टि से 'र' का 'ल' में तथा 'य' का 'व' में परिवर्तन पैशाची तथा मागधी में पाया जाता है। मृत व्यक्तियों के स्तूप बनाने के आदेश के प्रसंग में असुरों को प्राच्य आदि कहा गया है जो आर्यों की चतुष्कोण

---

1. मैक्डॉनल, 'जरनल ऑफ द रॉयल एशियाटिक सोसायटी', जिल्द 27, पृ० 168
2. श० ब्रा०, 11, 1, 8, 1
3. वही, 2, 4, 2, 15
4. बर्गेन, 'ला रिलीजन वैदिके', भाग 3, पृ० 81
5. श० ब्रा०, 13, 4, 3, 11
6. वही, 2, 4, 2, 5
7. वही, 6, 8, 1, 10
8. वही, 13, 8, 1, 5

स्तूपों की अपेक्षा गोलाकार स्तूप बनाते थे। ये प्रसंग स्पष्ट ही किन्हीं ऐतिहासिक असुरों की स्थिति के प्रकाशक हैं।[1] असुर लोग अश्व को 'अर्वा' कहते थे।[2]

मायावी असुर

असुर मायावी थे अतः इस लोक में लोहे के, अंतरिक्ष में चाँदी के तथा द्युलोक में सोने के पुर बनाते थे। एक जगह यह भी उल्लेख है कि प्रजापति से देवों को मन, यज्ञ तथा स्वर्ग मिला जबकि असुरों को वाणी तथा पृथिवीलोक मिला।[3] भौतिकतावादी मनोवृत्ति के होने के कारण असुर ही पृथिवीलोक का भोग करते थे। वाणी का तात्पर्य वाक्छल से है। अपने वाक्छल एवं प्रपंच द्वारा असुरों ने देवरूप आर्यों में प्रवेश कर लिया था क्योंकि शतपथ में एक स्थान पर परिदेवना का स्वर सुनाई देता है[4]—

पापीयांसो वै भवामः। असुर रक्षसानि वै नोऽनुव्यवागुः।

अर्थात् हम पापी हो गए हैं क्योंकि असुर-रक्षस् हम में प्रविष्ट हुए हैं। यहाँ किसी ऐतिहासिक परिवर्तन का संकेत मिलता है। आर्यों के विरोधी असुर-रक्षस् छल-बल से उनमें मिल रहे थे, यहाँ तक कि यज्ञ करने का ढोंग भी रचने लगे थे। अतः असुरों के होता तथा पुरोहितों का भी नामोल्लेख मिलता है। असुरों का होता परावसु था तथा किरात-आकुलि दोनों उनके पुरोहित थे।[5] असुरों का सम्बन्ध दक्षिण दिशा से भी था क्योंकि इन्द्र तथा बृहस्पति द्वारा असुरों को दक्षिण से भगाने का उल्लेख किया गया है।[6]

असुर-रक्षस् तथा रक्षस्

शतपथ में असुरों का रक्षस् के साथ द्वन्द्व समास के रूप में भी प्रयोग हुआ है तथा 'रक्षस्' शब्द का अलग से भी। देवों को यज्ञ करने से रक्षसों ने रोका (ररक्षु) अतः रक्षस् कहलाए।[7] ये यज्ञ में विघ्न डाल कर आर्यों को सताते थे

1. श० ब्रा०, 13, 8, 1, 5
2. वही, 10, 6, 4, 1
3. वही, 3, 4, 4, 3
4. वही, 3, 4, 2, 2
5. वही, 1, 1, 4, 14; 1, 5, 1, 23
6. वही, 9, 2, 3, 3
7. वही, 1, 1, 1, 16

तथा असुर मायावी होने के कारण स्वयं भी यज्ञों की नकल कर छलते थे। दोनों के निहित स्वार्थ समान होने के कारण असुर-रक्षस् आगे चलकर एक सामासिक पद बन गया। रक्षसों को कुत्सित हृदय वाला कहा गया है।[1] ये अंतरिक्ष में मूलरहित होकर विचरते थे। इन्हें स्त्रियों के पीछे घूमने वाला भी कहा गया है।[2] बलवान होते हुए भी देवता इनसे भय खाते थे।[3] यह भय अस्वाभाविक नहीं है क्योंकि दुष्ट ग्रहों से भयभीत होना सृष्टि की अविच्छिन्न परम्परा रही है। किन्तु याज्ञिकों ने इन्हें दूर भगाने का रहस्य भी जान लिया था—

अग्निर्हिरक्षसामपहन्ता[4]

अर्थात् अग्नि ही रक्षसों को भगाने वाला है। ब्रह्म (ज्ञान) भी रक्षसों को दूर करने वाला है। इस ज्ञान से ही देवों ने 'अररु' नाम के असुर-रक्षस् को पृथिवी से भगा दिया था।[5] मनु के वृषभ की आवाज सुनकर भी ये भाग जाते थे,[6] अतः अग्नि तथा वाक् दोनों असुर-रक्षसों को डराने के प्रमुख साधन थे। आर्यों के पास हेति तथा प्रहेति नामक अस्त्र भी थे जिनसे वे क्रमशः यातुधानों तथा रक्षसों को मारते थे।[7]

वृत्र

असुरों में सर्वाधिक विख्यात 'वृत्र' है जिसका उल्लेख ऋग्वेद में भी इन्द्र के शत्रु के रूप में पुनः-पुनः मिलता है। निरुक्त के अनुसार वृत्र न तो रक्षस् था न असुर-रक्षस्। अपितु त्वष्टा का पुत्र असुर था—तत्को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः त्वाष्ट्रो असुर इति ऐतिहासिका।[8] शतपथ (12, 7, 1, 1) में त्वष्टा का पुत्र विश्वरूप है जिसे इन्द्र मारता है। वृत्र तथा विश्वरूप के साम्य की संभावना गवेषणा का विषय है। यह भी उल्लेख है कि इन्द्र वृत्र को मार कर महेन्द्र बन गया—

इन्द्रो ह वृत्रं हत्वा महेन्द्रो अभवत्

---

1. श० ब्रा०, 1, 3, 4, 13
2. वही, 1, 1, 2, 4; 'रक्षांसि योषितमनुसचन्ते' (3, 2, 1, 40)
3. वही, 1, 1, 2, 3
4. वही, 1, 2, 1, 6
5. वही, 1, 2, 4, 17; ऋग्वेद, 10, 99, 10; ऐ० ब्रा०, 7, 28
6. वही, 1, 1, 4, 14
7. श० ब्रा०, 8, 6, 1, 17
8. निरुक्त, 2, 5

मेघ अर्थ में भी वृत्र की व्याख्या स्पष्ट है—स इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम ।[1] यहाँ इन्द्र द्वारा वज्र से इसे मारना, फलस्वरूप जलों का बहना इसे मेघ का प्रतीक ही प्रदर्शित करता है । यह वृत्र ही अपनी विभिन्न क्रियाओं के कारण विभिन्न नाम धारण कर लेता है यथा बिना पैरों के उत्पन्न होने के कारण 'अहि', दनु तथा दनायु द्वारा माता-पिता सदृश ग्रहण किए जाने के कारण दानव तथा 'वर्त्तमान' होने के कारण वृत्र कहलाता है ।[2]

यह वृत्र पहले सोम था । ये गिरि-पर्वत उसी के शरीर हैं जहाँ उशान नामक औषधि उत्पन्न होती है । यह श्वेतकेतु उद्दालकि का मत है ।[3] वृत्र पाप है ।[4] यह कल्याणकारी कार्यों में विघ्न उत्पन्न करके प्रसन्नता का अनुभव करता है ।[5] पौर्णमास-यज्ञ द्वारा इन्द्र ने वृत्र का हनन किया था । चक्षु के मध्य स्थित कनीनिका को भी 'वृत्र' कहा गया है ।[6] अग्नि वैश्वानर, अपस् तथा दो आज्यभागों को भी क्रमशः वृत्र का हनन करने वाला कहा गया है ।[7]

नमुचि : नमुचि भी एक असुर के रूप में शतपथ में वर्णित है । ऋग्वेद (10, 131, 4) में भी नमुचि को 'आसुर' ही कहा गया है । शतपथकार इसे 'पाप्मा' कहता है तथा इन्द्र के द्वारा इसके मारे जाने का वर्णन करता है ।[8] यह अश्विनों के साथ सोमपान करता है ।

स्वर्भानु : स्वर्भानु असुर ने सूर्य को अंधकार से ग्रस लिया था ।[9] ऋग्वेद में भी यह दानव के रूप में वर्णित है ।[10]

शंडामर्क : देवों के पुरोहित बृहस्पति के सदृश असुरों का पुरोहित मर्क था जिसका शंड के साथ उल्लेख मिलता है ।[11] ये दोनों असुर-रक्षस् थे जिनके लिए यज्ञ में दो 'ग्रहों' के ग्रहण का विधान है ।

---

1. श० ब्रा०, 1, 1, 3, 4
2. वही, 1, 6, 3, 9
3. वही, 3, 4, 3, 13
4. 'पाप्मा वै वृत्रः' (वही, 13, 4, 1, 13)
5. वही, 11, 1, 5, 7
6. वही, 3, 1, 3, 15
7. वही, 3, 9, 4, 25; 12, 4, 4, 1
8. वही, 12, 7, 3, 4; 5, 4, 1, 9 । इन्द्र ने इसे जल के फेन से मारा था ।
9. वही, 5, 3, 2, 2
10. ऋग्वेद, 5, 40, 5
11. श० ब्रा०, 4, 2, 1, 4

मख : शतपथ (14, 1, 2, 17) में मख नामक दानव का भी उल्लेख है जिसके मस्तक का वर्णन परवर्ती संहिताओं में मिलता है। यह दनु के पुत्र असुरों की परम्परा में से कोई ऐतिहासिक व्यक्ति प्रतीत होता है।

शुष्ण : ऋग्वेद में शुष्ण नामक दानव का वर्णन मिलता है। शतपथ में कहा गया है कि देवों ने जब सारे असुर-रक्षसों को मार डाला तो शुष्ण ने पीछे की ओर गिर कर मनुष्यों की आँख में प्रवेश किया।[1] यही वह कनीनक है जो कुमारक सा लगता है।

यातुविद्

अभिचारों का प्रयोग करने वाले यातुविदों का भी उल्लेख है जिनका निकास रक्षसों से ही हुआ था।[2] रक्षसों की दिशा दक्षिण ही कही गई है।[3] रामायण में वर्णित राक्षसों का दक्षिण दिशा से सम्बन्ध का आधार इन उल्लेखों में ढूंढा जा सकता है।

उपर्युक्त असुर-सम्बन्धी विवरण, जिसमें निर्वचनात्मक, प्रतीकात्मक तथा ऐतिहासिक तीनों ही दृष्टिकोण समन्वित हैं, असुरो को आर्य-विरोधी व्यक्तित्व के रूप में भी प्रस्तुत करता है।[4] आर्यों के विरोधी असुर, दानव, रक्षस् आदि सभी का समान उद्देश्य था। निहित स्वार्थों के कारण इनका आपस में सम्बद्ध होना आश्चर्यजनक नहीं अपितु स्वाभाविक है। अतः कहा जा सकता है कि असुर यज्ञों का विरोध तथा प्रपंचात्मक यज्ञों की रचना करते थे। ये तमःप्रधान एवं भौतिकतावादी थे। श्रद्धालु न होकर तार्किक एवं मायावी थे। यही कारण था कि आर्यों के साथ इनका विरोध चलता रहता था। भयभीत आर्य इनके बारे में निरन्तर सोचा करते थे अतः असुर प्रतीकात्मक रूप में देवों के शत्रु भी कल्पित किए गए जिनका प्राकृतिक तत्वों एवं व्यापारों से सामंजस्य स्थापित करना आवश्यक था। इस सामंजस्य के परिणामस्वरूप ही असुर-सम्बन्धी प्रतीकात्मक एवं ऐतिहासिक विवरण शतपथ में परस्पर घुल-मिल गए हैं।

---

1. श० ब्रा०, 3, 1, 3, 10
2. वही, 7, 4, 1, 29
3. वही, 7, 4, 1, 37
4. असुर रक्षसों के व्यक्तित्व-सम्बन्धी विवरण के लिये द्रष्टव्य—बर्गेन, 'ला रिलीजन वैदिके', भाग 2, पृ० 216-19

चतुर्थ अध्याय

समाज, राज्य एवं वर्ण-व्यवस्था

पितृसत्तात्मक समाज, परिवार एवं पारिवारिक सम्बन्ध

शतपथकालीन समाज पितृसत्तात्मक समाज था। पिता ही प्रत्येक परिवार का मुखिया होता था जो उस परिवार का संरक्षक एवं संचालक होता था। शतपथ के समय वैदिक आर्यों के संयुक्त परिवार के लिए सामान्य शब्द 'कुल' व्यवहृत होता था।[1] संहिताओं में यद्यपि इस 'शब्द' के उल्लेख का अभाव है किन्तु ऋग्वेद में प्राप्त 'कुलपा' व्याहृति का अर्थ गृह-रक्षक ही है।[2] परिवार में सामान्यतः तीन पीढ़ी के लोग साथ-साथ रहते थे।[3] शतपथ में अनेक विधि-निदेशों के अवसर पर पिता, पितामह तथा प्रपितामह तीन का ही उल्लेख मिलता है।[4] बेटे-पोतों के लिए 'तोकं-तनयं'[5] सामासिक शब्द का प्रयोग भी तीन पीढ़ी तक के संयुक्त परिवार की परम्परा का समर्थक है। 'कुल' कहलाने वाले ये परिवार निःसन्देह विशालकाय होते थे जिनका समर्थन परवर्ती गोभिल[6] तथा पारस्कर[7] गृह्यसूत्र भी करते हैं। कात्यायन श्रौतसूत्र (15,233) में सोम-यज्ञ करने वाले पिछली दस पीढ़ी के पितामहों का नाम लेकर प्रसर्पण का विधान है किन्तु शतपथ में यजमान के पिता, पितामह तथा प्रपितामह के पश्चात् पितर् शब्द का व्यवहार किया गया है।[8]

पितृ-पक्ष से संयुक्त सम्बन्धियों की 'ज्ञाति'[9] संज्ञा थी जिन्हें आजकल जाति-भाई या गोती-भाई कहा जाता है। पितृ-रक्त से सम्बन्धित दूर के रिश्तेदारों को

---

1. श० ब्रा०, 1, 1, 2, 22; 2, 1, 4, 4
2. ऋग्वेद, 10, 179, 2
3. हरदत्त वेदालंकार, 'हिन्दू परिवार मीमांसा', पृ० 38
4. श० ब्रा०, 5, 4, 5, 4; 2, 4, 2, 16
5. वही, 7, 5, 2, 29
6. गोभि० गृ० सू०, 1, 4, 23-26
7. पा० गृ० सू०, 2, 9
8. श० ब्रा०, 2, 4, 2, 19
9. वही, 1, 6, 4, 3

'समान-बंधु' भी कहा जाता था[1] जिससे समान-गोत्रीयता ही अभिप्रेत है। 'सजात' शब्द का प्रयोग भी सम्भवतः इसी अर्थ में किया गया है।[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण में सजातों के विवाद को अपकारक कहा है।[3]

परिजनों के प्रति ज्येष्ठानुपूर्व्य क्रम से सद्भाव एवं आदर रखने में परिवार की आस्था थी।[4] परिवार में पिता तथा पुत्र के सम्बन्धों पर अधिक बल दिया गया है। वर्णित है कि पिता तथा पुत्र में कोई भेद नहीं है—

य उ वै पुत्रः, स पिता। यः पिता स पुत्रः।[5]

पूर्ववय में पिता द्वारा पालित होकर युवावस्था में पुत्र वृद्ध पिता का पालनपोषण करता था (शतपथ 12, 2, 3, 4)।

पिता पुत्र का पूरा हितचिन्तक था। जुआ खेलने वाले पुत्र को ताड़ना देता था। ऋजाश्व का पिता द्वारा अंधा किया जाना पिता की कठोरता का परिचायक अवश्य है[6] किन्तु यह एक अपवाद है। वैसे पिता-पुत्र के बड़े मधुर सम्बन्ध थे। माता-पुत्र के सम्बन्ध अधिक भावुकतापूर्ण थे क्योंकि कहा गया है कि 'माता पुत्र को हिंसित नहीं करती और न ही पुत्र माता को।'[7] माता का दूध पीते समय बालक जिस सहज, प्रकृत आनन्द को लेता हुआ हलचल करता है, शतपथ में उसका प्रासंगिक उल्लेख द्रष्टव्य है।[8] पुत्र के लिए 'वीर' तथा 'पुत्र' दोनों शब्दों का प्रयोग होता था।[9] स्नेह का सम्बोधन 'पुत्रक' था।[10] पुत्री को दुहिता कहा गया है। पति का बड़ा भाई 'ज्येष्ठ' कहलाता था।[11]

शतपथ में 'भ्रातृव्य'[12] शब्द का अनेक बार उल्लेख है जिसका अर्थ 'चचेरा भाई' है। व्हिटनी ने इस शब्द का अर्थ 'भतीजा' किया है जो अशुद्ध

---

1. वही, 3, 5, 1, 25
2. श० ब्रा०, 5, 4, 4, 19
3. तै० ब्रा०, 3, 7, 12, 2
4. श० ब्रा०, 1, 5, 1, 10
5. वही, 12, 4, 3, 1
6. वही, 5, 3, 3, 3
7. वही, 5, 4, 3, 20
8. वही, 12, 7, 3, 21
9. 'पुत्रो वै वीरः' (वही, 3, 3, 1, 12)
10. वही, 11, 6, 1, 2
11. वही, 11, 5, 3, 8
12. वही, 11, 2, 7, 26; 1, 1, 1, 21

है ।[1] एगलिंग व्यंजना से 'शत्रु' अर्थ करते हैं[2] जबकि अभिधाजन्य अर्थ ही यहाँ अभिप्रेत है । संहिताकाल में निरन्तर युद्धरत आर्यों की धन-सम्पत्ति स्थिर नहीं थी अतः भ्रातृव्यों को विरासत की सम्पत्ति के लिए झगड़ने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती थी किन्तु शतपथ के समय तक आर्य लोग राज्य के संरक्षण में व्यवस्थित जीवन व्यतीत करते हुए दिखाई देते हैं अतः विरासत की सम्पत्ति के लिए भ्रातृव्यों में पारस्परिक विद्वेष स्वाभाविक था । इसी पारस्परिक विद्वेष के कारण भ्रातृव्य का प्रयोग यदाकदा शत्रु अर्थ में व्यंजित किया जाने लगा था । फिर भी संयुक्त परिवार-परम्परा के टूटने के चिह्न शतपथ में सामान्यतया परिलक्षित नहीं हैं । अथर्ववेद में भी भ्रातृव्यों की गणना बांधवों में ही की गई है ।[3]

मित्र के साथ भी पारिवारिक सम्बन्ध रखे जाते थे । शतपथ में मित्र के महत्त्व पर विशेष बल दिया गया है ।[4] मित्र के साथ विश्वासघात की पूर्ण भर्त्सना की गई है ।[5] तैत्तिरीय संहिता में पत्नी को मनुष्य की मित्र कहा गया है ।[6]

नारी की स्थिति

जिस प्रकार समाज का आधार परिवार है तथैव परिवार की आधारभूत इकाई नारी है । समाज में नारियों की स्थिति एवं उससे सम्बन्धित धारणाओं के ज्ञान के बिना किसी भी समाज का सांस्कृतिक अध्ययन अपूर्ण ही कहा जाएगा अतः शतपथकालीन नारी के स्वरूप एवं समाज में उसके स्थान को जानना आवश्यक है । शतपथ में नारी के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग मिलता है किन्तु स्त्री का वास्तविक स्वरूप 'पत्नी' ही माना गया है ।[7] ऋग्वेद में जहाँ स्त्री के जाया (जायेदमस्तम्) तथा गृहिणी (गृहिणीगृहमुच्यते) रूप की प्रशंसा की गई है[8] वहाँ शतपथ में उसका 'पत्नी'[9]-रूप अधिक चर्चित एवं मुखरित हुआ है । नारी का पति से संयुक्तरूप ही समाज द्वारा अंगीकृत रूप था । पति स्त्री की प्रतिष्ठा माना जाता था (शतपथ, 2, 6, 2, 14) । शतपथ में कहा गया है कि पत्नी के

---

1. व्हिटनी, अथर्ववेद, 2, 18, 5
2. एगलिंग, 'द शतपथ ब्राह्मण', भाग 5, पृ० 43
3. अथर्ववेद, 10, 3, 9; 5, 22, 12
4. श० ब्रा०, 4, 1, 4, 8
5. वही, 5, 3, 5, 13; 1, 5, 3, 17
6. तै० सं०, 6, 4, 8, 1
7. 'योषा वै पत्नी' (श० ब्रा०, 3, 8, 2, 5)
8. बलदेव उपाध्याय, 'वैदिक साहित्य एवं संस्कृति', पृ० 520
9. 'पत्युर्नो यज्ञ संयोगे' (पाणिनि, 4, 1, 33)

बिना पुरुष स्वर्ग नहीं जा सकता ।[1] स्त्री पुरुष का अर्धभाग है ।[2] अर्धांगिनी होने के नाते पत्नी पति के साथ प्रत्येक श्रेष्ठ कार्य में अनिवार्य रूप में भाग लेती थी। अपत्नीक व्यक्ति यज्ञ के अयोग्य होने के कारण हेय दृष्टि से देखा जाता था ।[3] अथर्ववेद में भी स्त्रियों को स्पष्टतः यज्ञ की अधिकारिणी कहा गया है ।[4] शतपथ में स्त्री के निम्न अर्धभाग को अमेध्य (अपवित्र) माना गया है अतः यज्ञ से पूर्व उसकी शुद्धि की जाती थी ।[5] पत्नी द्वारा यज्ञ की अनेक क्रियाओं का सम्पादन किया जाता था ।[6] यज्ञ की वेदी के निर्माण में भी उसकी सहायता अपेक्षित थी ।[7] शतपथ में एक ऐसे संस्कार का भी वर्णन है जिसमें प्राचीन-काल में जाया ही 'हविष्कृत' बनाती थी किन्तु बाद में पुरोहित द्वारा यह कर्म सम्पादित होने लगा ।[8]

शतपथ ने नारी की निरीहता को भी स्पष्ट स्वीकार किया है —

न वै योषा कंचन हिनस्ति[9]

यद्यपि नारी के लिए 'अबला' शब्द का प्रयोग अनुपलब्ध है किन्तु उसे शक्तिहीन ही समझा गया है ।[10] स्त्री की प्रस्तुत शक्तिहीनता दैहिक थी। अनेक स्थलों पर वह 'श्री' सम्बोधन द्वारा अत्यधिक सम्मानित की गई है ।[11] इस सम्मान के मूल में स्त्री की प्रजनन शक्ति ही मुख्य है—

योषायै वा इमाः प्रजाः प्रजायन्ते[12]

अतः स्त्री को अम्बा भी कहा गया है ।[13] माँ के रूप में नारी का व्यक्तित्व वात्सल्यपूर्ण था ।[14]

---

1. श० ब्रा०, 5, 2, 1, 10
2. वही, 5, 1, 6, 10
3. 'अयोग्यो वा ह्येष यो अपत्नीकः' (श० ब्रा०, 5, 1, 6, 10; तै० ब्रा०, 2, 2, 2, 6)
4. 'योषितो यज्ञिया इमाः' (अथर्ववेद 11, 1, 17-27)
5. श० ब्रा०, 5, 2, 1, 8
6. वही, 1, 9, 2, 1 तथा 5
7. वही, 10, 2, 3, 1 तथा 3
8. वही, 1, 1, 4, 13
9. वही, 6, 3, 2, 29
10. 'अवीर्या वै स्त्री' (श० ब्रा०, 2, 5, 2, 36, का० सं०, 28, 8, 44)
11. श० ब्रा०, 11, 4, 3, 2
12. वही, 3, 8, 2, 5
13. वही, 3, 9, 4, 21
14. वही, 5, 2, 1, 18

वयस्क स्त्री के लिए प्रयुक्त सामान्य शब्द 'युवति' था। रूपवती स्त्रियों के प्रति सामान्य आकर्षण की भावना रहती थी अतः कहा गया है कि रूपिणी स्त्री प्रिय तथा भावुक होती है।[1] त्वचा, रोम तथा स्वास्थ्यद्योतक लालिमा ही रूप के वास्तविक लक्षण माने जाते थे।

चर्म वै रूपम् लोम वै रूपम्, रोहिते च सर्वाणि रूपाणि[2]

पृथुश्रोणि[3] (भारी नितम्बों वाली), पीवरी[4] (उन्नत स्तनों वाली) एवं सुन्दर जांघों वाली[5] स्त्रियों की प्रशंसा की गई है। स्त्री वैवाहिक प्रेम की वस्तु तथा जाति-विकास की साधन थी। पत्नी के लिए कहीं-कहीं भार्या शब्द का प्रयोग भी मिलता है। बृहदारण्यक उपनिषद[6] में याज्ञवल्क्य की दो पत्नियों को भार्या ही कहा गया है। शतपथ में पति के लिए प्रयुक्त 'भर्तृ'[7] शब्द इसी भार्या अर्थ का पोषक है।

सामान्यतया स्त्रियाँ, शान्त एवं शीतल प्रकृति की होती थीं किन्तु कामुक स्त्रियों के भी प्रासंगिक उल्लेख उपलब्ध होते हैं।[8] 'सभेय' अर्थात् युवा पुरुष 'प्रथमवयसी' स्त्रियों का प्रिय तथा भावुक कहा गया है।[9] कामवासना तथा कामसम्बन्धों को लेकर उस समय कोई कुण्ठा नहीं प्रतीत होती है।[10] मैथुन को एक स्वस्थ्य शारीरिक व्यापार समझा जाता था जिसका वर्णन याज्ञिक प्रसंगों में निस्संकोच किया गया है।[11] यज्ञ को किसी विधि-विशेष के अवसर पर पत्नी से उसके परपुरुष-सहवास से सम्बन्धित प्रश्न करना तथा निरुक्त पाप का कम होना आदि उल्लेख उक्त विचार के समर्थक हैं।[12] सहवास को स्वस्थ दैहिक व्यापार समझते हुए भी 'प्रच्छन्नता' में आनन्द के आधिक्य का समर्थन किया गया

---

1. श॰ ब्रा॰, 13, 1, 9, 6
2. वही
3. वही, 3, 5, 1, 11
4. वही, 7, 2, 2, 11
5. वही, 6, 5, 1, 10
6. वही, 3, 3, 4, 1
7. वही, 3, 2, 4, 6
8. वही, 7, 2, 2, 11
9. वही, 13, 1, 9, 8
10. श्रेडर ने अपनी पुस्तक 'प्री-हिस्टोरिक एंटीक्विटीज' (पृ॰ 388) में यह सिद्ध किया है कि प्रारंभिक आर्य-जातियों में विवाहित पुरुषों के व्यभिचार को विशेष आपत्तिजनक नहीं माना जाता था। हाँ, पत्नी का व्यभिचार अवश्य अपराध माना जाता था।
11. श॰ ब्रा॰, 6, 6, 2, 8
12. वही, 2, 5, 2, 20

है; मुक्त विचरण में नहीं।[1] स्त्री को वामांगिनी भी कहा गया है।[2]

स्त्रियाँ आभूषण-प्रिय थीं। रुक्म एक स्वर्ण-आभूषण था जो वर्त्तुलाकार हिरण्यफलक की भाँति होता था।[3] रुक्मपाश (स्वर्ण-संकल) संभवतः सोने की जंजीर के रूप में गले में पहना जाता था।[4] कण्ठाभरण के रूप में गले के लिए हिरण्मयी स्रज का भी उल्लेख मिलता है।[5] स्त्रियाँ मणि को सूत्र में लटका कर गले में पहनती थीं।[6] विवाह आदि के अवसर पर पुष्प-आभूषण भी धारण करती थीं।[7] शृंगार में उनकी विशेष रुचि थी। वे लम्बे केश रखती थीं। पुरुषों के लिए लम्बे बाल बढ़ाना स्त्रैण प्रवृत्ति का द्योतक कहा गया है। स्त्रियाँ बालों में माँग निकालती थीं[8] तथा सुंदर जूड़े बनाती थीं। खुली वेणी को शोकसूचक कहा गया है।[9] कुछ स्त्रियाँ जूड़ा बनाकर मुकुट जैसे आभूषण को भी सिर पर पहनती थीं।[10] केशविन्यास के लिए दर्पण का प्रयोग किया जाता था। समृद्ध घरों में सोने में मंढ़े दर्पण प्रयुक्त होते थे[11] जिन्हें हिरण्मय प्राकाश कहा गया है। स्त्रियाँ साही के काँटों[12] से आँखों में अंजन लगाती थीं।[13]

पर्दा-प्रथा की कल्पना अस्वाभाविक है क्योंकि स्त्रियाँ सामान्यतया यज्ञ में भाग लेती थीं। स्त्रियों को नृत्य एवं संगीत से भी प्रेम था। शतपथ के अनुसार ये पुरुषोपम विधाएँ नहीं हैं।[14] सामगान स्त्रियों का एक विशेष कार्य कहा गया है।[15] अश्वमेध खंड के किसी संस्कार के प्रसंग में अनेक प्रेमियों वाली नर्तकी का उल्लेख है जिसे सुभद्रिका कहा गया है।[16]

---

1. श० ब्रा०, 4, 6, 7, 9
2. वही, 1, 1, 1, 20
3. वही, 3, 5, 1, 20। कुछ विद्वान इसे चाँदी का आभूषण मानते हैं।
4. सोने की साँकल, जिस पर यज्ञ-पात्र लटकाया जाता था (वही, 6, 7, 1, 7)
5. वही, 5, 4, 5, 22
6. वही, 12, 3, 4, 2
7. वही, 13, 5, 4, 2
8. वही, 7, 4, 1, 14
9. वही, 1, 3, 3, 5
10. वही, 6, 5, 1, 10
11. वही, 5, 4, 5, 22
12. वही, 2, 6, 4, 5
13. वही, 3, 1, 3, 11
14. वही, 3, 2, 4, 3 तथा 6; मै० सं० 3, 7, 3
15. श० ब्रा०, 14, 3, 1, 35
16. वही, 13, 2, 8, 3

पति तथा पुत्र के क्रमशः सम्मान तथा मोह की पात्र होते हुए भी स्त्री की आत्मा को कुचल देने तथा दायभाग से बहिष्कृत कर देने का भी उल्लेख मिलता है।[1] प्रस्तुत उल्लेखनीय स्थल यह द्योतित करता है कि सम्भवतः कुछ स्त्रियाँ अत्यन्त उद्धत एवं उद्दंड होने लगीं थीं जो पतियों द्वारा प्रताड़ित भी होती थीं। आत्मा नष्ट कर देने से अभिप्राय उन्हें निःसत्व कर देना था। स्त्रियों के आत्मा न होने सम्बन्धी परवर्ती सिद्धान्त का स्रोत भी संभवतः यज्ञ की यही प्रक्रिया थी। स्त्रियों की सामान्य प्रवृत्ति व्यर्थ की तुच्छ बातें करने तथा उन्हें तूल देते रहने की थी। शतपथ में एक रोचक उपाख्यान द्वारा यह तथ्य प्रतिपादित किया गया है।[2]

इस प्रकार स्त्रियों में 'अनृतता'[3] की प्रवृत्ति भी विकसित होने लगी थी अतः अनेक स्त्रियों के मध्य एक बालक पुरुष को भी अग्रणी रहने का आदेश दिया गया है।[4] स्त्रियों पर पुरुष के पूर्ण स्वामित्व की भावना का सूत्रपात शतपथ में द्रष्टव्य है। पति एवं भर्तृ शब्दों का प्रयोग भी इसी स्वामित्व का सूचक है। इस प्रकार समाज में स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण में यथार्थ एवं आदर्श का एक विचित्र सम्मिश्रण दिखाई देता है। नारी के व्यक्तिगत स्वतन्त्र विकास से सम्बन्धित विवरण का नितान्त अभाव है। डा० पी० एल० भार्गव (इण्डिया इन द वैदिक एज, पृष्ठ 248) के अनुसार वैदिक युग के उच्च परिवारों में स्त्री एवं पुरुष दोनों अवश्य शिक्षा पाते थे। बृहदारण्यक उपनिषद में भी पंडिता कन्या की प्राप्ति के लिए विशेष अनुष्ठानों की योजना मिलती है।[5]

विवाह

समाज में स्त्री तथा पुरुष विवाह द्वारा परस्पर जीवन भर के लिए सम्बद्ध हो जाते थे। शतपथ में पति-पत्नी की इस सम्बद्धता की उपमा (अन्न के) दलहन के दो दानों से दी गई है।[6] विवाह-संस्कार में 'सप्तपदी' की क्रिया का मूल भी शतपथ में उपलब्ध है।[7] विवाह सम्बन्ध में गोत्र की दूरी को आवश्यक

1. श० ब्रा०, 4, 4, 2, 13
2. वही, 3, 2, 4, 6
3. वही, 14, 1, 1, 31
4. वही, 1, 3, 1, 9
5. बृ० उ० 6, 4, 17
6. श० ब्रा०, 14, 4, 2, 4
7. वही, 3, 3, 1, 1

मान कर उसे वैज्ञानिक सिद्ध किया गया है।[1] गोभिल गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्रों में एक ही गोत्र में अथवा माता या पिता की ओर की छः पीढ़ियों तक में विवाह सम्बन्ध निषिद्ध किया गया है[2] किन्तु शतपथ इसके विपरीत तीसरी तथा चौथी पीढ़ी में विवाह की अनुमति देता है।[3] यद्यपि आनुवंशिक पवित्रता की प्रशंसा की गई है[4] तथापि विविध वर्णों में परस्पर विवाह का एक प्राचीन उदाहरण भी मिलता है। क्षत्रिय राजा शर्यात ने अपनी पुत्री सुकन्या का च्यवनऋषि से विवाह किया था।[5]

एक पुरुष अनेक स्त्रियों से विवाह कर सकता था। एक संस्कार में उल्लेख है कि यदि यजमान के एक से अधिक पत्नियाँ हों तो सभी को उपस्थित करे।[6] इसी प्रकार विसर्जन के समय भी सभी पत्नियों के उपस्थित होने को कहा गया है।[7] अन्यत्र स्पष्टतः बहु-पत्नीत्व को सहमति प्रदान की गई है—

एकस्य पुंसो बह्वयो जाया भवन्ति[8]

कुछ विद्वान् शतपथ के एक स्थल-विशेष[9] को लेकर बहुभर्तृत्व की कल्पना करते हैं किन्तु यहाँ 'पतयः' (बहुवचन) शब्द का प्रयोग अनेक कुमारियों के सम्बन्ध में हुआ है न कि एक स्त्री के अनेक पतियों के लिए।

विवाह का प्रमुख प्रयोजन सन्तानोत्पत्ति ही था। ऋग्वेद-परम्परा[10] के विपरीत शतपथ के समय स्त्री का कुमारी रहना असंभव था। एक स्थान पर कुमारियों को वेदी की परिक्रमा करने का विधान है[11] ताकि रुद्र की बहिन अम्बिका उनका भाग्य खोले। समाज में विवाह के बंधन की दृढ़ स्थापना थी। एक बार विवाह होने के पश्चात् स्त्री जीवन भर पति का साथ देती थी। शर्यात-पुत्री

---

1. श० ब्रा०, 1, 8, 3, 6
2. गोभि० गृ० सू०, 3, 4, 5; आप० ध० सू० 2, 5, 11-16
3. श० ब्रा०, 1, 8, 3, 6
4. वही, 4, 3, 4, 19
5. वही, 4, 1, 5, 7
6. वही, 3, 9, 3, 27
7. वही, 4, 6, 8, 11
8. वही, 9, 4, 1, 6
9. वही, 2, 6, 2, 14
10. ऋग्वेद 2, 17, 7 के अनुसार कई कन्याएँ आमरण अविवाहित रहती थीं।
11. श० ब्रा०, 2, 6, 2, 13

सुकन्या कहती है कि मेरे पिता ने मुझे जिसे दे दिया है उसे जीवनपर्यन्त नहीं छोड़ूँगी।[1]

शतपथ का साक्ष्य विवाह तथा यौन नैतिकता-विधायक अनेक तथ्यों और धारणाओं पर प्रकाश डालता है। एक ओर विवाहोत्तर दाम्पत्य सम्बन्धों में पवित्रता का आग्रह सूचित होता है तो दूसरी ओर यह भी एक वास्तविकता थी कि सामाजिक आचरण में इस मर्यादापूर्ण आदर्श का सर्वत्र अखंड पालन नहीं हो पाता था, क्योंकि यदि ऐसा होता तो याज्ञवल्क्य को यह नहीं कहना पड़ता कि 'किसे चिन्ता है कि उसकी पत्नी दूसरों से सम्बन्ध रखती है या नहीं?'[2] न ही यज्ञ के समय पत्नी से उसके प्रेमियों के विषय में प्रश्न पूछे जाने की व्यवस्था करनी पड़ती। पत्नी द्वारा अपने प्रेम-सम्बन्धों की स्वीकारोक्ति पर पाप के हलका होने का विधान[3] इस बात का परिचायक है कि पवित्रता का आग्रह होते हुए भी इस विषय में अंधकट्टरता की अपेक्षा व्यक्ति के परिष्कार के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए उदार तथा क्षमाशील दृष्टिकोण अपनाया जाता था। प्रस्तुत संदर्भ में श्रेडर का यह कथन भी विचारणीय है कि पति की अपेक्षा पत्नी का व्यभिचार अधिक आपत्तिजनक माना जाता था।[4]

रहन-सहन

शतपथ ब्राह्मण में आर्यों के रहन-सहन का स्तर समृद्धिजन्य दृष्टिगोचर होता है। खाद्य एवं पेय पदार्थों में, जिनका वर्णन आगे किया जाएगा, असाधारण विविधता का होना समृद्धि का स्पष्ट लक्षण है। समृद्ध घरों में सेवा के लिए 'परिचर'[5] रहते थे। भोजन करने से पूर्व पान-नेजन[6] नामक पात्र से चरण प्रक्षालित कराए जाते थे। जमीन पर बैठने के लिए आसन तथा चटाइयों का प्रयोग किया जाता था।[7] अधःशयन किसी विशिष्ट व्रत के लिए ही निर्धारित था।

---

1. 'यस्मै मां पिता दान्नैवाहं तं जीवन्तं हास्यामीति' (श० ब्रा० 4, 1, 5, 9)
2. 'तदु होवाच याज्ञवल्क्यो यथादिष्टं पत्न्या अस्तु कस्तदाद्रियेत यत्परः पुंसा वा पत्नी स्यात्' (वही 1, 3 1, 21)
3. 'निरुक्तं वा एनः कनीयो भवति सत्यं हि भवति तस्माद्वेव पृच्छति' (वही, 2, 5, 2, 20)
4. द्रष्टव्य इसी अध्याय के पृष्ठ 123 की संदर्भ संख्या 10
5. श० ब्रा०, 4, 3, 5, 9
6. वही, 3, 8, 2, 1
7. वही, 3, 3, 4, 26; 5, 2, 1, 22

आर्य लोग पर्यंकों तथा तख्तों पर सोते थे।[1]

खाद्यान्न को कोठे, कुम्भी तथा भस्त्राओं[2] में रखा जाता था। जहाँ धान प्रचुरता से जमा होकर वर्षों पड़ा रहता है ऐसे प्रकोष्ठों को राजस्थान में कोठा तथा महाराष्ट्र में कणगा कहा जाता है। कुम्भी, झाल या खारी को कहते हैं जिसमें वर्ष भर के लिए धान आता था। बुखारी को भस्त्रा कहा जाता था। पीने के लिए पानी को ठण्डा रखने के लिए भूमि में एक 'निनाह्य' (नांद) बनाई जाती थी।[3]

भोजन बनाने के लिए लकड़ी के अतिरिक्त गोबर के उपलों का इन्धन जलाया जाता था।[4] स्त्रियाँ नित्य छाछ बिलोकर मक्खन निकालती थीं। मथानी को उपमंथनी या मन्था कहा जाता है।[5] मन्थन द्वारा उत्पन्न घृत के प्रथम कण 'फाण्ट' कहलाते थे।[6] प्रत्येक घर में चक्की से अन्न पीसा जाता था। चक्की जिस लकड़ी के आधार पर रखी जाती थी वह 'शम्या' कहलाती थी।[7] अन्न को सूपों द्वारा साफ किया जाता था।[8]

शतपथ में गृह को प्रतिष्ठा कहा गया है।[9] प्रत्येक परिवार घर बनाकर रहता था। घर पक्की ईंटों के बनते थे।[10] निर्धन लोगों के घर कच्ची ईंटों से बने होते थे तथा उनके घरों में संभवतः एक द्वार होता था किन्तु समृद्ध लोगों के मकानों में अनेक द्वार बने होते थे। कहा गया है कि जिनके सुदृढ़ घरों में दरवाजे हैं वे पृथिवी पर और भी सुदृढ़ हों।[11] दरवाजों में लगी अर्गला को द्वार-पिधान कहा जाता था।[12] जैसाकि ऊपर उल्लेख हुआ है, मकानों में अन्नागार

1. श॰ ब्रा॰, 11, 5, 1, 2
2. वही, 1, 1, 2, 7
3. वही
4. वही, 2, 1, 1, 7
5. वही, 2, 6, 1, 6; 5, 3, 2, 6
6. वही, 3, 1, 3, 8
7. वही, 1, 1, 1, 22
8. वही, 1, 1, 2, 1
9. वही, 2, 4, 1, 7
10. वही, 1, 5, 1, 21; 6, 1, 2, 21; 2, 1, 2, 16; 2, 3, 3, 17
11. वही,, 1, 1, 2, 22; 9, 5, 1, 36
12. वही, 1, 6, 1, 19; 11, 1, 1, 1

बनाए जाते थे।[1] स्त्रियों के लिए बने कक्ष पत्नीशाल कहलाते थे।[2] राजस्थान के मकानों में आज भी 'साळ' नामक कक्षविशेष होता है जहाँ स्त्रियाँ आराम करती हैं। अतिथि के लिए भी विशेष कक्ष का निर्माण होता था।[3] घरों की सफाई कर कूड़ा उत्कर (ढेर) पर फेंका जाता था।[4]

पुरुष सामान्यतया दाढी-मूँछ रखते थे क्योंकि दाढी-मूँछें रखना पुरुषत्व का लक्षण माना गया है।[5] अनेक पुरुष सिर पर भी बाल रखते थे।[6] शतपथ में 'कैशिनी' प्रजा का भी उल्लेख है। यह एक सम्प्रदाय-विशेष होगा जिसमें स्त्री-पुरुष सभी लम्बे बाल रखते थे।[7] कुछ व्यक्तियों को गलमुच्छें रखने का भी शौक था जिन्हें वे नियमित रूप से सँवारते थे।[8]

शारीरिक स्वच्छता का भी ध्यान रखा जाता था। नखों तथा दाँतों की सफाई तत्कालीन आर्यों की चर्या का एक नियमित अंग था फिर भी विशेष महत्त्वपूर्ण अवसरों पर सफाई के आवश्यक आदेश दिए गए हैं।[9]

द्यूत-क्रीडा राजाओं के मनोरंजन का साधन अवश्य थी परन्तु इसे राजसूय यज्ञ में आनुष्ठानिक क्रियाओं में सम्मिलित कर दिया गया था।[10] अग्न्याधेय एवं राजसूय यज्ञों के अवसर पर सांस्कारिक रूप में जुआ खेला जाता था।[11] अक्ष-पासों के लिए कृत, त्रेता, द्वापर तथा कलि व्याहृतियाँ मिलती हैं। 'कलि' का दूसरा नाम 'अभिभू' था[12] जो पाँच अक्षों में पाँचवाँ माना जाता था।[13] घुड़दौड़ भी मनोरंजन का साधन थी। राजसूय यज्ञ के समय औपचारिक दौड़

1. श० ब्रा०, 3, 1, 1, 6
2. वही, 4, 6, 9, 8
3. वही, 5, 4, 3, 22
4. 'उत्करो वै अतिरिक्तस्य प्रतिष्ठा' (वही, 8, 7, 2, 16; 2, 1, 1, 7)
5. वही, 12, 9, 1, 6
6. वही, 5, 5, 3, 1
7. वही, 11, 8, 4, 6
8. वही, 3, 1, 2, 5
9. वही, 2, 1, 3, 4
10. वही, 5, 4, 4, 23
11. वही, 5, 4, 4, 6; 13, 3, 2, 1
12. वही
13. एगलिंग, 'द शतपथ ब्राह्मण', भाग 3, पृ० 106, 107

का आयोजन भी किया जाता था।[1] दौड़ प्रारम्भ करने वाला व्यक्ति अजिसृत कहलाता था।[2]

वेश-भूषा

स्त्रियाँ आभूषण पहनती थीं तथा केशों को सँवारती एवं सजाती थीं। स्त्री-पुरुष सूती, ऊनी एवं रेशमी वस्त्र पहनते थे। शतपथ में एक रोचक किन्तु कल्पित उपाख्यान[3] द्वारा कारण बताया गया है कि समस्त प्राणी-जगत् में स्त्री-पुरुष ही वस्त्र धारण क्यों करते हैं? सभ्य व्यक्तियों को किसी न किसी प्रकार के वस्त्र अवश्य पहनने चाहिएँ।[4] वस्त्रों के लिए सर्वाधिक प्रचलित शब्द 'वासस्' है। शतपथ (13, 2, 7, 4) में उल्लिखित शल्मलि के पौधे को एगलिंग 'काटन प्लाण्ट' मानते हैं जिसमें सूती वस्त्र के प्रयोग का संकेत मिलता है। सामान्यतया भेड़ की ऊन के वस्त्रों का प्रचलन था।[5] ऊनी वस्त्रों को 'कोमल' कहा गया है।[6] रंगविहीन ऊनी परिधान को 'पांडव' कहते थे।[7] अतः रंगीन वस्त्र भी पहने जाते थे। अभिषेक के समय यज्ञकर्त्ता की पत्नी द्वारा कुशपरिधान धारण किए जाने का उल्लेख मिलता है।[8] रेशमी वस्त्र भी पहने जाते थे।[9] 'तार्प्य' एक भीतरी वस्त्र था जो रेशम से बनता था। इसी स्थान पर त्रिपर्ण पौधे से बनने वाले त्रिपाण नामक क्षौम (वस्त्र) का भी उल्लेख मिलता है। 'अजिन्-वासिन' विशेषण से स्पष्ट है कि मृग या अज के चर्म का परिधान भी प्रयुक्त होता था।[10]

शतपथ में अधिवास, चण्डातक, प्राचीनावीत तथा उष्णीष नामक परिधानों का भी विवरण मिलता है। अधिवास ऊपरी परिधान का द्योतक है। एक संस्कार में राजा पहले अन्तरीय, पुनः अन्य परिधान तथा अन्त में अधिवास पहनता था।[11] अतः यह चोगे या अंगरखे का बोधक प्रतीत होता है। विविध

---

1. श० ब्रा०, 2, 4, 3, 4; 5, 4, 2, 3; 5, 1, 1, 3
2. वही, 5, 1, 5, 10; 11, 1, 2, 13
3. वही, 3, 1, 2, 13
4. वही, 11, 5, 1, 1
5. वही, 5, 2, 1, 8
6. वही, 1, 3, 3, 11
7. वही, 5, 3, 5, 21
8. वही, 5, 2, 1, 8
9. वही, 5, 3, 5, 20
10. वही, 5, 2, 1, 21
11. वही, 5, 3, 5, 22

यज्ञों में विभिन्न वस्त्रों के धारण किए जाने का उल्लेख निश्चय ही वस्त्र-समृद्धि की ओर इंगित करता है।[1] चण्डातक[2] एक भीतरी वस्त्र था जिसे स्त्रियाँ धारण करती थीं। इसे 'अर्द्धोरुक' कहा गया है। 'प्राचीनावीत' को तिलक एक परिधान मानते हैं किन्तु सायण के अनुसार यह दाएँ स्कंध के ऊपर से बाएँ हाथ के नीचे यज्ञोपवीत धारण करने का द्योतक है।[3] उष्णीष धारण करना सामान्य प्रथा थी।[4] उष्णीष का रंग प्रायः लाल होता था।[5]

वासस् का अर्थ सूती कपड़ा है। ताने को 'पर्यास', बाने को 'अनुच्छाद', धागे को 'तन्तु', वस्त्र के मध्य छिद्रों को 'आरोकाः' तथा वस्त्र के किनारे को 'प्रघात' कहा गया है।[6] यहाँ 'नीवी' का भी उल्लेख किया गया है जिसका अभिप्राय कमर के पास धोती कसने से है। इसे टीकाकारों ने वस्त्र की दशा भी कहा है,[7] किन्तु 'दशा' शब्द स्वयं किनारे के लिए प्रयुक्त हुआ है।[8] एक स्थान पर 'दशाहोमीयवासस्' (झालरदार कपड़े) में दक्षिणा बांधने का उल्लेख है, जिससे ज्ञात होता है कि वस्त्रों में कलात्मकता को भी महत्त्व दिया जाता था।

शीत एवं उष्णता से पैरों को बचाने के लिए 'उपानह' धारण किए जाते थे जो मृग-चर्म के बनते थे किन्तु एक स्थान पर जूते बनाने के उपादान् के रूप में वराह-चर्म का भी उल्लेख किया गया है।[9]

अन्य प्रथाएँ

बालक को जन्म लेते ही दूध तथा घृत पिलाया जाता था। तत्पश्चात् वह माँ का स्तनपान करता था।[10] बालक के नामकरण में एक नाम गुह्य तथा दूसरा प्रत्यक्ष होता था।[11] इसी प्रथा के कारण इन्द्र का एक गुह्य-नाम अर्जुन था जिसका

---

1. श० ब्रा०, 2, 5, 2, 46
2. वही, 5, 2, 1, 8
3. वही, 2, 4, 2, 2
4. वही, 3, 3, 2, 3; 4, 5, 2, 7
5. वही, 5, 3, 1, 11
6. वही, 3, 1, 2, 18
7. वही, 2, 4, 2, 24
8. वही, 4, 2, 2, 11
9. वही, 5, 4, 3, 19
10. वही, 2, 5, 1, 6
11. वही, 6, 1, 3, 9

केवल शतपथ में ही उल्लेख मिलता है।[1] स्त्री तथा पुरुष दोनों की विना वँधी शिखा शोकसूचक कही गई है।[2] अतः स्पष्ट है कि पुरुष भी वँधी हुई शिखा रखते थे। शव का अग्निदाह किया जाता था।[3] प्रस्तुत अग्नि को 'आमाद्' नामक अग्नि से अधिक अपवित्र माना जाता था। शतपथ में ग्राम की सीमा से दूर उत्तर की ओर झुके, सुन्दर, शान्त स्थान पर मृतक की दक्षिण-पूर्वाभिमुख चतुष्कोणीय समाधि बनाने का विधान है। अग्निचित् द्वारा अग्निवेदिका के समान अन्त्येष्टि-वेदिका भी बनाई जाती थी। प्राच्यों की समाधियाँ गोलाकार होती थीं।[4]

खाद्य एवं पेय

शतपथ ब्राह्मण में खाद्य तथा पेय दोनों के सामूहिक महत्त्व को स्वीकार किया गया है। खाद्य तथा पेय दोनों मिलकर ही भोजन में सरसता के उत्पादक हैं।[5] भोजन का उद्देश्य आनन्द व तृप्ति था—

तृप्तिरेवास्य गतिः। तस्माद्यदाऽन्नस्यतृप्यति अथ स गत इव मन्यते।
आनन्द एवास्य विज्ञानमात्मा।[6]

तृप्ति से तात्पर्य आकण्ठपूरित भोजन करना न होकर सुस्वादु भोजन करना था। नियमित एवं संयमित भोजन की प्रशंसा तथा अति भोजन की निन्दा की गई है।[7] संयमित भोजन के लिए कोई सा एक अन्न जीवन-भर के लिए छोड़ने का भी उल्लेख मिलता है।[8] शतपथ में उपदिष्ट है कि स्वास्थ्यप्रद भोजन द्वारा मानव को तेजस्वी बनना चाहिए।[9] भोजन में छओं रसों के समन्वय का का उपदेश भोजन समृद्धि का द्योतक है।[10]

---

1. श० ब्रा०, 5, 1, 3, 9; 2, 4, 4, 4
2. वही, 1, 3, 3, 5
3. वही, 1, 2, 1, 4,
4. वही, 4, 5, 2, 15; 13, 8, 2, 1; 13, 8, 1, 1
5. वही, 3, 6, 1, 7
6. वही, 10, 3, 5, 13
7. 'यदु वा आत्मसम्मितमन्न तदवति। तन्नहिनस्ति। यद्भूयोहिनस्ति तत्। (वही, 10, 4, 1, 3)
8. वही, 7, 2, 4, 14
9. वही, 2, 2, 1, 10
10. वही, 10, 4, 1, 14

भोजन बनाते समय बाह्य के साथ-साथ आन्तरिक शुद्धि का भी ध्यान रखा जाता था जैसे दाल इत्यादि उबालते समय ऊपर आए अशुद्ध पदार्थ (बल्कस) को निकाल दिया जाता था।[1] भोजन बनाने वाले को पक्तृ या अयपितृ[2] तथा परोसने वाले को परिवेष्टृ कहा जाता था। पाकशाला से सम्बन्धित प्रस्तुत सेवकों की विविधता तत्कालीन महानस-समृद्धि की द्योतक है।

समृद्ध घरों का प्रमुख खाद्यान्न गेहूँ था क्योंकि गेहूँ को पुरुष-ओषधियों में 'नेदिष्टतम' कहा गया है।[3] कूटे या पीसे हुए अन्न को 'पिष्ट' कहा जाता था तथा रोटी को 'पक्ति'।[4] यव का मोटा आटा कूट कर तथा तितउ से छानकर उसका सत्तू बनाया जाता था जो भोजन तथा यज्ञ की हवि, दोनों रूपों में काम में आता था।[5] भुने हुए सत्तू को दूध में मिला कर तथा मथकर 'मन्थ' तैयार किया जाता था।[6] 'अपूप' शतपथकालीन आर्यों का प्रिय भोजन था।[7] जौ अथवा चावलों को भूनकर अथवा पीस कर, घी या दूध में मिला अपूप बनाए जाते थे।[8] यह एक प्रकार का मिष्टान्न था। आजकल जौ के अपूपों को 'पुए' तथा चावल के अपूपों को 'संदेस' कहा जाता है।

एक स्थान पर पाँच व्यंजनों का एक साथ उल्लेख मिलता है जो पुरोडाश, धाना, करम्भ, दधि तथा आमिक्ष हैं।[9] पुरोडाश यज्ञ के लिए प्रयोग में आने वाली रोटी या बाटी थी। 'धाना' भुने हुए जौ थे[10] जिन्हें यदाकदा सोम से मिलाकर भी खाया जाता था।[11] 'करम्भ' तत्कालीन बहुप्रचलित खाद्य है जिसका बारम्बार उल्लेख मिलता है। सायण ने एक स्थान पर इसे 'आज्य मिश्रं मन्थम्' कहा है तथा अन्यत्र 'दध्ना संयुता सक्तवः'।[12] वस्तुतः करंभ राजस्थान के गाँवों

---

1. श० ब्रा०, 12, 8, 1, 16
2. 'अयपितृ' का उल्लेख वैदिक साहित्य में केवल शतपथ में ही मिलता है (वही, 1, 2, 2, 14)
3. वही, 5, 2, 1, 6
4. वही, 1, 1, 4, 3; 3, 3, 4, 17; ऐ० ब्रा०, 2, 9
5. श० ब्रा०, 1, 6, 3, 17; 5, 5, 4, 22; 13, 2, 1, 3
6. वही, 4, 2, 1, 2
7. ऋग्वेद, 10, 45, 9; श० ब्रा०, 2, 2, 3, 13
8. डा० पी० एल० भार्गव, 'इण्डिया इन द वैदिक एज', पृ० 248
9. श० ब्रा०, 4, 2, 5, 18
10. वही, 4, 2, 5, 19
11. वही, 4, 4, 3, 9
12. वही, 4, 2, 5, 19; 2, 5, 2, 14 में द्रष्टव्य सायण टिप्पणी

का प्रमुख खाद्य 'राबड़ी' का पूर्वरूप ही था जो उस समय भी आज की भाँति सामान्य जनता का खाद्य था। दूध में आटे को मथ कर तथा उबाल कर खाया जाता था।[1] आज भी उत्तर प्रदेश के ग्रामों में दूध-लपसी इसी प्रकार बनाकर खाई जाती है।

ओदन (भात) तत्कालीन आर्यों का अत्यधिक रुचिकर भोजन प्रतीत होता है जिसे विविधता से बनाया जाता था। क्षीरोदन, दध्योदन, मुद्गोदन, तिलौदन, मांसौदन तथा घृतौदन आदि के उल्लेख से विभिन्न मिश्रणों द्वारा चावल पकाए जाने का संकेत उपलब्ध होता है। बारम्बार वर्णित क्षीरोदन दूध में उबाले हुए चावल अर्थात् 'खीर' का पूर्वरूप है।[2] मांस के साथ भी ओदन संयुक्त होते थे।[3] सादे बने चावलों की संभवतः घृतौदन संज्ञा थी जिन्हें पक जाने के पश्चात् घृत से संस्कृत कर दिया जाता था। इन्हें उड़द के साथ मिलाकर भी खाया जाता था।[4] यज्ञ के लिए ओदन भी बनते थे। उबले हुए चावलों की बटिया को 'चरु' कहा गया है जो यज्ञसम्बन्धी व्यंजन है।[5] एक अन्य भोज्य व्यंजन 'यवागू' की विधि अज्ञात है।[6] 'ब्रह्मौदन' यज्ञ पुरोहित के लिए निर्मित विशिष्ट ओदन की संज्ञा थी।[7]

अन्न को घृतादि में भूनकर सम्भवतया 'लॉज' नामक व्यंजन बनाया जाता हो।[8] आज भी अन्न के स्थान पर लौकी इत्यादि को भून कर 'लॉज' नामक स्वादिष्ट व्यंजन तैयार किया जाता है।

दही के रूप में अनेक व्यंजनों का उल्लेख शतपथ में उपलब्ध है। जमे हुए दही के आगार को 'आमिक्षा' कहते थे।[9] दूध एवं दही या दूध तथा तक्र से 'पयस्या' तथा 'सन्नय्य' तैयार किए जाते थे।[10] दधिमिश्रित घी पृषद्-आज्य

---

1. श० ब्रा०, 2, 6, 1, 6
2. वही, 2, 5, 3, 4; 11, 5, 7, 5
3. वही, 11, 5, 7, 5
4. वही, 1, 1, 1, 10 में माषों को हवि के अयोग्य कहा गया है।
5. वही, 2, 1, 4, 4
6. वही, 1, 7, 1, 7
7. वही, 13, 1, 1, 1
8. वही, 12, 8, 2, 7
9. वही, 1, 8, 1, 7; 3, 3, 3, 2
10. वही, 2, 4, 4, 10; 5, 1, 12, 2

कहलाता था।[1] शतपथ में निम्न विविध गोरसों का विवरण मिलता है जो भोजन सम्बन्धी रुचि की विशेषताओं के द्योतक हैं—

1. प्रतिधुक्	ताजा दूध
2. शृतम्	गर्म दूध
3. शरः	मक्खन (क्रीम)
4. दधि	दही
5. मस्तु	खट्टा दही
6. आतञ्चन	दधिभावकारण (संभवतः छाछ)
7. नवनीतम्	मक्खन
8. घृतम्	घी
9. आमिक्षा	जमा हुआ दही
10. वाजिनम्	द्रवात्मक दही (संभवतः मथा हुआ)
11. सर्पिस्	पिघला हुआ मक्खन

नवनीत निकालने के एक रोचक तरीके का शतपथ में उल्लेख मिलता है।[2] दूध को आतंचन द्रव्य के द्वारा दही बनाकर चर्ममय पात्र में डाला जाता था तथा उसे रथ में बाँध कर घोड़ों को दौड़ा दिया जाता था। फलस्वरूप मक्खन निकल आता था। सर्पिस् भी घृत का एक प्रकार था। सायण के अनुसार पूर्णतया गला हुआ मक्खन सर्पिस् तथा गलने के बाद पुनः जमा हुआ घनीभूत मक्खन घी कहलाता था। भोजन को मधुर बनाने के लिए 'मधु' का प्रयोग प्रचलित था।[3] शहद के अर्थ में भी 'मधु' का उल्लेख मिलता है[4] किन्तु अनेक बार सोम रस तथा दूध को भी मधु कहा गया है।[5] सम्भव है कि मधु से 'मधुपर्क' तैयार कर मान्य अतिथियों को प्रस्तुत करने की भी प्रथा हो जैसाकि कतिपय विद्वानों का विचार है।[6]

भोजन में मसालों के योगदान के उल्लेख का नितांत अभाव है। नमक का व्यवहार प्रचलित था जिसे 'लवण' तथा 'ऊष' कहा जाता था। शतपथ में

1. श० ब्रा०, 2, 5, 2, 41; 4, 2, 3, 8
2. वही, 5, 3, 2, 6
3. बलदेव उपाध्याय, 'वैदिक साहित्य और संस्कृति', पृ० 540
4. श० ब्रा०, 3, 4, 3, 14
5. वही, 1, 6, 2, 1; 11, 5, 4, 18
6. डा० पी० एल० भार्गव, 'इण्डिया इन द वैदिक एज', पृ० 160, 248

ऊष-पुटों (नमक के थैलों) का वर्णन है।[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण (1, 1, 3, 2) के एक उपाख्यान के अनुसार लवण धरती तथा आकाश को मिलाने वाला यज्ञिय सारतत्व है।

आर्य लोग वृक्ष पर पके फल भी खाया करते थे।[2] खाद्य फलों में औषध्य एवं वृक्ष्य दोनों सम्मिलित थे।[3] कुवल, बदर तथा कर्कंधु[4] के अतिरिक्त फलों के ज्ञान का सर्वथा 'अभाव है। सब्जियों में मात्र 'उर्वारुकम्' का उल्लेख मिलता है।[5]

मांसाहार

शतपथ ब्राह्मण, में पशु को अन्न कहा गया है[6] जो मांसाहार के प्रचलन का संकेत अवश्य प्रदान करता है किन्तु 'पशु' शब्द स्वयं अनेकार्थी होने के कारण इस संकेत को निश्चित मानना कठिन है। शतपथ में अन्यत्र स्पष्टतः मांस-भोजन परम अन्न कहा गया है। शतपथ के अनुसार मांस के द्वारा इष्टि करने वाला यजमान परम अन्न का भोजी होता है।[7] याज्ञवल्क्य एक स्थान पर कहते हैं कि 'मैं गोमांस इसलिए खाता हूँ कि यह अंसल (दृढ़ तथा कोमल) होता है।'[8] यद्यपि इसी स्थल पर गाय-बैल के मांस को खाने का फलितार्थ दोष भी बताया गया है परन्तु याज्ञवल्क्य का प्रस्तुत कथन यह प्रश्न उपस्थित करता है कि यह कथन प्रतीकात्मक है या वस्तुतः मांस खाया जाता था? शतपथ में ही अन्यत्र यह भी वर्णित है कि 'जो इस संसार में मांसभक्षण करता है, परलोक में उसके मांस का भक्षण किया जाता है।[9] एक ही रचना में दो परस्पर विरोधी सिद्धान्त असमंजस में डालने वाले होते हुए भी सामाजिक जीवन-मूल्यों तथा आचार-व्यवस्था के क्रमिक परिवर्तन के सूचक होने के कारण अस्वाभाविक नहीं हैं। वस्तुतः मांस-भक्षण की प्रवृत्ति का 'धर्म' से सम्बन्ध था। एक धार्मिक

---

1. श० ब्रा०, 2, 1, 1, 6
2. 'वृक्षं पक्वं फलमंकीव धूनुहीन्द्र सम्पारणं वसु' (ऋग्वेद, 3, 45, 4)
3. श० ब्रा०, 1, 1, 1, 10
4. वही, 12, 7, 1, 2
5. वही, 2, 6, 2, 14
6. वही, 3, 2, 1, 12
7. 'एतदु ह वै परमन्नाद्यं यन्मान्सम्' (श० ब्रा०, 11, 7, 1, 3)
8. वही, 3, 1, 2, 21
9. वही, 11, 6, 1, 1

कृत्य होने के कारण घृणा का भाव यज्ञ-बलि के प्रति नहीं था किन्तु साथ ही हिंसावृत्ति के प्रति घृणा का भाव भी सजग हो उठा था। गाय तथा बैलों की विस्तृत उपयोगिता की दृष्टि से भी हिंसावृत्ति को कम करना आवश्यक था अतः निषेधात्मक उल्लेख भी पाए जाते हैं[1] किन्तु विशेष अवसर यथा आतिथ्य-सत्कार के लिए 'महोक्ष' अथवा 'महाज' के वध का नियमित विधान है।[2] पशु-धन असीमित था। मांसाहार प्रचलित होते हुए भी पशुओं का अभाव नहीं होता था—

तस्मादद्यमानाः पच्यमानाः पशवो न क्षीयन्ते

शतपथ में 'व्रीहि' तथा 'यव' को पशुओं की मेधा कहा गया है,[3] तथा इसी तरह के अनेक प्रतीकात्मक उल्लेख उपलब्ध हैं जिन्हें लेकर कुछ विद्वान् मांसाहार प्रचलन का विरोध करते हैं। किन्तु अनेक स्थलों पर खींच-तान करना नितान्त असम्भव है यथा 'यहाँ ओदन पका,'[4] 'यहाँ मांस पका' जैसे आदेशात्मक स्थल किसी भी अन्य अर्थ को देने में असमर्थ हैं।

जिस प्रकार सुस्वादु भोजन की प्रशंसा के साथ-साथ संयमित भोजन का आदेश है तथैव मांसाहार-सम्बन्धी निषेध भी मिलते हैं। शतपथ में पशु-इष्टि के उपरांत मांसाहार निषिद्ध था।[5] शतपथ में कहा गया है कि दीक्षा लेने वाले को गाय तथा बैल का मांस नहीं खाना चाहिए। "गाय तथा बैल ने धरती को धारण कर रखा है। देवों ने कहा कि वस्तुतः ये संसार को धारण करते हैं, अतः अन्य प्राणियों की शक्ति भी हम इन्हीं में स्थापित कर दें...इसलिए जो धेनु तथा अनडुह के मांस को खा लेगा वह सब कुछ खा लेगा अर्थात् अखाद्य पशु भी खा लेगा।"[6] यहाँ गोमांस-भक्षण के प्रति तिरस्कार की भावना स्पष्ट है। फिर भी याज्ञवल्क्य की गोमांस के प्रति रुचि होना सिद्ध करता है कि शतपथ के समय मांस अथवा गोमांस के प्रति घृणा का विचार क्रमशः दृढ़ हो रहा था जिसका उदय ऋग्वेदकाल में ही हो चुका था जहाँ गाय को अघ्न्या[7] कहा गया है। असंयमित लोग मांसाहार को अनुपादेय समझते हुए भी छोड़ने में असमर्थ थे

---

1. श० ब्रा०, 3, 1, 2, 21
2. वही, 3, 4, 1, 2
3. वही, 3, 8, 3, 1
4. 'अत्रौदनं पच, अत्र मांसं पच' (वही, 2, 2, 2, 13)
5. श० ब्रा०, 6, 2, 2, 39
6. वही, 3, 1, 2, 21
7. ऋग्वेद, 5, 83, 8

अतः दोनों प्रवृत्तियाँ एकसाथ प्रवाहित थीं। स्पष्टवादिता—जो उस युग का प्रमुख गुण परिलक्षित है—के कारण संभवतः याज्ञवल्क्य अपनी कमजोरी स्वीकार करने में नहीं हिचकिचाए हैं।

मांस भूनने के लिए प्रयुक्त शलाका को 'शूल' कहा गया है।[1] सम्भवतः कच्चा मांस नहीं खाया जाता था।

पेय

जल के पश्चात् दूध ही सर्वप्रमुख पेय था जिसे पूर्ण अन्न कहा गया है।[2] सभी अन्नों में प्राप्त तत्व दूध में एकत्र सन्निहित थे अतः दूध को रस की उपाधि दी गई है।[3] दूध से तात्पर्य गाय के दूध से है किन्तु एक जगह अजा-क्षीर का भी उल्लेख है।[4] कुछ लोग ताजा निकला दूध (प्रतिदुह) पीते थे।[5] गर्म दूध तथा दही के मिश्रण से वाजिन् नामक पेय तैयार किया जा था। सोम सर्वप्रमुख मादक पेय था जिसे सिल-बट्टे पर पीस कर ऊन की छलनी से छान कर पिया जाता था। किन्तु यह विशिष्ट वर्ग का पेय था। सामान्य लोगों में 'सुरा' का प्रचलन था। एक उपाख्यान द्वारा सुरा तथा सोम में भेद दिखाया गया है। 'त्वष्टा' के पुत्र के तीन मुख थे। एक सोम-पान के लिए, दूसरा सुरापान के लिए, तीसरा भोजन के लिए।[6] सुरा अधिक मादक प्रतीत होती है क्योंकि सुरा पीने वाले लड़खड़ाती आवाज में बोलते थे।[7] एक जगह सुरा को सोम में मिलाने का भी वर्णन है।[8] 'परिस्रुत' नामक अन्य मादक पेय था जो सुरा तथा सोम दोनों से भिन्न माना गया है।[9] महीधर के अनुसार यह पेय पुष्पों से तैयार किया जाता था। अथर्ववेद में भी इसे पारिवारिक पेय कहा गया है।[10]

उपर्युक्त स्वास्थ्यवर्धक, विविधतापूर्ण एवं रुचिकर खाद्य एवं पेय-विवरण,

---

1. श० ब्रा०, 11, 4, 2, 4; 7, 3, 2, 4
2. वही, 2, 5, 1, 6
3. 'रसो वै पयः' (वही, 7, 2, 2, 10)
4. वही, 14, 1, 2, 13
5. वही, 3, 3, 3, 2
6. वही, 1, 6, 3, 2; 5, 5, 4, 3
7. वहीं, 1, 6, 3, 4
8. वही, 12, 7, 3, 5
9. वही, 5, 1, 2, 14
10. द्रष्टव्य 'परिस्रुत' शब्द, मैक्डानल, 'वैदिक इण्डेक्स'

शतपथकालीन आर्यों के आहार की समृद्धि का सांगोपांग चित्र प्रस्तुत करने में समर्थ है। इस षट्रसभोजन को सुसंस्कृत व्यक्तियों का भोजन मानना अनिवार्य है।

सामान्य शिष्टाचार

किसी जाति के शिष्टाचार उसकी सांस्कृतिक विशेषताओं के प्रकाशक होते हैं। आचारों में शिष्टता ही मनुष्य को अन्य प्राणी-जगत् से विशिष्ट बना देती है। शतपथ में सांस्कृतिक परिष्कार के कुछ उच्च आदर्श उपलब्ध होते हैं जिनसे उस युग की नैतिकता के मानदण्डों का आभास होता है। अतिथि के आने पर उसे भोजन खिलाए बिना घर में कोई व्यक्ति भोजन नहीं करता था।[1] अतिथियों को उपहार देना संस्कार का एक नियमित अंग था। अतिथि के सम्मान में विशिष्ट भोजन तैयार किया जाता था।[2] छोटों द्वारा बड़ों के प्रति समुचित श्रद्धा की भावना एवं उनके प्रति व्यवहार के नियम समाज-व्यवस्था की गरिमामय गति को व्यंजित करते हैं। समाज में चारों वर्णों के व्यक्तियों को पुकारने के लिए भिन्न सम्बोधन नियत थे।[3] यह कहा गया है कि सेवा करने वाला, स्वयं को लघु समझ, नम्र होकर सेवा करने में ही सुख पा सकता है।[4] अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति के आगमन पर घर की सफाई कर उसे सजाया जाता था।[5] सोम तथा यक्ष्मा रोग की उपमाजन्य तुलना करते हुए ब्राह्मणकार का कथन है कि अपने से श्रेष्ठ मनुष्य के आने पर यदि व्यक्ति को उच्च स्थान पर आसीन हो तो नीचे उतर आना चाहिए।[6]

सामान्य धारणाएँ

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार लोगों की धारणा थी कि मृत व्यक्ति दूसरे लोक में जाकर इहलोक में कृत श्रेष्ठ अथवा अश्रेष्ठ कर्मों के अनुसार सुख अथवा दुःख को प्राप्त करता है।[7] स्वर्ग की धारणा एवं नरक की भावना का

---

1. श० ब्रा०, 1, 1, 1, 8
2. वही, 7, 3, 2, 1
3. वही, 1, 1, 4, 12
4. वही, 1, 1, 1, 11
5. 'यथा श्रेयस्यागमिष्यावसथेनावक्लृप्तेनोपासीत' (वही, 2, 3, 1, 8)
6. वही, 4, 1, 3, 9
7. वही, 4, 6, 1, 1; 6, 2, 2, 27

सूत्रपात हो चुका था। मृतक के सम्पूर्ण शरीर तथा हाथ पैरों के साथ पुनर्जीवित होकर परलोक के सुख भोगने की कल्पना भी की गई है।[1] मृत्यु की दार्शनिक व्याख्या भी शतपथ में मिलती है जहाँ ब्राह्मणकार का कथन है कि अन्य मृत्यु मृत्यु नहीं है। किसी जघन्य अपराध को करना ही मृत्यु है। यह भी पुनः-पुनः कहा गया है कि ब्रह्महत्या ही वास्तविक मृत्यु है।[2] वरुण-ग्रंथि को सत्य-प्रतिज्ञा का प्रतीक माना गया है।[3] आज भी हम 'गाँठ बाँधना' मुहावरे का प्रयोग इसी अर्थ में करते हैं तथा ग्रामीण क्षेत्रों में तो सत्य-प्रतिज्ञा के प्रदर्शन हेतु वस्तुतः धारण किए वस्त्र में गाँठ बाँध ली जाती है ताकि प्रतिज्ञा याद रहे। सामान्यतया यह धारणा थी कि अपने मित्र अथवा 'ज्ञाति' के लिए जो कुछ कार्य करना हो वह चुपचाप परोक्ष रूप में करना चाहिए। उसका प्रदर्शन या दिखावा नहीं करना चाहिए।[4] ब्रह्महत्या जैसे जघन्य पापों के अतिरिक्त छोटी-छोटी गलतियों को भी पाप माना गया है, यथा गाली देना पाप समझा गया।[5] पापों के फल का भी एक जगह उल्लेख हुआ है। अंधा, लंगड़ा, बहरा अथवा पक्षाघात से पीड़ित होना पाप का फल माना जाता था।[6] किन्तु पापों से मुक्त होने के लिए प्रायश्चित्त का भी विधान रखा गया। प्रत्येक सामाजिक अथवा नैतिक अपराध के लिए प्रायश्चित्त किए जा सकते थे।[7] इसके अतिरिक्त अपराध की स्वीकृति से पाप के कम होने की धारणा भी तत्कालीन लोगों की थी—

निरुक्तं वा एनः कनीयो भवति[8]

यद्यपि ज्ञान को सर्वोच्च उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया गया था फिर भी जीवन को क्षत्रिय के समान जीना ही रुचिकर प्रसंग था।[9] ज्ञान द्वारा अन्तश्चक्षुओं को खोलना एवं शौर्य द्वारा जनता की रक्षा करना समाज के मूर्धन्य लोगों अर्थात् ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के प्रमुख कर्तव्य थे। सामान्य जनता भी

---

1. श० ब्रा०, 4, 6, 1, 1; 1, 11, 8, 6; 12, 8, 3, 31
2. वही, 13, 3, 5, 1; 9, 5, 1, 62
3. वही, 5, 2, 5, 17
4. वही, 2, 2, 3, 16
5. 'पाप्मा वा अशस्ति' (वही, 6, 3, 2, 7)
6. वही, 11, 7, 2, 4
7. वही, 12 4, 1, 6
8. वही, 2, 5, 2, 20
9. वही, 12, 8, 3, 7

परस्पर सेवा भावना से एक दूसरे का सहयोग करती थीं। शतपथ में सेवा का मुख्य साधन वाणी एवं कर्म दोनों को सम्मिलित रूप में माना है।[1] यह वस्तुतः सही दृष्टिकोण है क्योंकि यदि व्यक्ति केवल वाणी से ही लोगों को प्रसन्न करते हैं तो वे समाज की देह (समष्टि) को दुर्बल बना देते हैं तथा यदि बिना वाणी को नम्र बनाए केवल कर्म द्वारा प्रसन्न करना चाहते हैं तो समाज की आत्मा को (व्यष्टि) बुभुक्षित रखते हैं। अतः वाणी तथा कर्म दोनों से समाज की सेवा की जानी चाहिए।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि तत्कालीन आर्यों की जीवन के विविध पक्षों के प्रति सामान्य धारणाएँ अतिवादिता के दृष्टिकोण से परे, सहज एवं प्रकृत थीं। विचारों में दृढ़ता एवं स्पष्टवादिता की झलक प्रत्यक्ष दृष्टिगत है।

राज्य एवं राष्ट्र

समाज तथा राज्य का अभिन्न सम्बन्ध है। समाज तथा सामाजिक व्यवस्था हेतु ही राज्य की परिकल्पना अस्तित्व में आई। 'अपरिमित समृद्धि से युक्त' राज्य को राष्ट्र संज्ञा प्रदान कर शतपथ ने देश अथवा राज्य के लिए राष्ट्र शब्द का गौरवयुक्त प्रयोग किया है।[2] ऋग्वेद (4, 42, 1; 7, 34, 11) में भी इसी अर्थ में राष्ट्र का प्रयोग उपलब्ध है जहाँ त्रसदस्यु कहता है कि मेरा राष्ट्र दोनों ओर है (मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य) तथा वरुण राष्ट्रों का स्वामी है। 'क्षेमो वै राष्ट्रस्य हितम्' कथन द्वारा शतपथ (13, 2, 9, 5) ने राष्ट्र की परिभाषा को स्पष्टतर करने का प्रयास किया है अर्थात् राष्ट्र का हित क्षेम (प्राप्त की रक्षा तथा वृद्धि) में है।[3] शतपथ ने क्रमशः 'आसंदी' एवं 'सन्नय्य' से राष्ट्र की उपमा देकर यही समझाने का प्रयत्न भी किया है।[4] अथर्ववेद (12, 1, 8) में भी पृथिवी से यही निवेदन किया गया है कि 'वह राष्ट्र को बल तथा दीप्ति दे।'

किसी निश्चित भूभाग के लिए 'जनपद'[5] शब्द के विरल प्रयोग भी मिलते हैं।[6] ऋग्वेदकालीन यदु, पुरु, द्रुह्यु आदि जन निश्चित भूप्रदेश के बिना

1. श० ब्रा०, 2, 3, 4, 6
2. 'अपरिमित समृद्धमु वै राष्ट्रम्' (वही, 12, 8, 3, 6)
3. गीता, 2, 45
4. श० ब्रा०, 11, 2, 7, 17
5. अमरकोश के अनुसार देश, राष्ट्र, विषय एवं जनपद पर्याय शब्द हैं।
6. श० ब्रा०, 14, 5, 1, 20

भ्रमणशील कबीलों के रूप में घूमा करते थे (डा० विजय बहादुर राव, 'उत्तर-वैदिक समाज एवं संस्कृति', पृ० 162)। शतपथ में भी इस भ्रमणशील जीवन का संकेत उपलब्ध है। राजा शर्यात मानव के नेतृत्व में एक ग्राम सदा भ्रमणशील ही रहता था (4, 1, 5, 2)। इसी आधार पर घोषाल महोदय उत्तर वैदिक युग के राजतंत्र को अंशतः कबीली अवस्था का मानते हैं[1] किन्तु शतपथ में व्यवस्थित राजतन्त्र का सर्वांगीण स्वरूप प्राप्त है। अतः प्रस्तुत विचार को स्वीकृति प्रदान करना कठिन प्रतीत होता है।

राजा एवं राजतन्त्र

शतपथ ब्राह्मण में राजतन्त्र व्यवस्था का पूर्ण विकसित स्वरूप दृष्टिगत है। राज्य अथवा राष्ट्र में राजा की स्थिति अनिवार्य थी[2] किन्तु निर्वाचित राजा का ही अभिषेक होता था यद्यपि निर्वाचन-पद्धति के ज्ञान का अभाव विद्यमान है। शतपथ में एक स्थान पर अवश्य किंचित् संकेत मिलता है जहाँ कहा गया है कि—

यस्मै वै राजानो राज्यमनुमन्यन्ते, स राजा भवति। न सः यस्मै न[3]

यहाँ स्पष्ट ही अन्य राजाओं द्वारा निर्वाचन का प्रमाण प्रस्तुत है। किसी राजनैतिक संस्था (सभा ?) के सदस्यों की अनुमति भी सम्भवतः राजा के निर्वाचन को पुष्ट करती थी। राजा स्वयं अपने विभिन्न पुत्रों में से 'प्रियतम' पुत्र का चुनाव करता था।[4] राजा के चुनाव की परम्परा का समर्थन ऋग्वेद तथा अथर्ववेद[5] भी करते हैं किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण के एक उपाख्यान (1, 14) में निर्वाचन का कारण भी प्रस्तुत किया गया है। 'असुरों ने देवों को हरा दिया। देवों ने सोचा कि असुरों के हाथों हमारी पराजय का कारण हमारा राजा विहीन होना है अतः उन्होंने अपने में से बलिष्ठ एवं ओजिष्ठ इन्द्र को अपना राजा

1. यू० एन० घोषाल, 'हिस्टीरियोग्राफी एण्ड अदर एसेज', पृ० 289
2. ऐ० ब्रा० (3, 4, 1, 7) एवं श० ब्रा०, (13, 4, 2, 17) में अराजानः पदों के प्रयोग से राजा-विहीन राज्यों की स्थिति का संकेत भी मिलता है जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि प्राचीन भारत में जनतन्त्रीय शासनप्रणाली कहीं न कहीं अवश्य विद्यमान रहती थी।
3. श० ब्रा०, 9, 3, 4, 5
4. वही, 5, 4, 2, 8
5. ऋग्वेद, 10, 173; अथर्ववेद, 6, 87

निर्वाचित किया।' शतपथकार भी कहता है कि 'इन्द्रमेव विशौजसं करोति'।[1] शतपथ (3, 4, 1, 7; 13, 2, 2, 18) में आगत 'राजकर्तृ' पद से यह भी ज्ञात होता है कि राजकर्तृ स्वयं राजा न होते हुए भी राजा के अभिषेक में सहायता देते थे।[2] तैत्तिरीय संहिता (2, 3, 1) तथा शतपथ (12, 9, 3, 3) में राजा के राज्य-वहिष्कृत किए जाने तथा लुप्त ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए पुनः यत्न करने का वर्णन किया गया है जिससे राजा का निर्वाचन पूर्णतया प्रतिपादित होता है।

अभिषेक

निर्वाचित होने के उपरान्त राजा का अभिषेक अवश्यंभावी था जिसका सर्वाधिक विस्तृत विवरण शतपथ के 'राजसूय-यज्ञ' में ही उपलब्ध होता है। राजसूय ही सामान्यतः राज्याभिषेक का प्रतीक था[3] जैसाकि शतपथ में स्वयं कहा गया है—

राज्ञ एव राजसूयम्। राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति[4]

शतपथ के अनुसार भारतीय आर्यों का सबसे प्रथम अभिषिक्त राजा पृथु-वैन्य था जिसका ऋग्वेद (8, 9, 10) में भी एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व के रूप में उल्लेख मिलता है। कुरु-पांचाल शासकों ने ही राजसूय का यथाविधि सम्पादन किया था।[5] एक स्थान पर सौत्रामणी यज्ञ के द्वारा भी अभिषेक का अनुमोदन[6] किया गया है। लोक में क्षत्रिय का ही अभिषेक हो सकता था क्योंकि सर्वसाधारण अनभिषेचनीय थे।[7]

मैत्रावरुण वेदी के समक्ष एक व्याघ्रचर्म पर निर्वाचित राजा उपस्थित होता था। क्रमशः चार व्यक्ति—ब्राह्मण, राजा का स्वजन, राजन्य एवं वैश्य—

---

1. अर्थात् राजा बनाने का कारण था राजा (इन्द्र) को सम्पूर्ण विश का बल (समर्थन) प्रदान करना (श० ब्रा०, 5, 4, 4, 11)
2. राधाकुमुद मुकर्जी, 'इण्डियन सिविलाईजेशन', हिन्दी अनुवाद, पृ० 104
3. 'द नार्मल सेरेमनी ऑफ कोरोनेशन हाउ एवर इज़ द राजसूय' (काशी प्रसाद जायसवाल, 'हिन्दू पोलिटी', पृ० 200)
4. श० ब्रा०, 5, 3, 5, 4
5. वही, 5, 5, 2, 5
6. वही, 12, 8, 3, 5
7. वही, 5, 3, 5, 10; 13, 4, 2, 17

अभिषेक करते थे ।[1] अभिसिंचन हेतु सरस्वती नदी, समुद्र एवं अन्य प्रादेशिक जलागारों से सत्रह प्रकार का जल विशेषरूप में एकत्रित किया जाता था । जल लेते समय निम्नप्रकार के मन्त्र बोले जाते थे—

स्वराजस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मैदत्त (श० ब्रा०, 5, 3, 4, 21)

वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मैदेहीति (श० ब्रा०, 5, 3, 4, 6)

अभिषेक के पश्चात् वाल्मीकि रामायण में[2] राजा द्वारा वस्त्र एवं किरीट धारण करने का विधान है किन्तु शतपथ वस्त्र धारण करने की अनुमति नहीं देता है । ब्राह्मणकार कहता है कि राजा के अंग ही उसके प्राकृतिक वस्त्र हैं ।[3] प्रस्तुत विचारधारा यूनानियों की विचारधारा से मेल खाती है ।[4]

अभिषेक के पश्चात् वाजसनेयी संहिता के एक मंत्र (10, 9) द्वारा राजा के लिए प्रतीकात्मक घोषणा की जाती थी जो उसके अभिषेक के समर्थन की सूचक होती थी ।[5] इसके उपरान्त एक अन्य महत्त्वपूर्ण क्रिया का विधान था । अध्वर्यु तथा उसके सहायक पुरोहित राजा की पीठ पर प्रतीकात्मक दण्ड-स्पर्श कराते थे ।[6] निष्कर्षतः राजा दण्ड या वध से अतीत मान लिया जाता था । मनुस्मृति राजा को दण्ड्य घोषित करती है[7] अतः जायसवाल महोदय ('हिन्दू पोलिटी', पृ० 217) के अनुसार प्रस्तुत प्रतीकात्मक अनुष्ठान राजा को न्याय या दण्ड के ऊपर नहीं अपितु आधीन सिद्ध करता है । घोषाल के अनुसार यह राजा को अदण्ड्य घोषित करने का ही अनुष्ठान था ।[8] इस क्रिया का कारण कुछ भी रहा हो किन्तु यह स्पष्ट है कि राजा को निरंकुश होने की अनुमति प्रदान नहीं की जाती थी । अभिषेक के उपरान्त राजा महान् एवं शक्तिशाली बन जाता था किन्तु शक्तिशाली होते हुए भी वह पृथिवी (प्रजा) से भय खाता हुआ

---

1. श० ब्रा०, 5, 3, 5, 11-14; तै० ब्रा० (1, 7, 8) के अनुसार पुरोहित, राजन्य, वैश्य तथा जन्य अभिसिंचन करते हैं
2. रामायण, युद्ध काण्ड, 128, 64
3. श० ब्रा०, 5, 3, 5, 25
4. जायसवाल, 'हिन्दू पोलिटी', पृ० 208
5. श० ब्रा०, 5, 3, 5, 31
6. वही, 5, 4, 4, 7
7. कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः ।
   तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ।। (मनु० 8, 336)
8. यू० एन० घोषल, 'हिस्टोरियोग्राफी एण्ड अदर एसेज', पृ० 269

निवेदन करता है कि—'पृथिवी, तू मेरी माता है, न तू मेरी हिंसा कर, न मैं तेरी हिंसा करूँ।'[1]

विश में विशृंखलित शक्ति को केन्द्रीभूत करने के लिए ही राजा का अभिषेक होता था। अभिषेक द्वारा राजा का महान् हो जाना एवं पृथिवी का उससे भय खाना भी इसी केन्द्रीभूत शक्ति का परिचायक है अतः राज्य की सम्पूर्ण शक्ति का केन्द्र राजा को ही माना गया—

क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि (शुक्लयजुर्वेद, 20, 1)

यद्यपि राजा के व्यक्तित्व में दिव्य गुणों का आरोप किया गया था तथा इसे सार्वभौमिक प्रतिष्ठा दी गई थी तथापि दिव्य अधिकार (डिवाइन राइट आफ द किंग) का विचार कहीं भी दिखाई नहीं देता। राष्ट्र के कल्याण के लिए ही उसे यह पद सौंपा जाता था। राजसूय के अवसर पर जब राजा प्रथम बार सिंहासन पर आसीन होता था तो पुरोहित उससे कहता था—

इयं ते राट् . . . यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः।
कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा।[2]

अर्थात् तुम्हें यह राष्ट्र सौंपा जाता है। तुम इसके नियामक हो। ध्रुव-धारण-कर्ता हो। कृषि-कर्म के लिए, कल्याण के लिए, समृद्धि के लिए तथा पोषण के लिए तुम्हें यह राज्य सौंपा जाता है। इस प्रकार सामान्यतः राजा पुरातन नियमों तथा सामाजिक परम्पराओं के विरुद्ध आचरण नहीं करता था।[3] उसे धर्म संस्थापक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। राजसूययज्ञ के अभिषेक-प्रसंग के अन्त में धर्मपति वरुण को आहुति दी जाती थी तथा राजा को ऋत (नियम) की रक्षा से सम्बन्धित कर्त्तव्य का महत्त्व समझाया जाता था।[4] आसंदी पर राजा के आरोहण के समय राष्ट्र के चार अंगों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) को आमंत्रित किया जाता था कि वे महार्घनिधि की भाँति राजा की रक्षा करें। पुनः पुरोहित राजा की घोषणा करता था,[5] हे जनता! अमुक व्यक्ति तुम्हारा राजा है। हम ब्राह्मणों के राजा तो सोम हैं। ब्राह्मणों द्वारा लौकिक राजा के स्थान पर सोम को अपना राजा मानने के पीछे यही भावना

1. श० ब्रा०, 5, 4, 3, 20
2. वही, 5, 2, 1, 25
3. घोषाल, 'स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर', पृ० 349
4. श० ब्रा०, 5, 3, 3, 2
5. वही, 5, 3, 3, 12; 5, 4, 2, 3

कार्यरत प्रतीत होती है कि वे स्वयं को राज्य-संस्था के अधीन रखने की अपेक्षा उसके नियामक बने रहना चाहते थे। राजसूय के इस प्रसंग के सम्बन्ध में कुछ विद्वान इन अनुष्ठानों को पूर्णतया आदिम मानते हैं[1] तथा अन्य इन्हें पुरोहित ब्राह्मणों के प्रभाव का द्योतक बताते हैं[2] किन्तु जायसवाल एवं मजूमदार[3] का कथन है कि राजा पुरोहित के माध्यम से सम्पूर्ण जनता के प्रति अपनी कर्तव्यनिष्ठा के सूचनार्थ इस प्रतिज्ञा को दुहराता था। राजा के रत्नियों के क्रम में पुरोहित को सेनानी के बाद महत्त्व देना ब्राह्मण-प्रभाव के विचार के विपरीत है। राजा, वरुण की भाँति, धृतव्रत, नियम तथा व्यवस्था का संरक्षक, साधुओं का प्रतिपालक तथा दुष्टों को दंड देने वाला समझा जाता था।[4] यद्यपि राजा को प्रजा का 'अत्ता' कहा गया है[5] तथापि राजा की शक्ति प्रजा में ही निहित थी।[6]

सम्राट् तथा साम्राज्य

ऊपर उल्लेख हो चुका है कि राजा लोग मिलकर जिस राजा को मान्यता देते थे, वही राजा बनता था। शतपथ में ही एक राजा के सभा बुलाने का वर्णन है जिसमें उसके अधीन राजा एकत्रित हुए थे।[7] प्रस्तुत उल्लेख साम्राज्यवाद की भूमिका के प्रस्तावक हैं। अश्वमेध, वाजपेय तथा सर्वमेध यज्ञों के सम्पन्न किए जाने की परम्परा साम्राज्यों की स्थिति को और अधिक स्पष्ट कर देती है। शतपथ में अनेक बार राज्यसत्ता से साम्राज्यसत्ता को गुरुतर कहा गया है—

उत्तरं वै राज्यात् साम्राज्यम् (14, 1, 3, 12)
अवरं हि राज्यं परं साम्राज्यम् (5, 1, 1, 13)

राजा सम्राट् बनने की कामना कर सकता था किन्तु सम्राट् राजा बनने की नहीं।[8] राजा बनने के लिए जिस प्रकार राजसूय यज्ञ का विधान था तथैव सम्राट्

1. रामशरण शर्मा, 'आस्पैक्ट्स आफ पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स', पृ० 120
2. वेवर, 'इन्दिशेन स्तूदिएन', पृ० 2
3. 'एन्शेण्ट इण्डिया', पृ० 79
4. श० ब्रा०, 5, 3, 3, 6
5. वही, 1, 8, 2, 17; 4, 2, 1, 3; 5, 3, 3, 12
6. वही, 5, 4, 4, 11
7. वही, 3, 3, 5, 14
8. वही, 9, 3, 4, 8; 5, 1, 1, 12

बनने के लिए वाजपेय यज्ञ का ।[1] जायसवाल महोदय का अनुमान है कि वाजपेय यज्ञ प्रकृति से राजनैतिक न होकर ऐश्वर्य की विजय (ओलिम्पिक विक्ट्री) को ही प्रतिबिम्बित करता है । यह सम्राट् की सार्वभौमिकता का द्योतक अवश्य था किन्तु सार्वभौम शासक बनने के लिए सर्वमेध का अधिक महत्त्व था ।[2] साम्राज्य तथा सम्राटों की परम्परा को प्रमाणित करने वाला 'बलि' शब्द भी है जो देवों को समर्पित हवि के अतिरिक्त सम्राट् के लिए विभिन्न राजाओं द्वारा लाए गए स्तुत्युपहार का भी द्योतक है ।[3] विदेह के जनक की भाँति महत्त्वपूर्ण राजाओं को ही सम्राट् की उपाधि से विभूषित किया जाता था ।[4] जनमेजय भीमसेन, श्रुतसेन, सत्राजित, शतानीक आदि बारह राजाओं ने अश्वमेध द्वारा सार्वभौम-पद प्राप्त किया था । भरतवंशी राजाओं द्वारा अनुष्ठित अश्वमेध का यशोगान शतपथ में अत्यंत समारोह के साथ किया गया है ।[5] दौषन्ति भरत ने सत्वन्त जन को हराया था तथा कुरु राष्ट्र के मध्णार स्थान पर साचीगुण में गंगा-यमुना के किनारे अश्वमेध यज्ञों द्वारा विजय प्राप्त की थी । भरत के महत्त्व को तो पूर्वापर जनों में कोई न पा सका था—

महदद्य भरतस्य न पूर्वे नापरे जनाः । दिवं मर्त्यामिव बाहुभ्यां नोदापुः पञ्चमानवाः[6]

अतः स्पष्ट है कि छोटे राज्यों के अतिरिक्त साम्राज्यों का भी अस्तित्व था किन्तु इन साम्राज्यों का आकार होमर-युग के यूनानी राज्यों की भाँति लघु रहा होगा । भरत एवं जनक जैसे सम्राटों ने अवश्य विश्वख्याति अर्जित की थी । प्रस्तुत ख्याति ही उन्हें 'दशपुरुष राज्य' देने में सहायक बनी । 'दशपुरुष राज्य' से तात्पर्य दस पीढ़ी से चले आ रहे वंशानुगत राज्याधिकार से है[7] न कि कालिदास-कालीन दशपुर के साम्राज्य से, जैसाकि वेबर ने समझने की भूल की है । ये इने-गिने राजवंश इतने योग्य सिद्ध हुए कि दस पीढ़ी तक इन्हें पुनः-पुनः निर्वाचित होने का सौभाग्य मिला ।

राजा जब किसी महान् कार्य को कर लेता था तो 'महाराज' उपाधि से

1. श० ब्रा०, 9, 3, 4, 8; 5, 1, 1, 12
2. जायसवाल, 'हिन्दू पोलिटी', पृ० 199
3. श० ब्रा०, 1, 3, 2, 15; 11, 2, 6, 14
4. वही, 11, 3, 1, 2; 6, 2, 2, 3
5. वही, 13, 5, 4, 1-22
6. वही, 13, 5, 3, 14
7. वही, 12, 9, 3, 1

विभूषित किया जाता था[1] यथा वृत्र को मारने के उपरान्त इन्द्र महेन्द्र बन गया था।[2] राजा के विपरीत महाराजा शक्तिशाली होता था। राजपति राजा की उपाधि न होकर सोम की उपाधि थी किन्तु 'अधिराज' उपाधि राजकुमारों या राजाओं में अधीश्वरत्व की द्योतक थी।[3] राजा का अपना ध्वज होता था जिसे 'प्रतीनाह' कहा गया है।[4] शतपथ में राजा के वैभव के प्रकाशक वाह्य चिह्नों के अन्तर्गत उसके प्रासाद तथा उज्ज्वल परिधान आते हैं (श० ब्रा०, 5, 4, 4, 7-11)।

राजा द्वारा विजित सम्पत्ति से सर्वथा मुक्त होने के अत्यंत निश्चित विचार शतपथ में प्रकट किए गए हैं जिनमें राजा के कर्त्तव्य एवं ऐश्वर्य-भोग की सीमाओं का साथ-साथ निदेश मिलता है।[5]

राजपुत्र

राजा के पुत्र राजपुत्र कहलाते थे।[6] अपने पुत्रों में से राजा द्वारा योग्य पुत्र का चुनाव किए जाने का उल्लेख भी शतपथ में मिलता है[7] जो वंशपरम्परा का निर्वाह करता था। ज्येष्ठ पुत्र को राज्य के लिए चुने जाने अथवा उसे नियमतः राज्य सौंप दिए जाने के प्रसंग का शतपथ में अभाव है किन्तु सामान्य नियम ज्येष्ठ पुत्र को ही चुनने का होने के कारण संभवतः विशेष परिस्थितियों में योग्य पुत्र के चयन का उल्लेख किया गया है।

राजन्य तथा राजन्य-बन्धु

शतपथ में अनेक बार राजन्य तथा राजन्य-वंधु पदों की आवृत्ति हुई है जहाँ इनका सम्बन्ध राजा से न होकर क्षत्रिय जाति से है। संभवतः वे क्षत्रिय जिनका भूतकाल की पीढ़ियों में राजाओं से रक्तसम्बन्ध रहा हो, राजन्य क्षत्रिय कहलाते रहे होंगे। तैत्तिरीय संहिता में राजन्य एक 'रत्निन्' के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। संभव है, वह पद राजा का भाई संभालता हो जैसाकि कुछ विद्वानों का विचार है। क्षत्रियों के लिए वर्ण-विशेष से सम्बन्धित दोषों की दृष्टि से भर्त्सनाजन्य विशेषण राजन्य-वंधु था। जनक द्वारा पराजित ब्राह्मणों ने भर्त्सना में

---

1. श० ब्रा० 2, 5, 4, 9
2. वही, 1, 6, 4, 21
3. वही, 5, 4, 2, 2; 11, 4, 3, 9
4. वही, 3, 3, 4, 8
5. वही, 13, 6, 2, 18
6. वही, 13, 4, 2, 5,
7. वही, 5, 4, 2, 8

जनक को राजन्य-बंधु कहकर उसकी ईर्ष्याजन्य उपेक्षा की थी। आज भी राजस्थान में राजपूतों को भर्त्सना के स्वर में 'रांगड़-भाई' कहा जाता है जो राजन्य-बंधु शब्द का ही विकसित रूप प्रतीत होता है।

रानियाँ

ऊपर उल्लेख हो चुका है कि राजा के वैभव के चिह्नों में से एक उसका राजप्रासाद होता था जिसके चारों कोनों को राजा की चार रानियाँ सुशोभित करती थीं।[1] ये रानियाँ क्रमशः महिषी, वावाता, परिवृक्ता तथा पालागली विशेषणों द्वारा अभिहित की गई थीं। राजा की महान् इषिता तथा प्रथम परिणीता रानी महिषी कहलाती थी जिसकी महिमा के कारण उसे पृथिवी के समकक्ष स्थान दिया गया।[2] अदिति से भी इसकी उपमा दी गई है।[3] किन्तु प्रथम परिणीता होने के कारण ही उसे ये उपमाएँ दी गईं थीं तथा इसी विशिष्टता के कारण राजा के रत्निनों में भी उसे ही स्थान मिलता था, अन्यथा राजा की प्रिय रानी 'वावाता' थी जो उसकी वास्तविक वल्लभा थी। यज्ञ में गार्हपत्य अग्नि के पास इसी पत्नी के साथ राजा का लेटने का विधान है, अतः यह उपपत्ति उपयुक्त है कि महिषी राजनैतिक विवाह की प्रतीक थी जिसे सम्मान मिलना तो आवश्यक था किन्तु प्रेम की पात्र उसकी चयन की गई रानी 'वावाता' ही होती थी।

परिवृक्ता राजा की अवल्लभा पत्नी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इसे संतान उत्पन्न करने के अयोग्य बना दिया जाता था क्योंकि इसे 'अपुत्रा' तथा 'निर्ऋति गृहीता' भी कहा गया है।[4]

राजा की चतुर्थ पत्नी 'पालागली' कहलाती थी जो दूत-पुत्री कही गई है। इसे 'जाया' भी कहा गया है[5] तथा यह यज्ञ में भी भाग लेती थी।[6] अतः इसे 'रखैल' कहना अनुचित है।

इन रानियों के लिए सैंकड़ों अनुचरियाँ नियुक्त की जाती थीं जो शूद्रा

---

1. श॰ ब्रा॰, 13, 4, 2, 5
2. 'इयमुवाऽएषां लोकानां प्रथमाऽसृज्यत . . . महिषीहीयम्। तद्यैव प्रथमा वित्ता सा महिषी' (वही, 6, 5, 3, 1)
3. वही, 5, 3, 1, 4
4. वही, 5, 3, 1, 13
5. 'चतस्रो जाया उपक्लृता भवन्ति' (वही, 13, 4, 1, 8)
6. वही, 13, 5, 2, 8

दासियाँ न होकर संभवतः वेतनभोगी कर्मचारिणियाँ होती थीं जैसाकि निम्न विवरण से स्पष्ट है[1]—

1. महिषी के लिए सैंकड़ों राजपुत्रियाँ
2. वावाता के लिए सैंकड़ों राजन्या
3. परिवृक्ता के लिए सूत ग्रामणी पुत्रियाँ
4. पालागली के लिए क्षत्र-संग्रहीतृ पुत्रियाँ।

उपर्युक्त सूची[2] राजकीय वैभव की सूचक है।

रत्निन्

शासन-व्यवस्था में राजा को सहयोग देने के लिए प्रशासन अधिकारियों का एक विशेष संगठन होता था जिसके सदस्यों को रत्निन् कहा जाता था। इन पदाधिकारियों के घरों में राजसूय यज्ञ के अवसर पर 'रत्न-हवि' नामक एक संस्कार सम्पन्न किया जाता था जहाँ राजा प्रत्येक रत्निन् से कहता था कि वह निश्चय ही राजा का एक रत्न है तथा उसी के लिए राजा का अभिषेक होता है।[3] शतपथोक्त ग्यारह रत्नियों का क्रमशः विवरण निम्नप्रकार है—

1. सेनानी, 2. पुरोहित, 3. महिषी, 4. सूत, 5. ग्रामणी, 6. क्षत्तृ, 7. संग्रहीतृ, 8. भागदुघ, 9. अक्षावाप, 10. गोविकर्त्तन, 11. पालागल।

तैत्तिरीय संहिता एवं ब्राह्मण[4] में प्रस्तुत सूची के गोविकर्त्तन एवं पालागल की अपेक्षा वावाता, परिवृक्ति तथा राजन्य को स्थान दिया गया है तथा कुल संख्या बारह प्रदर्शित है। द्रष्टव्य है कि 'नवरत्न' दोनों में समान हैं। राजन्य, परिवृक्ति एवं वावाता से शतपथ-सूची के गोविकर्तृ तथा पालागल अधिक महत्त्वपूर्ण एवं वांछनीय पदाधिकारी हैं अतः शतपथ की सूची ही अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होती है। जायसवाल के विचार से ये 'रत्निन्' समिति नामक वैदिक संस्था के सदस्य थे[5] किन्तु शतपथ में इस संस्था के वर्णन का नितान्त अभाव होने के कारण यह अनुमान अधिगम्य नहीं है। प्रस्तुत पदाधिकारियों के सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य निम्नप्रकार है—

---

1. श० ब्रा० 13, 5, 2, 5
2. वही, (13, 5, 2, 1) में अनुचरियों की संख्या 400 तक दी गई है
3. वही, 5, 3, 1, 1
4. तै० सं०, 1, 8, 9, 1; तै० ब्रा०, 1, 7, 3
5. जायसवाल, 'हिन्दू राजतंत्र', भाग 2, पृ० 34

सेनानी : क्रम की दृष्टि से सेनानी प्रथम पदाधिकारी था।[1] ऋग्वेद में इसका उल्लेख तथा रत्नियों के क्रम में इसका प्रथम होना प्रशासन में सैनिक शासन की प्राथमिकता का सूचक है।

महिषी : रत्नियों में महिषी की स्थिति इसके प्रशासकीय व्यक्तित्व की द्योतक है। घोषाल ने शासन-व्यवस्था में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान माना है।[2] वाजपेय यज्ञ के अवसर पर यह रानी राजा के साथ सिंहासनारोहण करती है।[3] इसका कारण संभवतः धार्मिक अनुष्ठान में पति-पत्नी की सामूहिक अपेक्षा थी।[4] तैत्तिरीय संहिता में वावाता एवं परिवृक्ति को भी रत्नियों में रखा गया है किन्तु शतपथ केवल महिषी को ही यह सम्मान प्रदान करता है।

पुरोहित : सेनानी के पश्चात् दूसरा रत्निन् पुरोहित था जो यज्ञसम्पादक के अतिरिक्त राजकीय प्रशासन का अंग था। सेनानी के अतिरिक्त अन्य पदाधिकारी पुरोहित से घट कर थे। राजा को राज्य-शासन में पूर्ण सहयोग देना संभवतः पुरोहित का कर्त्तव्य था। डा० पुरुषोत्तम लाल भार्गव का विचार है कि जब कोई राजा नए क्षेत्र को हथियाने के लिए युद्ध हेतु निकलता था तो पुरोहित 'अग्रणी' रहता था[5] जैसाकि विदेघमाथव एवं पुरोहित गौतम राहूगण के शतपथीय दृष्टान्त से ज्ञात होता है।

सूत : सूत के वास्तविक कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। अल्तेकर[6] के मत में यह रथ-सेना का प्रधान, तथा घोषाल[7] के अनुसार बन्दी या आख्यायक (आधुनिक भाट या चारण) होता था। शतपथ में इस रत्निन् का नाम बहुधा ग्रामणी के साथ आता है (5, 4, 4, 18)। शतरुद्रिय में भी 'सूत' का उल्लेख किया गया है। एक स्थान पर सूत का सम्बन्ध अश्व से द्रष्टव्य है[8] अतः सम्भव है कि राजकीय अश्वशालाओं की व्यवस्था करना भी

---

1. 'एतद्वाऽअस्यैक रत्नं यत् सेनानी' (श० ब्रा०, 5, 3, 1, 1)
2. घोषाल, 'स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर', पृ० 306
3. श० ब्रा०, 5, 2, 1, 10; वाल्मीकि रामायण, युद्ध काण्ड, 128, 59; महाभारत, शांति पर्व, 39, 14
4. जायसवाल, 'हिन्दू पोलिटी', पृ० 201
5. 'इंडिया इन द वैदिक एज', पृ० 158, 260
6. 'प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति', पृ० 110
7. 'स्टडीज इन इंडियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर', पृ० 303
8. श० ब्रा०, 5, 3, 1, 5

इसका कर्त्तव्य रहा हो। राजसूय के अवसर पर इस पद के पौर्वापर्य्य का संकेत मिलता है जब राजा यज्ञीय खड्ग 'स्फ्य' को पहले राजभ्राता को तब क्रमशः राजभ्राता सूत या स्थपति को, सूत या स्थपति ग्रामणी को तथा ग्रामणी सजात को सौंपता था।[1]

ग्रामणी : ग्रामणी तथा सूत का द्वन्द्व समास में प्रयोग होते हुए भी शतपथ में ग्रामणी के पद को सूत से घट कर बताया गया है। इतना ही नहीं, ग्रामणी का स्थान सारथि के भी पश्चात् आता है।[1] राजकीय प्रशासन में इसके कार्यक्षेत्र की सीमा को निश्चित बताना कठिन है। सायण ने टीका में 'ग्रामाणां नेता' कहा है जो सामान्य अर्थ है। जायसवाल महोदय के विचारानुसार यह 'पौर का प्रधान' (हैड आफ द टाउनशिप) होता था।[2] जाति से यह निश्चय ही वैश्य होता था जो अपने सजातीयों को अनुशासन में रखता था अतः गाँव की 'विश' का प्रधान माना जा सकता है। किन्तु यह कहना कठिन है कि प्रत्येक गाँव का अलग ग्रामणी होता था अथवा पूरे राष्ट्र के गाँवों की 'विश' का नेता होता था। यदि प्रथम कथन सत्य है तो यह स्पष्ट है कि राज्याभिषेक के अवसर पर 'रत्निन्' के रूप में संस्कृत व्यक्ति ही अन्य ग्रामणियों का प्रतिनिधि बनकर उपस्थित होता था।

क्षत्ता : क्षत्ता को अन्तःपुर का अध्यक्ष[3] कहा गया है। यह भी संभव है कि वह अन्तःपुर के परिचर-वर्ग का अध्यक्ष पदाधिकारी हो (श० ब्रा०, 13, 5, 4, 6)। यदि अनुचरों की संख्या इतनी ही होती थी जितनी कि शतपथ में दी गई है तो उनकी देखभाल, हित-चिन्ता एवं व्यवस्था हेतु एक अलग पदाधिकारी का होना आश्चर्यजनक नहीं है। यू० एन० घोषाल[4] इसे भोजनवितरक मानते हैं जबकि अल्तेकर के मत में यह राजा का पारिपार्श्विक था।[5] महीधर ने वाजसनेयी संहिता (30, 13) की टीका में इसे 'प्रतिहार' माना है। परवर्ती काल में 'क्षत्तृ' एक मिश्रित जाति का व्यक्ति माना जाने लगा।

संग्रहीतृ : एगलिंग[6] तथा कीथ[7] के मतानुसार संग्रहीत 'सारथि' का आशय

---

1. श० ब्रा०, 5, 4, 4, 15-18
2. वही, 5, 3, 1, 6; 5, 4, 4, 16; मै० सं०, 2, 6, 5; 4, 3, 8
3. वही, 5, 3, 1, 7 : 'क्षत्ता नाम यष्टिहस्तोऽन्तःपुराध्यक्षः' (सायण)
4. 'स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर', पृ० 303
5. अल्तेकर, 'प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति', पृ० 110
6. 'द शतपथ ब्राह्मण', 5, 3, 1, 8 की टिप्पणी
7. तै० सं०, 1, 3, 9 की टीका

व्यक्त करने वाला पदाधिकारी है किन्तु सायण ने इसे 'कोषाध्यक्ष' माना है जिसका समर्थन जायसवाल भी करते हैं ।[1]

भागदुघ : भागदुघ नामक रत्निन् जनता से टैक्स वसूल करने वाला (कलैक्टर) पदाधिकारी था जो कृषक से छठा भाग वसूल कर राजा को सौंपता था ।[2] देवों में इसकी उपमा पूषन् से दी गई है ।

अक्षावाप : यह द्यूत के पाँसों को खिलाड़ी के हाथ में पकड़ाने वाला अथवा फेंकने वाला माना गया है ।[3] आज भी टेनिस इत्यादि खेलों में इस प्रकार के व्यक्ति की नियुक्ति होती है, किन्तु इतने लघुकार्य के लिए रत्निन् जैसे पदाधिकारी की नियुक्ति हास्यास्पद ही प्रतीत होती है । वस्तुतः यह अधिकारी द्यूत-क्रीडा एवं अन्य मनोरंजनों का व्यवस्थापक-पद सम्भालता होगा । इससे यह भी स्पष्ट होता है कि द्यूत-क्रीडा को राजकीय संरक्षण दिया गया था । जायसवाल ने इसे अर्थशास्त्र में वर्णित पदाधिकारी 'अक्षपटलाध्यक्ष' (आय-व्यय लेखा-अधिकारी)[4] का वाचक माना है किन्तु शतपथ में अक्ष के साथ-साथ द्यूत-फलक आदि का उल्लेख होने से यह मत मान्य नहीं है ।

गोविकर्तृन् : यह रत्निन् संभवतः आखेट-अधिकारी था ।[5] सायण इसे आखेट में सहायक गो-हिंसक व्याघ्र मानते हैं । जायसवाल का विचार है कि यह वनों की देखभाल करने वाला आफिसर था जो कृषि-विनाशक जंगली पशुओं को नष्ट करता था ।[6] मेगास्थनीज ने भी इसका राज्य के उच्च प्रशासकों के रूप में उल्लेख किया है जिसे मृगयाध्यक्ष कहा जा सकता है ।[7] राधाकुमुद मुकर्जी[8] इसे गवाध्यक्ष कहते हैं । बैलों को बधिया कराने के कार्य से युक्त होने के कारण इसे गोविकर्तृन भी कहते थे । एगलिंग ने इसे गो काटने वाला कसाई कहा है जो पदाधिकारी न होकर एक पेशेवर व्यक्ति होना चाहिए । अतः निश्चितरूपेण इसका कार्यक्षेत्र नियत करना कठिन है ।

---

1. 'हिन्दू पोलिटी,' पृ० 202
2. श० ब्रा० 5, 3, 1, 9
3. घोषाल, 'स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर,' पृ० 303
4. 'हिन्दू पोलिटी,' पृ० 203
5. श० ब्रा०, 5, 3, 1, 10
6. जायसवाल, 'हिन्दू पोलिटी', पृ० 203
7. मैक्रिंडल, 'मेगास्थनीज', पृ० 84, 86
8. 'इण्डियन सिविलाइजेशन' (हिन्दी अनुवाद), पृ० 105

पालागल : पालागल रत्निन् का उल्लेख केवल शतपथ ब्राह्मण में ही मिलता है।[1] यह राजा का अन्तिम रत्निन् था जिसे 'दूत' का स्थानापन्न माना गया है। सायण ने इसका अर्थ 'दूत' ही किया है तथा कात्यायन ने पालागल के स्थान पर 'दूत' शब्द ही रखा है अतः इसका पद स्पष्ट है। अल्तेकर के मत में यह 'विदूषक' की तरह का पदाधिकारी था। देवों का दूत अग्नि होने के कारण यह पद अवश्य ही महत्त्वपूर्ण रहा होगा।[2] यह 'अनृत-वादिन्' भी कहा गया है। एक स्थान पर इसका लाक्षणिक प्रयोग मिलता है।[3] दूत-पद इतना महत्त्वपूर्ण समझा जाता था कि असुर-रक्षसों को भी दूत रखना अनिवार्य था।[4] सहरक्षस् असुरों का दूत था।

उपर्युक्त रत्नियों के अतिरिक्त प्रशासन में राजा के भाई का भी हाथ रहता था[5] किन्तु वह राजा से कम तथा सूत एवं ग्रामणी से अधिक शक्तिसम्पन्न माना गया है (श० ब्रा०, 5, 4, 4, 16)। 'स्थपति' की गणना शतपथ में रत्नियों में नहीं की गई है। यह राज्यपाल अथवा मुख्य न्यायाधीश के समकक्ष अधिकार-प्राप्त अधिकारी था। रेवोत्तरसचाक्र सृञ्जय राजा दुष्टरीतु पौंसायन का स्थपति नामक पदाधिकारी इस राजा का पुनर्प्रतिष्ठापान कराने में सफल हो गया था। इससे इस पद की उच्चता का आभास मिलता है, फिर भी इसकी राजा के भ्राता (राजन्य ?) की अपेक्षा स्थिति हीन मानी गई है।[6] इतना उच्च पदाधिकारी होते हुए भी इसका रत्निन् में स्थान न होना आश्चर्यजनक प्रतीत होता है किन्तु वास्तविकता यह प्रतीत होती है कि राजा के रत्निन् वे ही पदाधिकारी थे जो राज्य-शासन में राजा की सहायता करते थे जबकि स्थपति का सम्बन्ध राजकृत से हो सकता है अर्थात् 'राजा बनाने वाला' (किंग-मेकर)। इसीलिए एगलिंग ने इसे 'नॉन रॉयल' विशेषण दिया है जिससे यह भी संभावना हो सकती है कि स्थपति राजकीय अधिकारी न होकर सामाजिक प्रतिनिधित्व करने वाला प्रति-ष्ठित जन हो जिसे राजकृत भी कहा जाता रहा हो।

सम्भावना कुछ भी रही हो किन्तु यह स्पष्ट है कि ये राजकीय तथा अरा-

---

1. श० ब्रा०, 13, 5, 5, 8
2. वही, 1, 4, 1, 35
3. वही, 3, 5, 1, 6
4. वही
5. तैत्तिरीय संहिता के रत्नियों की सूची में आगत 'राजन्य' राजा का भाई भी हो सकता है।
6. श० ब्रा०, 5, 4, 4, 17

जकीय सभी पदाधिकारी राजा के प्रति निष्ठावान होते थे ।[1]

दण्ड

दण्ड शब्द का शतपथ में अनेक रूपों में प्रयोग मिलता है । पशुओं को हाँकने के लिए प्रयुक्त दण्ड के अतिरिक्त प्रतिष्ठापन के समय असुरों को भगाने के लिए हाथ में एक 'दण्ड' दिया जाता था जैसाकि उपनयन के अवसर पर 'उपनीत' व्यक्ति के साथ भी संयुक्त पाते हैं;[2] किन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है राज-प्रेषित-दण्ड ।[3] यहाँ पर यह राजा की लौकिक शक्ति का प्रतीक माना गया है । जैसाकि ऊपर उल्लेख हो चुका है कि अभिषेक के उपरांत राजा की पीठ पर दण्ड का स्पर्श कराया जाता था जिसका तात्पर्य राजा का अदंड्य होना था । राजा को अदंड्य घोषित करना राज-शक्ति के क्षेत्र में वृद्धि का प्रतीक है । प्रजा (विश) राजा को टैक्स (बलि) देती थी ।[4] शतपथ में उल्लेख है कि वैश्य धीरे-धीरे धन एकत्र कर लेते हैं तथा राजा जब भी इच्छा करता है, उस एकत्रित धन को मंगा लेता है—

> तस्माद्यदोत क्षत्रियः कामयते अथाह वैश्यम् अपि यत् ते परो
> निहितम् तदाहरेति[5]

इससे यह उपपत्ति होती है कि अर्थव्यवस्था इस प्रकार की थी कि राजा के अतिरिक्त सीमा से अधिक समृद्ध कोई नहीं हो पाता था। भूमि के स्वामित्व के स्थानान्तरण को मान्यता नहीं मिली थी । यज्ञ की दक्षिणा के रूप में ही भूमि का स्थानान्तरण हो सकता था ।[6] दण्ड के रूप में वध का भी उल्लेख शतपथ करता है (5, 4, 4, 7) । इस प्रकार की सजा संभवतः डाकुओं (से लगा—श० ब्रा० 13, 4, 3, 10) अथवा ब्रह्महत्यारों को दी जाती थी । कानून तोड़ने वालों को शारीरिक दण्ड भी दिया जाता था । शतपथ में इसी प्रकार के एक दण्ड 'तुला-यन्त्रणा' का उल्लेख है (11, 2, 7, 33) ।

---

1. श० ब्रा०, 13, 2, 2, 18
2. वही, 1, 5, 4, 6
3. वही, 5, 4, 4, 7
4. वही, 1, 3, 2, 15
5. वही, 1, 3, 2, 15
6. वही, 13, 7, 1, 13

शतपथ ब्राह्मण में सभा नामक संस्था का उल्लेख मिलता है जिसमें राजा नियमित रूप से सम्मिलित होता था।[1] अतः स्पष्ट है कि यह सभा प्रशासनिक कार्यवाही के लिए ही बुलाई जाती थी किन्तु समिति नामक ऋग्वेदीय राष्ट्रीय संस्था[2] का लोप दिखाई देता है।

राजा एवं प्रजा का सम्बन्ध

प्रजा को शतपथ में अधिकांश में 'विश' शब्द द्वारा द्योतित किया गया है तथा राजा को क्षत्र शब्द द्वारा। राजा एवं प्रजा के सम्बन्धों पर शतपथ का दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट है। एक ओर जहाँ राजा को परम् शक्तिसम्पन्न एवं मूर्धन्य दिखाया गया है वहीं दूसरी ओर 'विश' के महत्त्व को भी कम नहीं दर्शाया गया है। समष्टिगत एवं व्यष्टिगत दोनों शक्तियों के सामंजस्य को ही महत्त्व दिया गया है। उक्त है कि राजा तथा प्रजा का सम्बन्ध भोक्ता तथा भोग्य का सम्बन्ध है—

अन्नं वै क्षत्रस्य विट्[3]

यहीं पर क्षत्र को सोम तथा विश को इतर ओषधि कहा गया है। जब क्षत्रिय सामने उपस्थित होता है तो प्रजा उसे साष्टांग दंडवत करती है—

तस्माद्‌ क्षत्रियमायन्तमिमाः प्रजा विशः प्रत्यवरोहन्ति[4]

इस प्रकार राजा की सर्वोपरिता के महत्त्व का प्रदर्शन किया गया है किन्तु साथ ही यह भी कहा गया है कि राजा और प्रजा में सामंजस्य रहे।[5] क्षत्र की दोनों ओर से रक्षा 'विश' ही करती है।[6] विश के द्वारा ही क्षत्रिय को बल मिलता है—

विशा वै क्षत्रियो बलवान् भवति[7]

---

1. श० ब्रा०, 2, 3, 2, 3; 5, 3, 1, 10; 3, 3, 4, 14
2. जायसवाल, 'हिन्दू पॉलिटी', पृ० 12
3. श० ब्रा०, 3, 3, 2, 8
4. वही, 3, 9, 3, 7
5. वही, 3, 9, 4, 21
6. वही, 3, 9, 1, 18
7. वही, 5, 3, 3, 6

एक स्थान पर स्पष्ट उल्लेख है कि मदान्ध होने वाला राजा अवश्य पतित होगा —

उद् वा ह माद्येत् प्र वा पतेत्[1]

इस प्रकार राजा तथा प्रजा के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध का जितना सुन्दर व स्पष्ट वर्णन शतपथ में मिलता है उतना अन्यत्र दुर्लभ है।

युद्ध

राजा तथा राजन्यों (क्षत्रिय बन्धुओं) के लिए युद्ध अपरिहार्य था—

युद्धं वै राजन्यस्य वीर्यम्[2]

राजा युद्ध को जीत कर वार्त्रघ्नी गाय को स्वीकार करता था।[3] शतपथ में युद्ध के लिए संग्राम[4] शब्द के अतिरिक्त 'संघात' भी मिलता है। कुछ स्थलों पर इसका आशय भी युद्ध ही प्रतीत होता है[5] तथा युद्ध शब्द का भी अनेक बार प्रयोग हुआ है।[6] पुरों में दुर्गों का निर्माण होता था। उन दुर्गों पर घेरा डालने का भी प्रसंग मिलता है।[7]

सेना का संचालन सेनापति करता था जिसे 'अनीक' कहा जाता था।[8] राजन्यबन्धु रथ में बैठ कर शरसंधान करते थे—

रथेन च शरेण च राजन्यबन्धवः[9]

सेना टुकड़ियों में विभाजित होती थी जिनमें भिन्न-भिन्न शस्त्रों के संचालन में विशेष योग्यताप्राप्त सैनिकों का अपना स्थान नियत होता था जैसे एक स्थान पर सौ राजन्य योद्धा निषंगी (तलवार सहित), सूत, ग्रामणी आदि के सौ पुत्र

1. श० ब्रा०, 5, 5, 1, 2
2. वही, 13, 1, 5, 6
3. वही, 3, 3, 1, 14
4. वही, 3, 4, 4, 3
5. वही, 1, 1, 4, 48
6. वही, 13, 1, 5, 6; 5, 2, 4, 16
7. वही, 3, 4, 4, 3; 6, 3, 3, 25
8. वही, 2, 6, 4, 2
9. वही, 1, 2, 4, 2

धनुष-बाण लिए, तथा क्षात्र संग्रहीतृ के सौ पुत्र लाठियाँ लिए एवं सौ राजपुत्र कवच धारण किए सेना में बताए गए हैं।[1]

सेना में रथों का प्रयोग बहुलता से होता था। सारथि तथा सैनिक दोनों को रथिन् कहा गया है।[2] रथ का निचला भाग जिस पर सारथि तथा योद्धा खड़े होते थे, रथोपस्थ कहलाता था।[3] रथ में चार अश्व जुड़ते थे तथा सव्य एवं दक्षिण भाग में दो सारथि भी बैठते थे।[4] 'सव्येष्ठा' शब्द का शतपथ में उल्लेख मिलता है[5] जिसे टीकाकारों ने सारथि का पर्याय माना है। सायण के अनुसार योद्धा के दोनों ओर बैठने वाले सारथियों का द्योतक है किन्तु सव्येष्ठा का अर्थ संभवतः स्वयं योद्धा है जो सारथि के बाँई ओर खड़ा होता था। रथ के वीर योद्धाओं को 'महारथ' विशेषण से भूषित किया जाता था।[6]

रथिन् के अतिरिक्त अश्वारोही सैनिकों का भी उल्लेख मिलता है जिन्हें 'सादिन' कहा गया है।[7] ये वीर सैनिक अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग में विशिष्ट स्थान रखते थे। अचूक निशानेबाज को 'अतिव्याधी' कहा गया है तथा धनुर्विद्या में प्रवीण सैनिक को 'शूरइषव्य'।[8] वाण तीन प्रकार के होते थे—द्बा, रुजा तथा क्षुमा।[9] युद्ध में तलवारों का प्रयोग करने वाले सैनिक निषंगी कहे जाते थे। महीधर निषंग का अर्थ तलवार ही लेते हैं। एक स्थान पर हेति तथा प्रहेति नामक अस्त्रशस्त्रों का उल्लेख मिलता है[10] किन्तु वैदिक भारतीयों का प्रमुख अस्त्र धनुष ही प्रतीत होता है जिसका इषव्य, अधिज्य, धन्व, धनुष आदि पर्यायों के रूप में प्रचुर उल्लेख मिलता है।

युद्ध के आक्रमणात्मक साधनों के अतिरिक्त रक्षात्मक कवच आदि के प्रयोग का पुनः-पुनः उल्लेख प्रसंग प्राप्त है। यह कवच उरस्त्राण या वक्षस्त्राण ही

---

1. श० ब्रा०, 13, 4, 2, 5
2. वही, 8, 7, 3, 7
3. वही, 2, 3, 3, 12
4. वही, 5, 4, 3, 17
5. वही, 5, 3, 1, 8
6. वही, 13, 1, 9, 2
7. वही, 7, 3, 2, 17
8. वही, 13, 1, 9, 2
9. वही, 5, 3, 5, 29
10. वही, 8, 6, 1; 15

हो सकता है।[1] इसे कवच एवं प्रतिसर कहा जाता था।[2] कवच के लिए संभवतः सीसे का प्रयोग होता था।[3] युद्ध में ही नहीं, अश्वमेध के लिए छोड़े गए अश्व के पीछे भी सैंकड़ों कवचधारी सैनिकों के चलने का उल्लेख मिलता है।[4]

उपर्युक्त युद्धसम्बन्धी विवरण के अतिरिक्त शत्रु को विष द्वारा मारने का भी जिक्र मिलता है[5] जो शतपथकालीन राजनीति के कूटनीतिक पहलुओं पर प्रकाश डालता है।

वर्ण-व्यवस्था

ऋग्वेद में दो वर्णों, आर्य तथा दास का उल्लेख मिलता है जहाँ इन दोनों के भेद को स्पष्ट किया गया है।[6] शतपथ इसके विपरीत समाज के चतुर्दिक वर्ण-विभाजन को अभिव्यक्त करता है—'चत्वारो वै वर्णाः, ब्राह्मणो, राजन्यो, वैश्यः, शूद्रः।[7]

जाति

'जाति' शब्द का प्रयोग शतपथ में द्रष्टव्य नहीं है। एक स्थान पर 'ज्ञाति'[8] शब्द अवश्य आया है जिसका अर्थ 'सम्बन्धी' है न कि जाति। सजातीय[9] शब्द का प्रयोग भी वर्ण में ही सीमित क्षेत्र का द्योतक है जहाँ कथित है कि ब्राह्मण एवं क्षत्रिय सजातीयों के रक्षक हैं। इसके लिए याज्ञवल्क्य का प्रमाण पठनीय है जहाँ वे 'सजाति' शब्द की व्याख्या करते हैं—

सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः[10]

स्पष्ट है कि 'सजात' से अभिप्राय उत्तम वर्ण की उत्पत्ति था। इसीलिए शूद्र

---

1. श० ब्रा०, 13, 2, 2, 7; 13, 1, 6, 3
2. वही, 5, 2, 4, 20
3. वही, 5, 1, 2, 14; 12, 7, 1, 7
4. वही, 13, 1, 6, 3
5. वही, 11, 2, 6, 6
6. ऋग्वेद, 1, 104, 2
7. श० ब्रा०, 5, 5, 4, 9; 6, 4, 4, 13
8. वही, 2, 2, 3, 16
9. वही, 1, 2, 1, 7
10. याज्ञवल्क्यस्मृति, 4, 90

के लिए 'सजाति' प्रयोग द्रष्टव्य नहीं है। अनेक स्थलों पर शौद्र वर्ण का उल्लेख अवश्य मिलता है।[1] चारों वर्णों में से प्रथम तीन की सजातीयता का कारण उनका यज्ञियत्व था[2] अर्थात् ये तीनों यज्ञ के आयोजन एवं सम्पादन के योग्य माने गए अतः शूद्र वर्ण सेवावृत्ति द्वारा जीविका धारण करने वाला एक सामाजिक विभाग-विशेष था जो मानव-समाज की सुदृढ़ आधारशिला के रूप में अनिवार्य है। ऋग्वेद में इसे समाज-पुरुष के पाँव बताकर महत्त्वपूर्ण आधार सिद्ध किया गया है।[3]

शतपथ में चारों वर्णों के लिए अलग-अलग सम्बन्धों का प्रस्ताव उन वर्णों की क्रमशः श्रेष्ठता का प्रतिपादन करता है।[4] चारों वर्णों के लिए चार पृथक् आकार की अन्त्येष्टि वेदिकाओं[5] के निर्माण का विधान किया गया है। देवताओं का भी चार वर्णों में विभाजन[6] चारों वर्णों की पृथक् इकाई का समर्थक है किन्तु पृथक् इकाई होते हुए भी अंगी के रूप में समाजरूपी अंग से समवाय सम्बन्ध असंदिग्ध है। चतुर्दिक विभाजन केवल आधारजन्य ही दिखाई देता है, यथा शूद्र-वर्ण पूरे समाज का आधार है। विश, ब्राह्मण एवं क्षत्रियवर्ग का तथा क्षत्रिय, ब्राह्मण का आधार कहा गया है।[7] क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों के सम्बन्ध में शतपथ में विशेष मौलिक विचार मिलते हैं। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय परस्परापेक्षी है तथा यह अपेक्षा अपरिहार्य है। फिर भी ब्राह्मण को ज्ञान की उच्चता के कारण श्रेष्ठ सिद्ध किया गया है। ब्रह्म क्षत्र के बिना रह सकता है किन्तु क्षत्र ब्रह्म के बिना नहीं।[8] ब्राह्मण से संयुक्त एकाकी राजन्य भी राजन्य समुदाय से शक्तिशाली है। प्रस्तुत कथन का सापेक्ष मूल्यांकन आवश्यक है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि ब्राह्मणों ने प्रत्येक दृष्टि से अपने अधिकारियों की सर्वोच्चता स्थापित करली थी जैसाकि एगलिंग[9] का अनुमान है। इसके विपरीत शतपथ

---

1. श० ब्रा०, 5, 5, 4, 9; 6, 4, 4, 13
2. 'तन्न सर्व इवाभिप्रपद्येत। ब्राह्मणो वैव राजन्यो वा वैश्यो वा ते हि यज्ञियाः' (श० ब्रा०, 3, 1, 1, 9)
3. ऋग्वेद, 10, 90
4. श० ब्रा०, 1, 1, 4, 12
5. वही
6. वही, 14, 4, 2, 23
7. वही, 11, 2, 7, 16; 6, 4, 4, 13
8. वही, 4, 1, 4, 6
9. 'ब्राह्मणाज हैड फाइनली एस्टेब्लिश्ड देअरक्लेम्स टु द हाइएस्ट रैंक इन द बॉडी पोलिटिक' (एगलिंग, 'द शतपथ ब्राह्मण', भाग 1, इन्ट्रोडक्शन, पृ० 12

के रचयिता का ही कथन है कि ब्राह्मण का यश राजा के यश से घट कर होता है।[1] उपर्युक्त विचार इंगित करते हैं कि 'ब्रह्म' एवं 'क्षत्र' ही मिलकर राष्ट्र की सुदृढ़ रचना करने में समर्थ हो सकते हैं। यहाँ वर्णों का आधार जन्म न होकर उनके गुण ब्रह्मत्व एवं क्षत्रत्व ही ग्रहणीय हैं।

ब्राह्मण

वर्णजन्य श्रेष्ठता में ब्राह्मणों की सर्वोपरिता यद्यपि सर्वमान्य थी फिर भी गुणों को ही अधिक महत्त्व दिया जाता था। शतपथ में उल्लेख है कि सच्चा ब्राह्मण वहीं है जो यज्ञ से उत्पन्न होता है। अतः क्षत्रिय या वैश्य को भी ब्राह्मण कहना चाहिए क्योंकि जो यज्ञ से उत्पन्न होता है वह ब्राह्मण ही है। अतः यह कहते हैं कि यज्ञ करने वाले को कभी न मारे। ऐसा करना पाप है।[2] इससे उपपत्ति होती है कि ब्राह्मण जन्य गुण तथा कर्म से सम्बद्ध होने वाला, ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी हो जाता था। इसीलिए शतपथ में जनक के ब्राह्मण होने की बात कही गई।[3] इतना ही नहीं, याज्ञवल्क्य ने—जो जन्म से ब्राह्मण था—जनक से ज्ञान प्राप्त किया।[4]

'ब्रह्मपुत्र' ब्राह्मण के लिए एक सम्मानसूचक शब्द था।[5] शतपथ में ब्राह्मणों को देवत्व से भी मण्डित किया गया है। किन्तु विद्यावान् एवं विद्वान् ब्राह्मण ही मनुष्यों में देव सदृश कहे गए हैं—

द्वया वै देवाः। देवाऽअहैव देवाः अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रूवांसोऽनूचानाः ते मनुष्यदेवाः।[6]

यज्ञ आदि सम्पादित करने वाले भी विद्वान् ब्राह्मण ही होते थे। ये शुश्रुवान् ब्राह्मण (ब्राह्मणा यज्ञस्य प्रावितारो येऽनूचानाः) ही राज्याभिषेक के समय उपस्थित हो प्रशासन में अपने मूलभूत अधिकारों को सुरक्षित रखते हुए जनता से कहते थे—

---

1. 'तस्माद् ब्राह्मणो राजानमनुयशः' (श० ब्रा०, 5, 4, 2, 7)
2. वही, 3, 2, 1, 40
3. वही, 11, 6, 2, 10
4. वही 11, 6, 2, 5
5. वही, 11, 4, 1, 2
6. वही, 4, 3, 4, 4; 2, 2, 2, 6

एष वो अमी राजा । सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा[1]

ब्राह्मणों का अन्य सुरक्षित अधिकार दक्षिणा ग्रहण करना था जिसे प्रदान करना अन्य वर्णों का कर्त्तव्य था ।[2] दक्षिणा का अधिकारी बनने के लिए दो में से एक विशेष योग्यता की अवस्थिति अनिवार्य थी—या तो वह ब्राह्मण कुलीन हो या आर्षेय—

यो वै ज्ञातो ज्ञातकुलीनः स पितृमान् पैतृमत्यो यो वै ज्ञातायापि कतिपयीर्दक्षिणा ददाति . . .

यो वै ज्ञातोऽनूचानः स ऋषिरार्षेयः सुधातु दक्षिणामिति[3]

अर्थात् शुद्ध आनुवंशिकता एवं आर्षेयता (वेदज्ञता) का गुण होने पर ही ब्राह्मण मनुष्यदेव, पितृमान ऋषि आदि रूपों में यशस्विता अर्जित करता था अतः वर्ण-श्रेष्ठता के रूप में सम्मानित होने का वास्तविक आधार ब्राह्मण के गुण थे । दीपक-देहरी न्याय से ब्राह्मणमात्र ने विशेषाधिकारों का उपभोग किया । समाज में ब्राह्मण की हत्या को जघन्य अपराध माना गया है ।[4]

ब्राह्मणों में कुछ लोग गायन-कला द्वारा भी अपनी जीविका कमाते थे ।[5] ब्राह्मणों का परम कर्त्तव्य था कि वे अपनी आनुवंशिकता को पवित्र रखें ताकि सामाजिक अनुकरण के लक्ष्य बन सकें ।[6] उनसे आचरण-सम्बन्धी उत्कृष्टता की भी अपेक्षा की गई है । ब्राह्मणों को अर्थहीन वाणी नहीं बोलनी चाहिए । जो अर्थहीन वाणी बोलता है वह म्लेच्छ है ।[7] ब्राह्मण को दयावान तथा उदार होना चाहिए ।[8] ब्रह्मवर्चस् (पवित्र ज्ञान) की उपलब्धि ब्राह्मण के लिए अपरिहार्य थी ।[9] कहा गया है कि जो ब्राह्मण धार्मिक कर्मों की गहराई को समझ कर अग्निहोत्र आदि में प्रवृत्त हो जाता है वह ब्रह्मवर्चसी हो जाता है ।[10] ब्राह्मण को

---

1. श० ब्रा०, 9, 4, 3, 16
2. वही, 11, 5, 7, 1
3. वही, 4, 3, 4, 19
4. वही, 13, 3, 1, 1
5. वही, 13, 1, 5, 1
6. वही, 4, 3, 4, 19
7. वही, 3, 2, 1, 24
8. वही, 2, 3, 4, 6
9. वही, 2, 1, 3, 6; 13, 1, 5, 3; 5, 2, 6, 9
10. वही, 2, 3, 1, 31

वेदाध्ययन अवश्य करना चाहिए। ऋषिऋण चुकाने के लिए जो ब्राह्मण वेदाध्ययन करता था उसे 'ऋषीणान्निधिगोप' कहते थे।[1] वेदाध्ययन करने वाले विद्वान् ब्राह्मण 'विप्र' कहलाते थे।

यो वै ब्राह्मणाः शुश्रूवांसोऽनूचानास्ते विप्राः (श० ब्रा०, 3, 5, 3, 12)

परम्परा का अविच्छिन्न निर्वाह करने के लिए ब्राह्मण का कर्त्तव्य था कि वह अपने पुत्र को शिक्षित एवं यज्ञिय बनाए।[2] गुरु का ब्राह्मण होना अनिवार्य नहीं था। अधिक महत्त्व गुरु की प्रसिद्धि तथा उसके ज्ञान को दिया जाता था।[3] शतपथ (4, 2, 4, 1) में चरकों तक को ज्ञानप्राप्ति का स्रोत माना गया है। फिर भी कतिपय अपवादों को छोड़ कर ब्राह्मण आचार्यों की ही परम्परा प्रचलित थी। यदि कोई शिष्य एक वर्ष तक गुरु के पास रह लेता था तो गुरु का कर्त्तव्य था कि वह उसे सम्पूर्ण ज्ञान प्रदान करे।[4] ब्राह्मण से जगत् के गूढ़ तत्त्वों का अध्ययन कर विषयरहित होने की अपेक्षा भी की जाती थी जैसाकि याज्ञवल्क्य के उदाहरण से स्पष्ट है।[5] सारांश में शतपथ ब्राह्मण (11, 5, 7, 1) में ब्राह्मणों के कर्त्तव्यों का निदेश तीन रूपों में किया गया है—ब्राह्मण्य (पवित्रता), प्रतिरूपचर्या (अपने कर्त्तव्यों के प्रति निष्ठा) तथा लोकपक्तिः (संसार को शिक्षा द्वारा योग्य बनाना)।

ब्राह्मण का कर्त्तव्य था कि वह अन्य द्वारा अस्वीकृत दान को न ले (श० ब्रा०, 3, 5, 1, 25)। ब्राह्मणों के लिए सुरा, परिस्रुत तथा कुछ प्रकार के मांसों का निषेध किया गया है।[6] यह असंभव है कि सभी ब्राह्मण अपने कर्त्तव्यों का पालन समुचित रूप से करते थे, किन्तु कर्त्तव्यच्युत होने वाले ब्राह्मणों का 'एषावीरों' की भाँति बहिष्कृत किए जाने का संकेत भी शतपथ में मिलता है।[7]

ब्राह्मणों के अधिकार

उपर्युक्त कर्त्तव्यों के फलस्वरूप समाज ब्राह्मणों को उचित सम्मान देता

---

1. श० ब्रा०, 1, 7, 2, 3। वेदाध्ययन की विशेष जानकारी हेतु द्रष्टव्य इसी शोध-प्रबन्ध का षष्ठ अध्याय
2. वही, 1, 6, 2, 4
3. वही, 11, 6, 1, 1
4. वही, 14, 1, 1, 26
5. वही, 2, 4, 1, 4
6. वही, 12, 7, 2, 2; 12, 8, 1, 5; 12, 9, 1, 1
7. वही, 11, 2, 7, 32

था। शतपथ में एक स्थान पर ब्राह्मण को 'भगवन्त' सम्बोधित किया गया है (14, 6, 1, 2)। उन्हें पुकारते समय विशिष्ट संबोधन 'एहि' का प्रयोग किया जाता था।[1] समाज में श्रेष्ठ दान प्राप्त करना ब्राह्मण का अधिकार था। यज्ञ का उच्छिष्ट केवल ब्राह्मण ही ग्रहण करते थे। राजनैतिक जीवन में भी ब्राह्मणों का पर्याप्त प्रभाव द्रष्टव्य है।[2] 'सोमो अस्माकं ब्राह्मणानां राजा' कहने का तात्पर्य भी संभवतः यही था कि राजा को ब्राह्मणेतर लोगों से ही कर लेना चाहिए। शतपथ के इसी प्रसंग को आधार बनाकर संभवतः वशिष्ठ[3] एवं गौतम[4] ने भी उक्त विचार को समर्थित किया है। शतपथ के अनुसार ब्राह्मण की सम्पत्ति पर किसी का दखल नहीं था क्योंकि यदि कोई राजा किसी विशेष भू-भाग को किसी पुरोहित को दान देता था तो पुरोहित का उस भू-भाग में बसे ब्राह्मणों की सम्पत्ति पर कोई हक नहीं बनता था।[5] सारांशतः शतपथ में ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों को अर्चा, दान, अज्येयता तथा अवध्यता, चार रूपों में प्रस्तुत किया गया है।[6] ब्राह्मण अवध्य था। उसका वध एक भयंकर अपराध माना गया था।[7] मात्र अधिकारों का उपभोग कर कर्त्तव्यों से च्युत होने वाले ब्राह्मण निश्चय ही 'एषावीरों' की तरह निन्दा के पात्र बनते थे जिन्हें 'अवांछित ब्राह्मण' कहा गया है।[8] राजाओं के पीछे अनुचरों की भाँति घूमने वाले ब्राह्मणों को भी हेय दृष्टि से देखा जाता था।[9]

क्षत्रिय

ब्राह्मण के पश्चात् क्षत्रिय वर्ण का महत्त्व था जिसे शतपथ ने अपने विभाजन में 'राजन्य' नाम भी दिया है।[10] संभवतः राजन्य शब्द का प्रयोग क्षत्रिय वर्ण

1. श० ब्रा०, 1, 1, 4, 12
2. घोषाल, 'स्टडीज इन इंडियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर', पृ० 322
3. धर्मशास्त्र, 1, 44
4. गौ० ध० सू०, 1, 11
5. श० ब्रा०, 13, 5, 4, 24; 13, 6, 2, 18
6. वही, 11, 5, 7, 1
7. वही, 13, 3, 5, 3
8. 'एषावीर' के लिए द्रष्टव्य—वेबर, 'इन्दिशेन स्तूदिएन', भाग 1, पृ० 228, तथा श० ब्रा०, 2, 1, 2, 17
9. वही, 1, 2, 3, 2
10. वही, 5, 5, 4, 9; 6, 4, 4, 13

के लिए किया गया है तथा 'क्षत्रिय' शब्द का प्रयोग शासक वर्ग के अर्थ में। समाज में क्षत्रिय को विशेष सम्बोधन 'आद्रव' द्वारा पुकारा जाता था।[1] ब्रह्म-वर्चसी होना जैसे ब्राह्मण की विशेषता थी तथैव क्षत्रिय से शौर्य की अपेक्षा की जाती थी—

नाना ह वा एतान्यग्रे क्षत्राण्यासु[2]

'क्षत्र' ही क्षत्रिय का वह विशेष गुण था जिसके द्वारा लोक में प्रभुत्व स्थापित कर वह 'वीर भोग्या वसुन्धरा' की कहावत को चरितार्थ करता था—

अयं वाव क्षत्रियस्य लोक इति[3]

तीन ऋतुओं से तीनों सवर्णों का तादात्म्य स्थापित करने के प्रसंग में क्षत्रिय की उपमा ग्रीष्म से दी गई है जो इस वर्ण के रक्त की उष्णता को व्यक्त करती है।[4] इसी क्षात्र-प्रवृत्ति के कारण क्षत्रिय का प्रतीक इन्द्र या इन्द्रानी को माना गया।[5] क्षत्रिय में क्षात्र-प्रवृत्ति के कारण ही 'विश' को प्रशासित करने की ईश्वर-प्रदत्त शक्ति थी—

क्षत्रं वा इन्द्रः, विशो मरुतः क्षत्रं वै विशो निषेद्धा[6]

अतः क्षत्रिय को सिरमौर स्वीकार किया गया। ओषधियों में 'क्षत्र' सोम का तथा 'विश' सामान्य ओषधियों का प्रतीक है। 'विश' का विस्तार क्षत्रिय शासक के लिए राष्ट्र की समृद्धि को देने वाला है।[7]

अत्ता वै क्षत्रियो अन्नं विट् यत्रवाऽअत्तुरन्नं भूयो भवति तद्राष्ट्रं समृद्धं भवति तदेधते

यहाँ क्षत्रिय में निहित शौर्यरूपी अग्नि ही वस्तुतः अत्ता है। विश के विस्तार से जो कार्यक्षेत्र विस्तृत होता है वह उस अग्नि का अन्न है।

---

1. श० ब्रा०, 1, 1, 4, 12
2. वही, 2, 1, 2, 17
3. वही, 11, 8, 4, 5
4. वही, 2, 1, 3, 5
5. 'क्षत्रं वा इन्द्र . . . क्षत्रं वा इंद्राग्नी' (वही, 10, 4, 1, 9)
6. वही, 2, 5, 2, 27; 2, 4, 3, 6। 'विशो निषेद्धा' का अर्थ एगलिंग ने 'कन्ट्रोलर आफ द पीपुल' किया है।
7. श० ब्रा०, 6, 1, 2, 25

ब्रह्म तथा क्षत्र

शतपथ के विचारानुसार ब्रह्म तथा क्षत्र का पूर्ण सामंजस्य ही लौकिक या भौतिक समृद्धि का मूल मन्त्र है। इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने में शतपथ ने विवेचना का कोई दृष्टिकोण अछूता नहीं छोड़ा। प्रारंभ में ब्रह्म तथा क्षत्र दोनों अलग थे। तब ब्रह्म क्षत्र से अलग स्थित रह सकता था किन्तु क्षत्र का ब्रह्म के बिना अस्तित्व असम्भव था। क्षत्र जो कुछ ब्रह्म की सहायता के बिना करता था उसमें असफल रहता था। तब क्षत्र ने ब्रह्म को बुलाया और कहा कि प्रत्येक कार्य में मैं तुझे आगे रखूँगा। तेरे द्वारा निदेशित होकर कार्य करूँगा... अतः ब्राह्मण क्षत्रियविहीन रह सकता है किन्तु यदि वह राजा चुन लेता है तो दोनों की सफलता निश्चित है।[1] सैद्धान्तिक तौर पर ब्रह्म की सर्वोपरिता आवश्यक बताते हुए भी ब्राह्मण को राज्य-शासन के अयोग्य माना है—

न वै ब्राह्मणो राज्यायालम्[2]

'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' कथन का अभिप्राय केवल 'ब्रह्म' को 'क्षत्र' के उत्ताप से मुक्त रख, ब्रह्म के वर्चस्व को कायम रखना ही था जिसके द्वारा ब्राह्मण समाज को अपना सर्वस्व दे सकता था। शत्रु के समक्ष अतुल बल वाला क्षत्रिय ब्राह्मण के समक्ष नम्र बनकर रहता था।[3] सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से 'ब्रह्म' तथा 'क्षत्र' का सम्मिलित नेतृत्व अपेक्षित था जिसकी प्रतीकात्मक पुष्टि की गई है।[4] यहाँ प्रदर्शित है कि ब्रह्म (ज्ञान) द्वारा नीत एवं क्षत्र (शौर्य) द्वारा रक्षित समाज-व्यवस्था ही राष्ट्र को श्री तथा सम्पन्नता प्रदान करती है। राष्ट्र की उत्पत्ति भी ब्रह्म (ज्ञान) से बता कर ब्रह्म को ही सैद्धान्तिक रूप में सर्वोपरि माना गया है।[5]

ब्रह्म तथा क्षत्र दोनों श्री परिगृहीत हैं।[6] दोनों वीर्यवान शक्तियाँ हैं तथा सजातीयों की रक्षक हैं। इस सामंजस्य के कारण ही मजूमदार का कथन है कि "ब्राह्मण तथा क्षत्रिय में कोई खास भेद नहीं था। दोनों अपने व्यवसाय एवं

---

1. श० ब्रा०, 4, 1, 4, 2
2. वही, 5, 1, 1, 12
3. वही, 5, 4, 4, 15
4. वही, 6, 4, 4, 13
5. 'ब्राह्मणो हि क्षत्रं जायते' (वही, 12, 7, 3, 12)
6. वही, 13, 1, 5, 2

जीवनपद्धति में परिवर्तन के साथ वर्णपरिवर्तन भी कर सकते थे।"[1] दोनों में सामंजस्य की पराकाष्ठा होते हुए भी वे प्रवृत्या विरोधी दिखाई देते हैं। ब्रह्म को क्षत्र में तथा क्षत्र को ब्रह्म में रमने से तृप्ति नहीं मिलती—

न वै ब्रह्मणि क्षत्रं रमत इति . . . न वै क्षत्रे ब्रह्मवर्चसं रमत इति[2]

ब्राह्मण-गायक को दिन में गाना पसन्द है किन्तु राजन्य गायक को रात्रि में।[3] क्षत्रिय ज्ञान के क्षेत्र में भी विशेष गति नहीं रखते थे। शतपथ में विद्वान् क्षत्रियों के रूप में केवल चार का उल्लेख मिलता है—जनक, प्रवाहण जैवलि, अश्वपतिकैकेय तथा अजातशत्रु।[4] इन्होंने निःसन्देह ज्ञान के विस्तृत क्षितिजों का स्पर्श किया था किन्तु इस बात के स्पष्ट प्रमाण शतपथ में मिलते हैं कि धार्मिक विषयों पर क्षत्रियों के विचारों को विशेष आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता था।[5] याज्ञवल्क्य ब्राह्मणों से कहता है कि यह राजा जनक राजन्य-बन्धु हैं यदि हम इसे ब्रह्मोद्य में जीत भी लेंगे तो क्या पा लेंगे ? और यदि वह हमें जीत लेगा तो प्रवाद फैल जाएगा कि राजन्य-बंधु ने ब्राह्मणों को जीत लिया। अतः क्षत्रियों का प्रमुख क्षेत्र युद्ध तथा प्रशासन ही था किन्तु अश्वमेध के अवसर पर ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वीणावादकों की स्थिति सिद्ध करती है कि ब्रह्म तथा क्षत्र रूपी गुणों से विरहित होने पर ब्राह्मण तथा राजन्य समाज में अन्य अनुकूल धंधे भी अपना सकते थे।[6]

वैश्य

वैश्य वर्ण शतपथ में 'विश' शब्द द्वारा ही अधिकांशतः अभिव्यक्त हुआ है। 'विश' ब्रह्म एवं क्षत्र पर आश्रित था अतः वर्णक्रम में इसकी दोनों से हीनतर स्थिति स्पष्ट थी। फिर भी तीन सजातीय सवर्णों में वैश्यों का स्थान था। वैश्य को 'आगहि' सम्बोधन द्वारा पुकारा जाता था।[7] क्षत्रिय के साथ वैश्य का सम्बन्ध अत्ता तथा अन्न का था जैसाकि पहले स्पष्ट किया जा चुका है।

---

1. मजूमदार, 'कार्पोरेट लाइफ इन एन्शेंट इण्डिया', पृ० 338
2. श० ब्रा०, 13, 1, 5, 2
3. वही, 13, 1, 5, 5
4. वही, 11, 6, 2, 1; 10, 6, 1, 2
5. वही, 8, 1, 4, 10
6. वही, 13, 4, 3, 5
7. वही, 1, 1, 4, 12

कृषक एवं व्यापारी वर्ग ही मुख्यतः 'विश' वर्ग में आते थे। कृषक का चिह्न 'अंकुश' उसके श्रम का प्रतीक था।[1] बैडेन पावेल महोदय का यह मत कि 'वैदिक समाज में कृषिकार्य आदिवासी श्रमजीवी द्वारा होता था' निराधार प्रतीत होता है।[2] वैश्य को 'अर्य' भी कहा जाता था।[3] तैत्तिरीय संहिता (2, 5, 4, 4) के अनुसार वैश्यों का आदर्श ग्रामणी होना था। राजा के अभिषेक के अवसर पर ग्रामणी की उपस्थिति अनिवार्य थी अतः वैश्य का राज्य-प्रशासन में भाग लेना प्रमाणित है। शतपथ में एक स्थान पर 'वैशी-पुत्र' पद प्रयुक्त हुआ है।[4] एगलिंग ने इसका अनुवाद वैश्य-पुत्र किया है जो अशुद्ध प्रतीत होता है। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रीलिंग में सम्बन्धों का द्योतन बुद्धिगम्य तथ्य नहीं है। पण निश्चय ही क्रय-विक्रय का माध्यम बन चुका था।[5] लेन-देन का व्यवहार (पण्य) वैश्य लोग करते थे। वैश्य वर्ण समाज का विस्तृत, समृद्ध तथा आधारभूत अंग उस समय तक बन चुका था। इस स्थिति के कारण ही ब्राह्मणों का वर्चस्व एवं क्षत्रियों की ऊर्जा स्थित थी।

शूद्र

सेवा-वृत्ति ही शूद्र-वर्ण की जीविका का साधन थी। फिर भी व्यक्तिगत गुणों के कारण कतिपय शूद्र अत्यन्त धनाढ्य बनकर यशोपार्जन करते थे।

शतपथ में वर्णित है कि 'भूः भुवः' तथा 'स्वः' (पृथिवी, अंतरिक्ष तथा द्युलोक) से ब्रह्म, क्षत्र एवं विश की उत्पत्ति हुई तथा इतना ही सब जगत् है।[6] प्रस्तुत कथन एक अत्यन्त सारगर्भित जिज्ञासा को उत्पन्न करता है! जब इतना ही सब जगत् है तो शूद्र वर्ण की स्थिति किसमें है? ब्रह्म, क्षत्र तथा विश में ही सम्पूर्ण जगत् की अन्तर्भुक्ति शूद्रों को भी त्रयी का ही अंग सिद्ध करती है। यहाँ विश पूरे शासित समाज का पर्याय प्रतीत होता है। इस विचार की पुष्टि शतपथ का वह स्थल[7] करता है जहाँ एक रोचक प्रतीक द्वारा वैश्य तथा

---

1. श० ब्रा०, 5, 3, 5, 3; 11, 6, 2, 1
2. 'इण्डियन विलेज कम्युनिटी', पृ० 180
3. श० ब्रा०, 13, 2, 9, 8
4. वही
5. वही, 3, 3, 3, 1। वैश्यों की जीविका के सम्बन्ध में द्रष्टव्य प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का पञ्चम अध्याय
6. वही, 2, 1, 4, 12
7. वही, 6, 4, 4, 13

शूद्र को सम्मिलित इकाई के रूप में प्रस्तुत किया गया है। आहवनीयअग्नि के पास तीनों वर्णों के प्रतिनिधियों की उपस्थिति के समय बकरे, घोड़े तथा गर्दभ को क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य-शूद्र का प्रतीक माना है। शूद्र एवं वैश्य की अन्तर्भुक्ति 'विश' में ही प्रदर्शित करने के अतिरिक्त इन दोनों वर्णों की समाज का भार वहन करने की स्थिति का भी संकेत यहाँ उपलब्ध है।

यज्ञ की अग्नि शूद्र के लिए अस्पृश्य थी।[1] दीक्षित व्यक्ति को शूद्र से न बोलने के आदेश दिए गए हैं।[2] प्रावर्ग्य संस्कार में स्त्री तथा शूद्र से सम्पर्क तोड़ना आवश्यक था क्योंकि वे अनृत हैं।[3] इन उल्लेखों के अतिरिक्त शूद्रों के क्रमिक स्तर दृष्टिगत होते हैं जिनमें से कुछ यज्ञ के समय अवश्य उपस्थित रहते थे। उनके लिए यज्ञ में स्थान-विशेष नियत रहता था। शतपथ में उल्लेख है कि यदि देवता को किसी शूद्र से बातचीत करने की आवश्यकता पड़े तो वे शेष तीनों के माध्यम से बात करें। यह कथन कि 'शूद्र ऐसी गाय का दोहन न करें जिसका दूध अग्निहोत्र में प्रयुक्त होगा'[5] स्पष्ट ही इंगित करता है कि अग्निहोत्र से इतर संस्कारों में शूद्र द्वारा दुहे गए दूध का प्रयोग होता था। चौदहवें काण्ड में स्त्री, शूद्र, श्वा तथा कृष्ण शकुनि (कौआ) को अनृत कहा गया है। रजस्वला धर्म से सम्बद्ध होने के कारण जिस प्रकार स्त्री अपवित्र समझी गई है तथैव शूद्र भी आचरण-सम्बन्धी अस्वच्छता के कारण अशुद्ध समझे जाते थे। 'अनृत' कहलाते हुए भी यज्ञ में इन्हें स्थान देना सापेक्ष दृष्टिकोण का सूचक है।

यज्ञ में 'नापित' की स्थिति अनिवार्य थी।[6] सोम-यज्ञ के निरूपण के समय नापित को क्षुर प्रदान करने का आदेश दिया गया है ताकि वह मुण्डन प्रारंभ करे। कुम्भकार के चक्र का भी शतपथ में उल्लेख है।[7] बढ़ई भी तत्कालीन समाज में महत्त्वपूर्ण समाज-सेवक था जो घरेलू उपयोग की वस्तुओं के अतिरिक्त अनस् नामक यज्ञशकट तथा शस्त्रादि बनाता था। उसे तक्षा कहा गया है।[8]

---

1. श० ब्रा०, 6, 4, 4, 9
2. वही, 3, 1, 1, 10
3. वही, 14, 1, 1, 31
4. वही, 3, 1, 1, 10
5. मै० सं०, 4, 1, 3
6. श० ब्रा० 3, 1, 2, 9
7. वही, 11, 8, 1, 1
8. वही, 3, 6, 4, 4

रथकार सम्भवतः तक्षा से भिन्न था जिसे याज्ञवल्क्यस्मृति में माहिष्य एवं करणी की संतान बताया गया है।[1] कात्यायन श्रौतसूत्र में भी रथकार के घर में वास लेने की चर्चा है।[2] ऐसा प्रतीत होता हैं कि तक्षों तथा रथकारों द्वारा निर्मित वस्तुओं का यज्ञ में बहुशः प्रयोग होने के कारण इन्हें शूद्रों में ऊँचा स्थान दिया गया था। साथ ही शूद्र होने के कारण इनके द्वारा निर्मित पात्रों को पवित्रा से प्रोक्षण-कर्म द्वारा शुद्ध भी किया जाता था।[3] समाज में सेवा-वृत्ति यद्यपि शूद्रों की जीविका का साधन थी फिर भी व्यक्तिगत गुणों के कारण अनेक शूद्र अत्यन्त धनाढ्य बनकर यशोपार्जन करते थे।[4]

प्रस्तुत अध्याय में विवेचित विषय-सामग्री के अनुशीलन से स्पष्ट है कि शतपथ में उपलब्ध समाज-चित्रण से तत्कालीन समाज में जनसामान्य की स्थिति, आचार-विचार, खान-पान, रहन-सहन, रीति-रिवाज एवं वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी अनेक नवीन तथा रोचक तथ्यों का परिचय प्राप्त होता है। राज्य-संस्था के गठन, उद्देश्य, क्रिया-कलाप तथा उसके अधिकारों के अध्ययन से प्रत्यक्ष है कि उस समय राज्य-संस्था का पूर्वापेक्षा विकसित स्वरूप उभर कर आया, अतः समाज-व्यवस्था तथा राज्य-संस्था के स्वरूप के अध्ययन की दृष्टि से शतपथ ब्राह्मण का अपना विशिष्ट महत्त्व असंदिग्ध है।

1. याज्ञवल्क्यस्मृति, 4, 95
2. का० श्रौ० सू०, 20, 55
3. श० ब्रा०, 1, 1, 3, 12
4. वही, 5, 3, 2, 2 में द्रष्टव्य सायण की टीका

पञ्चम अध्याय

आर्थिक-जीवन

शतपथ ब्राह्मण में आवास तथा जीविका के साधन स्वरूप पुर, ग्राम, कृषि खनिजों, विभिन्न उद्योग-धन्धों एवं व्यवसायों आदि का बहु-आयामी विवरण मिलता है जिसके द्वारा तत्कालीन आर्यों की आर्थिक स्थिति से सम्बन्धित विविध पक्षों का परिचय प्राप्त होता है।

पुर तथा ग्राम

शतपथ के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यायावर कबीलों के रूप में घूमने वाले आर्यों[1] ने अब सुसम्बद्ध राज्य-प्रशासन से युक्त संगठित समाज बनाकर पुरों तथा गाँवों में रहना प्रारंभ कर दिया था। ऋग्वेद के प्रारम्भिक काल में पुरों का सर्वथा अभाव द्रष्टव्य है। हरिश्चन्द्र जैसे महान् राजाओं की राजधानी को भी एक महत्तर ग्राम की संज्ञा ही दी जा सकती है।[2] शतपथ में परिचक्रा[3] नामक पुर का उल्लेख उस समय पुरों की विद्यमानता को प्रकट करता है। पुर संभवतः सुरंगों आदि से युक्त (श० ब्रा०, 3, 5, 4, 14) सुरक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण वस्तियाँ थीं जहाँ प्रजा स्वयं को सुरक्षिततर अनुभव करती थी। तीनों लोकों की उपमा भी पुर से ही दी गई है।[4] शतपथ (7, 1, 1, 13) में पुर-रक्षक परिखा का उल्लेख पुरों की सुदृढ़ रचना का समर्थक है किन्तु आर्यों के आर्थिक जीवन का मुख्य केन्द्र अब भी ग्राम ही थे। ग्राम आत्मनिर्भर इकाई के रूप में संगठित थे।[5] गाँव के सीमान्त, जिन्हें मर्यादा[6] कहा जाता था, गाँव

1. राजा शर्यात-मानव के घुमक्कड़ ग्राम के रूप में श० ब्रा०, 4, 1, 5, 2 में पूर्ववर्ती आर्यों का अवशिष्ट उदाहरण मिलता है जिसे अपवाद ही कहा जा सकता है।
2. डा० पी० एल० भार्गव, 'इण्डिया इन द वैदिक एज' (प्रथम संस्करण), पृ० 158
3. श० ब्रा०, 13, 5, 4, 7
4. 'इमे वै लोका पुरः' (वही, 10, 2, 5, 1)। परवर्ती साहित्य में शंकर को त्रिपुर-स्वामी कहे जाने का स्रोत संभवतः यही स्थल है।
5. वेडेन पावेल, 'इण्डियन विलेज कम्युनिटी', पृ० 9
6. श० ब्रा०, 2, 4, 1, 6

से मिले रहते थे ताकि लोग एक गाँव में चोर-लुटेरों के भय से मुक्त सञ्चरण कर सकें। कुछ गाँव दूर-दूर भी बसे हुए थे जो सड़कों द्वारा सम्बद्ध रहते थे।[1] ग्रामों से बाहर, आबादी से दूर अकर्षित भूमि अरण्य कहलाती थी जहाँ चोर आदि छिपे रहते थे तथा मृतकों का दाहसंस्कार किया जाता था।[2] गाँव तथा अरण्य के भेद को पशुओं तथा पौधों के माध्यम से स्पष्ट किया गया है।[3] एक गाँव से दूसरे में जाने के लिए सुविधा हेतु दूरी-सूचक चिह्न लगे रहते थे जिन्हें संभवतः शम्या कहा जाता था।[4] गाँवों में चौराहे बनाती हुई बस्तियाँ बसाई जाती थीं[5] जिनके चौराहों पर हवि रखने का विधान था।

कृषि

शतपथकालीन आर्यों की जीविका का प्रमुख साधन कृषि तथा पशुपालन था। विजेता आर्यों को विस्तृत उर्वर भूमि उपलब्ध हो जाने के कारण उनके आर्थिक विकास का तीव्रतर होना स्वाभाविक था अतः कृषि का समुन्नततर स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। जो कृषक अनस् (गाड़ी) भर कर धान खलिहान से ले जाता था वह समृद्ध तथा सम्पत्तिवान माना जाता था अतः अनस् को प्रचुरता का प्रतीक माना गया—

भूमा हि वा अनस्तस्माद्, यदा बहु भवति अनोवाह्यमभूदित्याहुः[6]

यहाँ यज्ञ को अनस्[7] ही कहा गया है क्योंकि यज्ञ की स्थिति भी अनस् (गाड़ी भर धान) पर ही निर्भर थी। तत्कालीन संस्कृति के मुख्य विधायक उक्त अनस् तथा यज्ञ होने के कारण शतपथकालीन संस्कृति को अनस्-संस्कृति कहना अनुचित न होगा।

कृषित भूमि को शतपथ (1, 4, 1, 15) में क्षेत्र अथवा उर्वरा कहा गया है। पुरोहितों को यज्ञ की दक्षिणा के रूप में दिए गए भूमिदान के उल्लेख[8] से

1. श० ब्रा, 13, 2, 4, 2
2. वही, 13, 6, 2, 20; 5, 2, 3, 5; 13, 2, 4, 4
3. वही, 3, 8, 4, 16
4. वही, 12, 5, 2, 7; 1, 1, 1, 22; 3, 3, 4, 2
5. वही, 2, 6, 2, 7
6. वही, 1, 1, 2, 6
7. 'यज्ञो वा अनः' (वही)
8. वही, 7, 1, 13, 5

सिद्ध होता है कि खेत सामूहिक न होकर व्यक्तिगत होते थे।[1] गार्हपत्य अग्नि के प्रसंग में[2] यह संकेतित है कि क्षत्रिय लोग राजा द्वारा प्रदत्त भूमि का विभाजन पारस्परिक समझौते से कर लेते थे। इस प्रकार भूमि पर वैयक्तिक स्वामित्व अवश्य स्थापित था किन्तु गोचर भूमि पर नहीं।[3]

ऋग्वेद (1, 127, 6) में उल्लिखित अप्नस्वती (उपजाऊ) तथा आर्तना (पड़त) भूमि को शतपथ में क्रमशः कृष्ट तथा अकृष्ट कहा गया है।[4] कृषि योग्य भूमि को हल से जोत कर वपनीय बनाया जाता था। कृष्ट भूमि में उत्पन्न गुणों के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए अकृष्ट भूमि में बीज डालकर खेती करने वाले की निंदा की गई है।[5] खेती में खाद का प्रयोग भी किया जाता था[6] अतः प्रतीत होता है कि कृषि वैज्ञानिक पद्धति से होने लगी थी। हल को सीर, शुनासीर तथा लांगलम् कहा गया है।[7] लांगलम् फाल से संयुक्त होता था।[8] शतपथकालीन हलों की बृहत्कायिता आश्चर्यजनक है जिनमें छः, बारह तथा चौबीस की संख्या तक बैल जोते जाते थे।[9] इतनी संख्या में बैलों को संयुक्त करने के लिए उतनी ही सुदृढ़ रस्सियों की अपेक्षा थी। मूंज की त्रिवृत (तिहरी) रस्सियों द्वारा हल से बैलों को संयुक्त किए जाने का उल्लेख शतपथ (7, 2, 2, 3) में मिलता है। हल में दाहिने बैल को पहले जोड़ा जाता था, जो पुष्टतर होता था। पुनः बाएँ को। शतपथ (5, 2, 4, 13) में 'अनड्डुही' गायों को भी हल में जोते जाने का उल्लेख मिलता है। संभवतः हृष्ट-पुष्ट वंध्या गायों को ही इस कार्य के उपयुक्त समझा जाता था।

कृषि की चार मुख्य प्रक्रियाओं—कृषन्तः, वपन्तः, लुनन्तः तथा मृणन्तः का

---

1. श० ब्रा०, 1, 4, 1, 15
2. वही, 7, 1, 1, 4
3. एन० सी० बंद्योपाध्याय, 'इकोनोमिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन एन्शेंट इण्डिया', पृ० 114
4. श० ब्रा०, 7, 2, 4, 17
5. 'बीजाय वा एषा योनिः क्रियते, यत् सीता। यथा ह वा अयोनौ रेतः सिंचेद् एवं तद्, यदकृष्टे वपति' (वही, 7, 2, 2, 5)
6. श० ब्रा०, 2, 1, 1, 7
7. वही, 7, 2, 2, 6; 2, 6, 3, 2
8. 'लांगलं रयिमत्' (वही, 7, 2, 2, 11)
9. 'षड्गवं भवति, द्वादशगवं वा, चतुर्विंशतिगवं वा' (वही 7, 2, 2, 6)। तै० सं० (1, 7, 1, 2) के अनुसार भी बारह बैलों वाला हल दक्षिणा में दिया जाता था।

एकत्र उल्लेख वैदिक साहित्य में शतपथ में ही मिलता है।[1] हल द्वारा धरती को उर्वर बनाने के उपरान्त वपन-क्रिया की जाती थी।[2] अन्न पक जाने पर सृणि (हँसिया) से लुनाई होती थी जिसे राजस्थान में 'लावणी' कहते हैं।[3] अन्त में 'अपस्खल' नामक स्थान पर धान की मंडाई (तुषविमोचन-क्रिया) की जाती थी।[4] अपस्खल को आज भी राजस्थानी भाषा में 'खळा' कहा जाता है।

सिंचाई के लिए यद्यपि कूपों का उल्लेख मिलता है[5] किन्तु सामान्यतः कृषि वर्षा के जल से ही सम्पन्न होती थी। संभवतः 'मस्त्रा' आधुनिक 'चड़स' का रूप था जिसे कूप से सिंचाई का जल निकालने के लिए प्रयुक्त करते थे।[6] शतपथ में घुमड़कर आए मेघों तथा महामेघों का वर्णन यह प्रदर्शित करता है कि उस युग में वर्षा की बहुतायत थी। शीतकालीन वर्षा (मावट) के भी प्रचुरता से होने के प्रमाण प्राप्त हैं क्योंकि 'जौ' की उत्पत्ति केवल वर्षा के जल द्वारा बताई गई है।[7]

अन्न की विभिन्न उपज

शतपथ में अन्न को अन्न, धान्य तथा यव आदि नामों द्वारा व्यवहृत किया गया है। ऋग्वेद में अन्न के लिए सामान्यतया प्रयुक्त जातिवाचक शब्द 'यव' परवर्तीकाल में केवल 'जौ' का पर्याय बनकर रह गया। शतपथ में 'यव' का प्रयोग दोनों रूपों में देखा जा सकता है।[8] संभवतः अत्र अन्न का सामान्य नाम धान्य हो गया था इसीलिए अश्व को 'धान्याद' कहा गया है (श० ब्रा०, 13, 5, 4, 2)।

उपर्युक्त 'यव' शब्द का पहले सामान्य अन्न के लिए प्रयोग तथा पुनः 'जौ' के अर्थ में रूढ़ हो जाना अन्न जाति में 'जौ' के अपरिमित महत्त्व का प्रतिपादन करता है जिसकी पुष्टि शतपथ में एक लघु उपाख्यान[9] द्वारा की गई

---

1. श० ब्रा०, 1, 6, 1, 3; 7, 2, 2, 7
2. वही, 7, 2, 2, 4
3. 'यदा वाऽअन्नं पच्यते अथ तत् सृण्योपचरन्ति' (वही, 7, 2, 2, 5)
4. वही, 1, 7, 3, 26
5. वही, 3, 5, 4, 1; 4, 4, 5, 3
6. वही, 1, 1, 2, 6
7. वही, 1, 1, 4, 20
8. वही, 1, 1, 4, 2; 2, 5, 2, 1; 3, 6, 1, 9; 10, 4, 2, 4; 12, 7, 2, 9
9. वही, 3, 6, 1, 7

है। देवों के पास से सभी अन्न चले गए, केवल जौ रह गया। जौ से ही वे जीवित रहे. . .उन्होंने सारी औषधियों का रस 'जौ' में रख दिया। यही कारण था कि अन्नमात्र की सामान्य संज्ञा यव में स्थानांतरित हो गई। यव के महत्त्व को आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी पहचाना है। अधिक शक्तिवर्धकता, औषध-परकता एवं सरलता से उत्पन्न होने के कारण यव को महत्त्व दिया जाना स्वाभाविक था।

यव के पश्चात् चावल महत्त्वपूर्ण अन्न था जिसे व्रीहि कहते थे। व्रीहि तथा यव का द्वन्द्व समास के रूप में अनेकशः प्रयोग[1] दोनों अन्नों के समान महत्त्व को प्रदर्शित करता है। व्रीहि को तंडुल, हायन, प्लाशुक आदि नामों से भी पुकारा जाता था।[2] हायन एक ऐसा लाल रंग का चावल था जो वर्ष भर में पककर तैयार होता था।[3] प्लाशुक शीघ्रतापूर्वक अंकुरित होने वाले चावल की एक किस्म थी[4] जिसे सायण ने पैंतालीस दिन में पकने वाला कहा है।[5] इसके पौधे को उखाड़ कर अन्यत्र लगाए जाने की प्रक्रिया में इसके प्लाशुक कहे जाने का कारण भी मिलता है।[6] चावलों को कूटकर तुष से अलग किया जाता था (श० ब्रा०, 1, 1, 4, 22)। इस अन्न का यज्ञ-विधि में प्रचुरता से प्रयोग किया जाता था।

गेहूँ को भी अन्नों में श्रेष्ठ माना गया है अतः एक स्थान पर उल्लेख है कि गेहूँ ही अन्न है।[7] इसे चावल तथा जौ से स्पष्ट रूप में भिन्न बताया गया है[8] जहाँ गोधूम से तैयार किए गए सत्तू का उल्लेख है।

तिल भी तत्कालीन कृषि-अन्नों में विशेष महत्त्व रखता है। यज्ञादि में आहुति देने के अतिरिक्त तिल से तेल भी निकाला जाता था।[9] तिल के दाने तथा पौधे दोनों को ही तिल कहा जाता था। शतपथ में उल्लेख है कि तिल ही

---

1. श० ब्रा०, 5, 5, 5, 9
2. वही, 1, 1, 4, 3; 2, 5, 3, 4
3. 'संवत्सर पक्वा व्रीहयः' (पाणिनि 3, 1, 148)। 'संवत्सर पक्वानां रक्तशालीनां हायनाः' (सायण—शतपथ, 5, 3, 3, 6)
4. तै० सं०, 1, 8, 10 में प्लाशु के स्थान पर आशु शब्द का प्रयोग मिलता है।
5. 'ततोऽप्यधिककाले पक्षत्रये पच्यमानाः षष्टिका व्रीहयः आशवः' (श० ब्रा०, 5, 3, 3, 2 की सायण टीका)
6. "प्लाशुकाः पुनः प्ररूढा व्रीहयः' इति कर्कोक्तिः।
7. 'अन्नं वै गोधूमाः' (श० ब्रा०, 5, 2, 1, 13)
8. श० ब्रा०, 12, 7, 1, 2
9. वही, 9, 1, 1, 3

ऐसा पौधा है जिसमें कृषि-गुण तथा जंगल में स्वतः उगने के रूप में दोनों गुण विद्यमान हैं। अतः तिलों के ग्राम्य एवं आरण्य दो भेद किए गए हैं।[1] जंगली तिलों को जर्तिल तथा सराल भी कहा जाता था।

शतपथ (1, 7, 2, 46) में माष (उड़द) को भी कृषि-अन्न कहा गया है जो 'यन्य' भी कहा जाता था। इसके बीज हेमन्त ऋतु में पकते थे।[2] परवर्ती-काल में पाँच कृष्णल के बराबर बटखरे के रूप में भी माषों का प्रयोग होने लगा था।[3] इनके अतिरिक्त श्यामाक नामक कृषित प्रियंगु[4] की भी खेती होती थी। इस अन्न के हल्केपन का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि यह हवा में उड़ जाता था। इसे कबूतरों को खिलाने के काम में भी लिया जाता था।[5] उपवाक भी इन्द्रयव नामक एक अन्न-विशेष था जिसका सत्तू बनाया जाता था।[6] स्वयं उत्पन्न होने वाले नाम्ब नामक अन्न को तैत्तिरीय तथा काठक संहिता में 'आम्ब' कहा गया है जिसे सायण ने 'अकृष्ट पच्या अन्न' संज्ञा दी है।[7]

गवेधुक एवं नीवार नामक अन्न का भी उल्लेख शतपथ (5, 1, 4, 14; 9, 1, 1, 8) में मिलता है जिसे अमरकोश (215, 25) तृण-धान्य कहता है। नीवार एक प्रकार का जंगली चावल था तथा गवेधुक के सत्तू की यज्ञ में हवि डाली जाती थी। गवेधुक अन्न कोंकण में 'कसाड' या 'कसा' नाम से प्रसिद्ध है (अमरकोश)। इसी प्रकार का एक अन्न 'शराव' था जिसका मात्र नामोल्लेख उपलब्ध है।[8] ईख की खेती का शतपथ में संकेत अवश्य प्राप्त है[9] किन्तु प्रमाणाभाव में निश्चित कहना कठिन है कि ईख की खेती होती थी या नहीं।

शुम्बल शब्द संभवतः सेमल के लिए ही प्रयुक्त हुआ है (श० ब्रा०, 12, 5, 2, 3) जिसकी रूई का प्रयोग किया जाता होगा। इसे सरलता से आग पकड़ने वाला कहा गया है। अन्न की भूसी पशुओं के चारे तथा नियमित इंधन के काम में ली जाती थी।[10]

---

1. श० ब्रा०, 9, 1, 1, 3
2. वही, 1, 1, 1, 10
3. मनुस्मृति, 8, 134
4. श० ब्रा०, 10, 6, 3, 2
5. अथर्ववेद, 19, 50, 4
6. श० ब्रा०, 12, 7, 1, 3; 12, 9, 1, 5
7. वही, 5, 3, 3, 8 की सायण टीका
8. वही, 5, 1, 4, 12
9. वही, 3, 4, 1, 18
10. वही, 7, 2, 1, 7

पशु-पालन

आर्थिक जीवन में कृषि तथा पशु परस्पर सापेक्ष साधन हैं अतः कृषि-प्रधान युग में पशुपालन एक अनिवार्यता है। शतपथ के अनुसार उस समय घर-घर में पशु पाले जाते थे जिनके चरने के लिए विस्तृत चरागाह छोड़े जाते थे जिन्हें गव्यूति कहा जाता था।[1] शतपथ में एक स्थान पर खार वाली धरती को उषा कहा गया है।[2] 'उषा' शब्द से ही संभवतः 'ऊसर' शब्द बना जो अनुपजाऊ धरती के अर्थ को अभिप्रेत करता है। इस प्रकार की लवण-युक्त धरती को भी पशुओं के चरने के लिए छोड़ा जाता था ताकि पशुओं को उपयुक्त लवण मिल सके। पशुओं के पालन के सम्बन्ध में शतपथ में विस्तृत सामग्री उपलब्ध है अतः प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में 'पशु-पक्षी एवं वनस्पति जगत्' नाम से अलग अध्याय की रचना की गई है जो इस प्रबन्ध के अष्टम अध्याय के रूप में प्रस्तुत है।

यद्यपि ऋग्वेद (10, 34, 13) में भी कृषिकर्म को महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया गया था किन्तु शतपथ में प्राप्त कृषि एवं पशुपालन-सम्बन्धी विवरण एक व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक कृषि-परम्परा के प्रचलन का समर्थन करता है। यह तथ्य तत्कालीन कृषि-संस्कृति के प्रकर्ष का द्योतक है।

अकाल की विभीषिका से कृषि उस समय भी वंचित नहीं थी। शतपथ में उल्लेख है कि कृषि के सुषम होने पर ही यज्ञादि संभव थे अन्यथा पेट भरना भी कठिन हो जाता था—

> यदा वै सुषमं भवति अथालं यज्ञाय भवति यदो दुःषमं भवति न तर्हि आत्मने च नालं भवति[3]

कृषि की परम उपयोगिता तथा उस पर संकट की संभावनाओं के कारण क्षेत्रपति नामक अलग देवता[4] की कल्पना की गई। वैसे तो क्षेत्रपति का उल्लेख ऋग्वेद (4, 97) में भी मिलता है जिनसे सम्बद्ध कृषि-सम्बन्धी पृथक् सूक्त भी मिलते हैं किन्तु शतपथ की विशेषता यह है कि कृषि-देवता क्षेत्रपति को मित्र-वरुण तथा आदित्य जैसे महान् देवों के साथ हवि देने का विधान प्रस्तुत किया

1. श० ब्रा०, 6, 3, 2, 8
2. वही, 7, 1, 1, 6
3. वही, 3, 2, 1, 30
4. वही, 5, 5, 2, 7

गया जो क्रमशः कृषि के महत्त्व का परिचायक है ।[1]

जलीय स्रोत, जलागार एवं जल-प्रवाह

किसी भी देश के जलीय स्रोत, जलागार एवं जल-प्रवाह, उस देश के निवासियों के आर्थिक जीवन को गति देने में सहायक सिद्ध होते हैं । शतपथ में साधनरूप में इनके योगदान के विवरण का अभाव होते हुए भी साध्यरूप में विविध वर्णन उपलब्ध हैं । जैसाकि पहले वर्णन किया गया है, उस समय घनघोर वर्षा होती थी जिसके फलस्वरूप गड्ढे बन जाते थे ।[2] ये वर्षा-जल से बने पोखर 'वेशन्तः' कहे जाते थे ।[3] वर्षा के गन्दे पानी की 'वार' संज्ञा थी ।[4] संभवतः जल के पर्याय 'वारि' का भाषावैज्ञानिक स्रोत यही संज्ञा हो । शतपथ (8, 7, 3, 21) में 'सूद' नामक जलागार का भी उल्लेख है जिसका अर्थ सेंट पीटर्सबर्ग कोश में 'कूप' मिलता है । जल के सरोवर सरस् कहे जाते थे (श० ब्रा०, 13, 5, 4, 9)। झील अथवा तालाब के लिए सामान्य शब्द 'ह्रद' था । कुरुक्षेत्र की अन्यतःप्लक्षा नामक विसवती झील में—जिसके एक ओर लहरदार पत्तियों वाले अंजीर के वृक्ष थे—हंसों के बीच उर्वशी पुरूरवा को दिखाई दी थी ।[5]

कूप, सरोवर तथा झीलों के अतिरिक्त प्रवहमान नदियों का भी मनोहर वर्णन मिलता है। भारत की (प्रतीची) दिशा में सात नदियों का प्रवाहित होना बताया गया है ।[6] नदियाँ पर्वतों से निकलती थीं । हिमालय पर्वत उत्तरगिरि कहलाता था ।[7] त्रिककुद् पर्वत (श० ब्रा०, 3, 1, 3, 12) हिमालय पर्वतमाला में आधुनिक त्रिकोट पर्वतशिखर है । इस पर्वत से सुरमा आता था । त्रिककुद् पर्वत के वृत्र

---

1. शतपथकालीन प्रस्तुत 'क्षेत्रपति' का ही परिवर्तित रूप 'खेतरपाल' देवता है जिसकी राजस्थान के कृषक-समाज में मनौती मानी जाती है । गाँव के बाहर इसके मंदिर भी मिलते हैं । उत्पन्न कृषि का प्रथम अंश इस देवता को समर्पित किया जाता है । राजस्थान के ग्राम्य लोक गीतों में भी खेतरपाल देवता की स्तुति की जाती है ।
2. श० ब्रा०, 1, 1, 1, 17
3. वही, 5, 3, 4, 14
4. कहीं-कहीं 'वार' का अर्थ तालाब भी है । संभवतः गन्दे पानी का तालाब (वही, 6, 1, 1, 9)
5. वही, 11, 5, 1, 4
6. वही, 9, 3, 1, 24
7. वही, 1, 8, 1, 5

की आँख की पुतली से उत्पन्न होने की किंवदन्ती प्रचलित थी।[1] परम्परा आज भी सुरमे को वृत्र की आँख से निकला हुआ मानती है।

नदी मात्र का प्रतिनिधित्व करने वाली सरस्वती नदी का महत्त्व आधुनिक गंगा से कथमपि कम नहीं था। इसे नदीतमा (नदियों में श्रेष्ठ) विशेषण दिया गया था।[2] विधि-विशेष के अवसर पर निकटवर्ती किसी सामान्य नदी का जल लाकर उसमें सरस्वती के जल का कुछ अंश मिला कर तैयार जल 'सारस्वतयः अपः' कहलाता था। रौथ महोदय सरस्वती को सिंधु नदी की ही इतर संज्ञा मानते हैं,[3] किन्तु प्रस्तुत प्रबंधलेखिका की सम्मति में यह नदी आधुनिक 'सुरसति' नदी ही है जो भूतपूर्व पटियाला की मरुभूमि में विलीन हो जाती है।[4]

ऋग्वेद नदी-स्तुति (10, 75, 6) में मात्र एक बार उल्लिखित गंगा नदी का शतपथ में यमुना के साथ पुनः स्मरण किया गया है[5] जिसके किनारे भरत दौषन्ति की विजय का वर्णन है। यह स्थल भरत अथवा कुरु शासन के विस्तार की अन्तिम सीमा का भी द्योतन करता है। शतपथ (12, 8, 1, 17) में रेवा (नर्मदा) नदी का भी जिक्र है। संभवतः पाटवचाक्रस्थपतिरेवोत्तरस राजा का इस नदी से कोई सम्बन्ध था। इस राजा को दुष्टरीतु पौंसायन के साथ-साथ सृंजयों ने बहिष्कृत कर दिया था।[5] कारौती नदी[7] पर तुर कावषेय ने एक अग्नि-चैत्य का निर्माण करवाया था।

नदियों के दूसरे तट को 'पार' कहा जाता था। जलप्लावित भूमि को पार करने के लिए सेतुरचना की जाती थी।[8] नदियों के मध्य बने रेतीले क्षेत्र को 'द्वीप' कहते थे।[9] जलों के समुद्र में गिरने का दृश्य शतपथकार को इतना आकर्षक लगा कि वह उस दृश्य का पुनः-पुनः उल्लेख करने के लोभ का

---

1. श० ब्रा०, 3, 1, 3, 12
2. वही, 1, 6, 2, 4
3. द्रष्टव्य, 'वैदिक इंडेक्स', भाग 2, पृ० 481
4. द्रष्टव्य, 'राजस्थान स्वतंत्रता से पहले और बाद' (हिन्द साहित्य लिमिटेड, अजमेर द्वारा 1966 में मुद्रित एवं प्रकाशित) में प्रस्तुत शोधप्रबन्धलेखिका का निबन्ध 'राजस्थान वैदिक युग से स्वर्ण युग तक', पृ० 8
5. श० ब्रा०, 13, 5, 4, 11
6. श० ब्रा०, 12, 9, 3, 1
7. वही, 9, 5, 2, 15
8. वही, 3, 6, 2, 14; 13, 2, 10, 1
9. वही, 12, 2, 1, 3

संवरण नहीं कर सका।[1] इसीलिए समुद्र को 'नदीपति' भी कहा गया है।[2] शतपथ (9, 5, 2, 12) में तीन समुद्रों का उल्लेख है जिनके नाम अज्ञात हैं। कहीं-कहीं प्रतीकात्मक अर्थग्रहण कर आकाश को भी समुद्र कहा गया है।[3]

विभिन्न खनिज

शतपथ (5, 3, 1, 1) में 'मूल्यवान् पदार्थ' अर्थ में 'रत्न' शब्द का प्रयोग मिलता है, किन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण धातु 'हिरण्य' है जिसका विविधतापूर्ण वर्णन किया गया है। हिरण्य शब्द का व्युत्पत्तिजन्य उपाख्यान प्रस्तुत है—

> एतस्यां रम्यायां देवा अरमन्त तस्माद्धिरण्यम्। हिरण्यं ह वै तद्धिरण्यमित्याचक्षते परोक्षम्[4]

हिरण्य अग्नि का बीज है। एक स्थान पर सोना तथा घी दोनों को ही अग्नि-बीज कहा गया है।[5] शतपथ (11, 4, 1, 8) के अनुसार 'स्वर्ण' हिरण्य का एक विशेषण था जो आगे चलकर उसका पर्याय बन गया। हिरण्यानि (बहुवचन) का प्रयोग शतमानों के लिए हुआ है। सोना सिंधु आदि नदियों से प्राप्त होता था (ऋग्वेद, 10, 75, 8) अथवा खानों से निकलता था (अथर्ववेद, 12, 1, 6)। शतपथ (2, 1, 1, 5) में हिरण्य को जल में से धोकर निकाले जाने का उल्लेख मिलता है। हिरण्य को गलाकर[6] 'हिरण्यशकल' बनाए जाते थे।[7] गले तथा वक्ष के आभूषण, कान की बालियाँ तथा चषक (प्याले) बनाने में यह धातु प्रयुक्त होती थी।[8] स्वर्ण को कभी हरित तथा कभी-कभी—जब चाँदी उद्दिष्ट है तो—रजत कहा गया है। इसे धमन द्वारा कच्ची धातु से प्राप्त करने का उल्लेख भी शतपथ में मिलता है।[9] 'चन्द्र' शब्द भी हिरण्य का पर्याय प्रतीत होता है।[10]

---

1. श० ब्रा०, 1, 1, 3, 7
2. वही, 11, 1, 6, 6; 5, 3, 4, 10
3. वही, 7, 1, 1, 13
4. वही, 7, 4, 1, 16
5. वही, 3, 3, 1, 3; 3, 3, 2, 2 आदि। 'समान जन्म वै पयश्च हिरण्यं च उभयं हि अग्निरेतसम्' (3, 2, 4, 8)
6. वही, 6, 1, 3, 5
7. वही, 6, 2, 1, 20
8. वही, 5, 1, 2, 19
9. वही, 2, 1, 1, 5; 5, 1, 2, 19
10. वही, 3, 3, 3, 4

हिरण्य-कूर्च (सोने के गट्ठड़) का उल्लेख प्रमाणित करता है कि सोने की उस काल में कितनी बहुतायत थी। सोने के 'रुक्म' बनते थे जिसे एगलिंग 'स्वर्ण-प्लेट' मानते हैं। संभवतः 'रुक्म' सोने के पत्तरों से बनने वाला आभूषण था।[1]

चाँदी का भी 'रजत' के रूप में उल्लेख मिलता है किन्तु स्वर्ण की अपेक्षा बहुत कम। कुछ विद्वान् 'रुक्म' को चाँदी का ही आभूषण मानते हैं।[2]

धातु के रूप में लोहा भी प्राप्त होता था। शतपथ में एक जगह सोने के 'शास' औजार के साथ 'लोहमय आयस' नामक शस्त्र का उल्लेख मिलता है।[3] यहाँ स्पष्टतः 'आयस' शस्त्र का अर्थ दे रहा है किन्तु अन्यत्र जहाँ लौहायस तथा अयस् में भेद स्थापित किया गया है वहाँ दोनों पृथक धातुएँ हैं।[4] यहाँ लौहायस का विग्रहजन्य अर्थ लोहित (लाल) अयस् है तथा अयस् अन्य धातु। एगलिंग इन्हें क्रमशः लोहा तथा ताँबा मानते हैं किन्तु राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार लौहायस तांबा तथा अयस् कांस्य धातु थी।[5] तैत्तिरीय ब्राह्मण (3, 62, 6, 4) में लौहायस के साथ कृष्णायस का भेद बताया गया हैं। शतपथ में उल्लेख है कि यदि अयस् को अच्छी तरह तपाया जाय तो यह स्वर्ण जैसा बन जाता है।[6] यहाँ अयस् का अर्थ स्पष्टतः कांस्य ही है। वृहदारण्यक उपनिषद् (6, 3, 1) में कांस्य धातु के बर्तन बनने का प्रमाण भी मिलता है।

सीसा भी तत्कालीन बहुप्रचलित धातु थी जिसका प्रयोग विनिमय के लिए होने का उल्लेख शतपथ में मिलता है।[7]

शर्करा पाषाण के सूक्ष्म कणों की द्योतक थी जिसका प्रयोग बहुप्रचलित था।[8] इसे अश्म तथा अयस् के साथ पीस कर किसी काम में लाया जाता था।

माप-तौल

विनिमय-व्यवहार के साधनरूप में तुला का प्रयोग किया जाता था क्योंकि

1. श० ब्रा०, 12, 8, 3, 11
2. राधाकुमुद मुकर्जी, 'हिन्दू सभ्यता', पृ० 99
3. श० ब्रा०, 13, 2, 2, 16
4. वही, 5, 4, 1, 2
5. राधामुकुद मुकर्जी, वही, पृ० 99
6. श० ब्रा०, 6, 1, 3, 5
7. वही, 12, 7, 2, 7; 5, 1, 2, 14
8. वही, 2, 1, 1, 8; 6, 1, 1, 13

परलोक तथा इस लोक के भले-बुरे कर्मों को तोलने के संदर्भ में तुला का उल्लेख किया गया है।[1] बहुमूल्य रत्न एवं हिरण्य आदि तोलने के लिए 'मान' का प्रयोग होता था जिसे रत्ती या गुंजा के बराबर भार वाला समझा जाता है।[2] 'शतमान' तोलने का माप भी था जिसे 100 कृष्णल या रत्ती के बराबर कहते हैं।[3] ये शतमान इसी भार में ही सोने के भी बनते थे जो दक्षिणा आदि देने तथा सिक्कों के रूप में व्यवहृत होते थे जैसाकि तीन या चार सुवर्ण-शतमान दक्षिणा के रूप में देने का आदेश है।[4] सायण के विचारानुसार शतमानों को राजा अभिषेक के समय गहने के रूप में भी पहनता था।[5] शतपथ (5, 4, 3, 24) में एक स्थान पर 'शतमान परिमितौ द्वौ रुक्मौ' का उल्लेख हुआ है। यहाँ शतमान एक तोल का माप है तथा 'रुक्म' आभूषण।

परिमाण का लाक्षणिक बोध भी तत्कालीन मानव को था। जिस प्रकार परिमाण बाहुल्य के लिए पर्वत तथा न्यूनत्व के लिए राई का उदाहरण दिया जाता है तथैव शतपथ (11, 2, 3, 8) में भी बहुत्व के लिए गिरि तथा न्यूनत्व के लिए श्वभ्रा (गर्त) का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। लघु विनिमयों में आनुमानिक माप यथा प्रसृत (अंजलि) का भी प्रयोग किया जाता था।

यज्ञ की वेदी के निर्माण हेतु निश्चित मापों का आदेश होता था अतः इनके सम्बन्ध में संज्ञाएँ अधिकता से मिलती हैं। लघुतम नाप के लिए 'अंगुली' का प्रयोग होता था जिसका आज भी ग्रामीण लोग वर्षा की गहराई आदि नापने में व्यवहार करते हैं।[6] स्थानगत दूरी को नापने के लिए 'पाद' या 'प्रक्रम' का उल्लेख है जो आधुनिक 'पैंड' का समानार्थी है।[7] इसके अतिरिक्त चौबीस अंगुल के पैमाने का भी उल्लेख मिलता है।[8] कोहनी से हाथ की

1. श० ब्रा०, 11, 2, 7, 33
2. वही, 5, 4, 3, 24
3. वही, 5, 5, 5, 16
4. वही, 13, 4, 1, 6; 5, 5, 5, 16
5. 'शतमान' के बहुविध प्रयोग असंभव नहीं हैं क्योंकि पुराने चाँदी के रुपये के भी इतने ही प्रयोग देखने में आए हैं। एक तोले के बटखरे के रूप में, सिक्के के रूप में तथा 'कठुला' नामक गहने के रूप में जिसे आज भी ग्रामीण लोग पहनते हैं।
6. श० ब्रा०, 10, 2, 1, 2
7. वही, 7, 2, 1, 7; 10, 2, 3, 1। सामान्य रूप से उठा कर रखे गए दो कदम को 'पैंड' माना जाता है जो लगभग 5 फुट का होता है।
8. वही, 10, 2, 1, 3

अंगुली के छोर तक की दूरी भी नाप का एक 'पैमाना' थी ।[1] इन अंगिक नापों को व्यवहार्य भी बना लिया गया था जैसे 24 अंगुल का नाप 'अरत्नि' कहा जाता था ।[2] अरत्नि का अर्थ कोहनी है । कोहनी से लेकर हाथ के छोर तक की दूरी 24 अंगुल ही होती है ।[3] 'प्रादेश' नामक माप वितस्ति का समानार्थी था ।[4] बारह अंगुल की एक वितस्ति या प्रादेश होता है । अंगूठे तथा कनिष्ठिका के मध्य की दूरी को भी वितस्ति कहा गया है । इसी प्रकार एक 'इषु' पाँच प्रादेश या वितस्ति के बराबर होता था ।[5]

'व्याम' फैले हुए हाथों की दूरी का द्योतक है जिसके लिए कहा गया है कि पुरुष की इतनी ही लम्बाई होती है (शतपथ 1, 2, 5, 14; 10, 2, 3, 1)। राजस्थान के ग्रामीण इलाकों में 'व्याम' नामक माप को 'पुरुष' ही कहा जाता है जो लगभग छः फुट के बराबर है । 'एक पुरुष लम्बे साँप' का अर्थ होता है छः फुट का साँप । घोड़े तथा गाय के खुरों के निशान की दूरी को भी माप का प्रतीक माना जाता था,[6] किन्तु इस माप को निश्चित न कहकर आनुमानिक कहना ही उचित है ।

विभिन्न उद्योग एवं व्यवसाय

शतपथकालीन लोगों का आर्थिक आधार मुख्यतः खेती तथा पशुपालन था किंतु विभिन्न उद्योग-धन्धों तथा व्यवसायों के पनपने के भी प्रमाण उपलब्ध हैं । उद्योग-धन्धों के विकास की प्रारम्भिक अवस्था ही दृष्टिगोचर होती है । व्यावसायिक संघों के निर्माण की सूचना का अभाव है । तत्कालीन शिल्पियों एवं व्यवसाइयों के रूप में बढ़ई, लोहार, कुम्भकार, रथकार, नाविक, बुनकर आदि उल्लेखनीय हैं ।

तक्षा तथा रथकार : बढ़ई को तक्षा कहा गया है । यद्यपि यह अशुद्ध माना गया है,[7] तथापि यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उद्योगी था । तक्षा, स्रुवा, स्रुक आदि

---

1. श० ब्रा०, 6, 3, 1, 33
2. वही, 10, 2, 1, 3
3. एगलिंग, 'द शतपथ ब्राह्मण' (10, 2, 1, 3 के फुटनोट), तथा बौधायन (शुल्वसूत्र) में भी यह माप 24 अंगुल स्वीकृत किया गया है ।
4. श० ब्रा०, 3, 5, 4, 5; 10, 2, 1, 3
5. वही, 6, 5, 2, 10
6. वही, 3, 3, 3, 3; 14, 2, 1, 16; 1, 2, 2, 10
7. वही, 1, 1, 3, 12

यज्ञ-पात्रों एवं घरेलू वस्तुओं के अतिरिक्त रथ तथा अनस् (गाड़ी) तैयार करता था। रथकार भी एक विशिष्ट तक्षा ही था। गाड़ी तथा रथ के किंचित् रचना-भेद के कारण संभवतः ये दो व्यवसाइयों के रूप में नियत हो गए। रथ तथा गाड़ी के विभिन्न अंगों के उल्लेख से वढ़ई के शिल्प के चातुर्य पर प्रकाश पड़ता है।

'ईषा' गाड़ी के दो स्तंभ थे जिनके मध्य अथवा अगले भाग को 'प्रउगम्' कहा जाता था।[1] तक्षा गाड़ी में घान रखने के लिए 'नीड' तथा वैलों के कंधे पर गाड़ी का भार रखने हेतु 'धूः' (जुआ) बनाता था। 'धूः' के अग्र भाग को टिकाने के लिए 'कस्तम्भी' तथा गाड़ी की गति रोकने के लिए 'अपालम्ब' का निर्माण होता था।[2] अपालम्ब गिराने से गाड़ी चलते-चलते रुक जाती थी। गाड़ी का स्तम्भ 'कूवर' भी कहलाता था।[3] रथ में सामान्यतया एक ही स्तम्भ होता था किन्तु यदा-कदा दो का भी उल्लेख मिलता है।[4] रथ में वैठने के लिए 'उद्धि' नामक स्थान की रचना की जाती थी।[5] रथ-चक्र का चक्रधार 'नेमि' अत्यन्त मजवूत लकड़ी से वनाया जाता था तथा रथ का धुरा अरटु की लकड़ी से बनता था।[6] रथकार विभिन्न प्रकार के रथों का निर्माण करने में पटु होते थे।[7] वधु को ले जाने के लिए 'शल्मलि' की लकड़ी से एक विशिष्ट प्रकार का रथ बनता था (श० ब्रा०, 5, 4, 3, 16)। एक पशु द्वारा खींचा जाने वाला रथ 'स्थूरि' कहलाता था। दौड़ की स्पर्धा के काम आने वाले 'आजिसृत' रथों का निर्माण रथकार के विशिष्ट शिल्प का परिचायक रहा होगा।[8]

शतपथ ब्राह्मण में नावों का पुनः-पुनः उल्लेख मिलता है जिन्हें वढ़ई ही संभवतः बनाता होगा। 'द्रोण' अर्थात् लकड़ी की छोटी डोंगी भी निर्मित होती थीं (श० ब्रा०, 1, 6, 3, 17; 5, 4, 2, 5)। नाव खेने के लिए 'अरित्र' (पतवारें) वनती थीं। नाव में आगे-पीछे दो मंड (मंच) वनाए जाते थे।[9]

---

1. श० ब्रा० (हिन्दी अनुवाद, गंगाप्रसाद उपाध्याय) 1, 1, 2, 12; 1, 1, 2, 9; द्रष्टव्य, सर मोनियर विलियम कोश, पृ० 652
2. श० ब्रा०, 1, 1, 2, 9; 3, 3, 4, 13
3. वही, 4, 6, 9, 11
4. वही, 1, 1, 2, 12
5. वही, 12, 2, 2, 2; कीथ तथा मैक्डॉनल, 'वैदिक इंडेक्स', प्रथम भाग, पृ० 100
6. श० ब्रा०, 1, 4, 2, 15; 5, 1, 4, 11
7. वैदिक रथों की निर्माण-पद्धति के लिए द्रष्टव्य पिगट एस०, 'प्री-हिस्टोरिक इंडिण्या', पृ० 280
8. श० ब्रा०, 13, 3, 3, 9; 5, 1, 5, 28; 7, 2, 2, 11
9. वही, 2, 3, 3, 15; 4, 2, 5, 10

इनके अतिरिक्त तक्षा, आसंदी, निश्रयणी, शंकु, स्फ्या, इषु तथा लस्पूजनी (लकड़ी की सुई) आदि अनेक उपयोगी वस्तुएँ तैयार करते थे।[1] आसंदी उदुम्बर की लकड़ी से बनाई जाती थी।

कर्मार : कर्मार (स्मिथ) अत्यन्त उपयोगी शिल्पी था। यह अस्त्र-शस्त्र तथा घरेलू उपयोग की आयसी एवं लौहमय वस्तुएँ बनाता था। अयस् का धमन करके विभिन्न वस्तुएँ बनती थीं। धमन करने वाला 'ध्मातृ' कहलाता था (श० ब्रा०, 6, 1, 3, 5)। पिटे हुए अयस् के बने सोम-पात्रों का ऋग्वेद (9, 1, 2) में भी उल्लेख मिलता है।

लोहे को गर्म करने के लिए चमड़े से निर्मित धौंकनी प्रयुक्त होती थी। कर्मार ही पार्श्व, असि अर्थात् शास नामक अस्त्र निर्मित करता था।[2] नाई द्वारा प्रयुक्त 'क्षुर' भी वही बनाता होगा। कर्मार द्वारा बनाए गए औजारों में 'अभ्रि' विशेष उल्लेखनीय है जिसका यज्ञ के प्रसंग में अनेक बार उल्लेख हुआ है।[3] इसका शिरोभाग धातु-निर्मित होता था तथा बाँस, विकंकट या उदुम्बर की लकड़ी से एक हाथ का हत्था बनाया जाता था।[4] शस्त्रों तथा औजारों को पैना करने के लिए 'संशान' बनती थी। परशु (कुल्हाड़ी) तथा कूट (हथौड़ा) भी कर्मार ही बनाता था।[5] कर्मार द्वारा निर्मित घरेलू उपयोग की वस्तुएँ परीशास (संडासी), उपवेश (चिमटा), चरु, उदंचन (बालटी) तथा सुई आदि थीं।[6] सुई लकड़ी, लोहा, रजत तथा हिरण्य चारों से बनती थी।[7] शतपथ में लोहा, लोहायस तथा अयस् के उल्लेख से स्पष्ट है कि ये तीनों धातुएँ शुद्ध तथा मिश्रित दोनों स्वरूप की थीं तथा कर्मार इन तीनों का ही प्रयोग करता था। इस व्यवसायी के बहुविध कर्तृत्व के कारण ही अथर्ववेद में इसे मन्त्रों द्वारा सम्मानित किया गया है।[8]

---

1. श० ब्रा०, 5, 2, 1, 9; 5, 2, 1, 22; 2, 1, 1, 10; 1, 1, 2, 8; 6, 5, 2, 10; 3, 5, 3, 25
2. वही, 3, 8, 3, 24; 3, 8, 1, 4
3. वही, 3, 1, 2, 7; 2, 6, 4, 5; 6, 3, 1, 30; 2, 3, 2, 15
4. कीथ तथा मैक्डॉनल, 'वैदिक इंडेक्स', भाग 1, पृ० 34
5. श० ब्रा०, 12, 8, 3, 26; 3, 6, 4, 10; 3, 8, 1, 15
6. वही, 14, 1, 3, 1; 1, 2, 1, 3; 13, 3, 4, 5; 4, 3, 5, 21 आदि
7. वही, 13, 2, 11, 3
8. अथर्ववेद, 2, 5, 6

बुनकर : बुनकर का व्यवसाय भी अत्यन्त व्यवस्थित था। शतपथ में ताने को 'अनुच्छाद', बाने को 'पर्यास' तथा धागे को 'तन्तु' कहा गया है।[1] तंत्र भी वस्त्र की कोई बुनावट थी।[2] धागे के लिए तन्तु एवं सूत्र का प्रयोग सूती कपड़ों के निर्माण का सूचक है (श० ब्रा०, 3, 2, 4, 14; 7, 3, 2, 13) अन्यथा ऊन के धागे के लिए 'ऊर्णा सूत्रम्' में 'ऊर्णा' विशेषण लगाने की आवश्यकता नहीं थी। 'तार्प्य' नामक वस्त्र को भी कुछ विद्वान् मलमल परिधान मानते हैं किन्तु गोल्डस्टूकर तथा एगलिंग के अनुसार यह रेशमी वस्त्र था।[3] इस प्रकार बुनकर सूती, रेशमी तथा ऊनी तीनों प्रकार के वस्त्र बनाते थे। ऊन का तथा संभवतः सभी प्रकार का सूत स्त्रियाँ तैयार करती थीं जैसाकि शतपथ में उल्लेख है—

एतद्वा एतत् स्त्रीणां कर्म यत् ऊर्णा सूत्रम्[4]

संभवतः ये पंचविंश ब्राह्मण (1, 8, 9) में उल्लिखित वयित्री नामक स्त्रियाँ ही होती थीं। ऊन के स्तुक (गुच्छे) बनाए जाते थे, तदुपरान्त वस्त्रों का निर्माण होता था।[5] ऋग्वेद (10, 75, 3) में भी सिंधु देश की ऊनी वस्त्रों के लिए प्रसिद्धि द्रष्टव्य है। प्रघात एवं दशा (किनारी) आदि से संयुक्त वस्त्रों की रचना बुनकर-उद्योग के विकास की परिचायक है।[6]

स्वर्णकार : स्वर्णकार का नामोल्लेखन होते हुए भी स्वर्ण-पात्रों तथा आभूषणों की बहुशः स्थिति के कारण इस व्यवसाय की स्थिति की कल्पना स्वाभाविक है। संभवतः इसे हिरण्यकार कहा जाता था।[7] रुक्म तथा निष्क आदि आभूषणों के अतिरिक्त यह स्वर्ण-चषक भी बनाता था।[8] हिरण्यकार सोने को लोहे से धमित करके वस्तुएँ बनाता था।[9] रजत की सुई तथा अन्य आभूषण आदि भी हिरण्यकार द्वारा ही निर्मित होते थे।

---

1. श० ब्रा०, 3, 1, 2, 18
2. वही, 14, 2, 2, 22। किन्तु कुछ विद्वान तंत्र को करघे का पर्याय मानते हैं (बलदेव उपाध्याय, 'वैदिक साहित्य एवं संस्कृति', पृ० 570)
3. द्रष्टव्य, मैक्डॉनल तथा कीथ, 'वैदिक इंडेक्स' में 'तार्प्य' शब्द
4. श० ब्रा०, 12, 3, 4, 2
5. वही, 3, 2, 1, 13
6. वही, 3, 1, 2, 18; 4, 1, 1, 28
7. तै० ब्रा०, 3, 4, 14, 1
8. श० ब्रा०, 5, 1, 2, 19
9. वही, 6, 1, 3, 5

लघु उद्योग

इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार के लघु उद्योगों की स्थिति भी दिखाई देती है। इनमें रस्सी तथा चटाई उद्योग अत्यधिक व्यापक प्रतीत होता है। रस्सी को वंधन, योक्त्र, रशना तथा रज्जु कहा गया है। रशना दर्भ तथा रज्जु मुंज नामक घास से त्रिगुणित कर बनाई जाती थी।[1] बालों के स्तुकों[2] से भी संभवतः रस्सियाँ बनती थीं। चटाइयाँ भी विविध प्रकार की बनती थीं। कट तथा इट्सुन नामक चटाई वैतस (वेंत) से बनती थी।[3] घास की चटाई छत डालने के काम आती थीं तथा नरकट की चटाई भित्ति के रूप में काम में ली जाती थीं।[4] इसी नरकट को पत्थर से महीन पीस कर 'कशिपु' नामक एक बिस्तर या चटाई तैयार की जाती थी जिसकी उत्कृष्टता प्रदर्शित की गई है। अथर्ववेद के अनुसार स्त्रियाँ ही इसका निर्माण करती थीं।[5] शतपथ में हिरण्यकशिपु नामक सोने के तारों से बुनी चटाई का उल्लेख मिलता है।[6] निश्चय ही वेंत तथा सोने के तारों से चटाइयाँ बनाने वाले पृथक् शिल्पी थे। वाजसनेयी संहिता (30, 8) में बाँस चीरने वाली स्त्रियाँ बिदलकारी कही गई हैं। आसंदी में भी चटाई की पट्टियाँ (विवयन) लगती थीं। सामान्य उपयोग के लिए 'मूतक' नामक छोटी टोकरियाँ भी बनती थीं।[7] वेंत द्वारा सत् (प्याले) बनाए जाते थे तथा कुछ लोग नरकुल या सरकी से शूर्प बनाने का धंधा करते थे।[8]

दृति एवं भस्त्रा नामक चर्म-पात्रों की स्थिति चर्म-व्यवसाय की संकेतक है।[9] प्युंद्दण नामक धनुष आवरण तथा यज्ञाग्नि के धमन हेतु धवित्र नामक पंखे भी चर्म-व्यवसायी ही बनाते थे।[10] 'तद्र्मन्' चमड़े में बने छिद्र का द्योतक है। चमड़े में छिद्र निकालकर विशेष चर्म-रस्सियाँ बनती थीं जो धनुष बनाने के काम

---

1. श० ब्रा०, 6, 7, 1, 15
2. वही, 1, 3, 3, 5; 3, 5, 3, 4
3. वही, 13, 3, 1, 3; 13, 2, 2, 19
4. वही, 3, 5, 3, 9
5. अथर्ववेद, 6, 138, 5
6. श० ब्रा०, 13, 4, 3, 1
7. वही, 2, 6, 2, 17; 12, 8, 3, 6
8. वही, 12, 8, 3, 15; 1, 1, 4, 19
9. वही, 1, 6, 3, 16; 1, 1, 2, 7
10. वही, 14, 1, 3, 30

आती थीं।[1] शतपथ (2, 1, 1, 9) में चमड़े को शंकुओं पर तानने का भी उल्लेख किया गया है।

'कृष्ण-वासस्' शब्द रंगाई उद्योग का भी संकेतक है।[2] द्रव वस्तुओं को छानने के लिए 'कारोतर' तथा 'वाल' नामक चलनियाँ बनाई जाती थीं जो सामान्यतया ऊन से बनती थीं।[3]

कुछ लोग आडम्बर (ढोल) बनाने का व्यवसाय करते थे।[4] आँखों का अंजन तैयार करने का उद्योग भी प्रचलित था।[5] वाजसनेयी संहिता (30, 14) की पुरुष-मेध की बलितालिका में स्त्री अंजन-निर्मातृ का भी उल्लेख है। इस प्रकार लघु उद्योगों में स्त्रियों का सहयोग आर्थिक परिवर्तन का सूचक है। घोड़े की लीद से धूप भी बनाई जाती थी।[6]

नापित एक नियमित व्यवसायी था जिसकी यज्ञ के समय उपस्थिति आवश्यक थी। वायोविद्यिक पक्षी पकड़ने का धंधा करते थे।[7] नाव चलाने वाले नावाज कहलाते थे।[8] परिमोषिन् तथा तस्कर भी अपना धंधा चालू रखते थे।[9]

वाणिज्या

शतपथ (1, 6, 4, 21) में व्यापार को वाणिज्य कहा गया है। क्रय-विक्रय में मुद्रा के मूल्य की इकाई संभवतः गाय थी[10] किन्तु 'पण' एवं 'पण्य' शब्दों का प्रयोग क्रमशः मुद्रा तथा विक्रय के सूचक हैं। हिरण्यशतमान तथा निष्क[11] का मुद्रा के रूप में प्रचलन प्रतीत होता है। कुसीदिन लोग व्याजवृत्ति द्वारा अर्थोपार्जन करते थे।[12] 'पणि' शब्द का उल्लेख शतपथ में किसी अनार्य जाति के

---

1. श० ब्रा० 3, 2, 1, 2; 5, 3, 1, 11
2. वही, 5, 2, 5, 17
3. वही, 12, 9, 1, 2; 12, 7, 3, 11
4. वही, 14, 4, 8, 1
5. वही, 3, 1, 3, 15
6. वही, 6, 5, 3, 9
7. वही, 13, 4, 3, 13
8. वही, 2, 3, 3, 5
9. वही, 11, 6, 3, 11; 13, 2, 4, 2
10. वही, 13, 4, 2, 1
11. वही, 12, 7, 2, 13; 10, 4, 1, 1
12. वही, 13, 4, 3, 11; 3, 3, 8, 1

रूप में ही हुआ है किन्तु पण् धातु का अर्थ खरीदने के अर्थ में तथा पण्य का अर्थ क्रय विक्रय[1] अर्थ में होने के कारण पणियों का व्यापार एवं वाणिज्या से सम्बन्ध होने की संभावना की जा सकती है।

समुद्र तथा नाव के अनेकत्र प्रयोगों के कारण सामुद्रिक व्यापार की भी संभावना है। वेबर ने ऋग्वैदिक आर्यों को कुशल नाविक एवं सामुद्रिक व्यापारी माना है।[2] यदि यह सत्य है तो अवश्य ही शतपथ के समय समुद्र द्वारा व्यापार कर लोग समृद्धि को प्राप्त होते थे।

---

1. श० ब्रा०, 3, 3, 3, 1
2. ए० डी० पुल्सालकर, 'वैदिक एज' (लन्दन), 1951, पृ० 245 पर उद्धृत वेबर का मत

षष्ठ अध्याय

स्वाध्याय, विद्या एवं कला

स्वाध्याय

स्वाध्याय से तात्पर्य है अध्ययन एवं अध्यापन, जिसे शतपथ में ब्रह्मयज्ञ कहा गया है। स्वाध्याय ही ब्रह्मयज्ञ है।[1] स्वाध्याय-प्रशंसा में अध्ययन एवं प्रवचन दोनों की प्रशंसा संयुक्त है।[2] अध्ययन से जहाँ विद्यार्थी की प्रज्ञा-वृद्धि तथा उसे यश-प्राप्ति होती थी वहाँ अध्यापन द्वारा विद्यादान (लोकपक्तिः) की परम्परा प्रवहमान रहती थी।[3]

प्रवचन

अध्यापन के लिए 'प्रवचन' शब्द की व्याहृति मौखिक-शिक्षा के प्रचलन की समर्थक है। प्रवचन करने वाले गुरु को आचार्य कहा जाता था। आचार्य के प्रवचन को शिष्य भलीभाँति श्रवण कर अधिगम्य बनाता था तथा उस अधिगम्य विषय का पुनः-पुनः नित्य-नैमित्तिक अभ्यास ही उसका स्वाध्याय था जिसकी विस्तृत प्रशंसा शतपथ के ग्यारहवें कांड में विस्तार से उपलब्ध है।

ब्रह्मचारी तथा अन्तेवासी

शिष्य को ब्रह्मचारी कहा गया है। शतपथ में ब्रह्मचारी एवं ब्रह्मचर्य से सम्बन्धित अनगिन उल्लेख[4] ब्रह्मचर्याश्रम की सुदृढ़ व्यवस्था को प्रदर्शित करते हैं। इस व्यवस्था के अनुसार ब्रह्मचारी गुरु के निकट रहते थे। यज्ञाग्नि की देख-रेख करते थे। भिक्षाचरण करते थे तथा गुरु के गृह-कार्य (गोचारण आदि) का भी सम्पादन करते थे।[5] शिष्य के लिए 'अन्तेवासी' शब्द का प्रथम प्रयोग शतपथ में ही मिलता है।[6]

---

1. श० ब्रा०, 11, 5, 6, 4
2. अथातः स्वाध्याय प्रशंसा। प्रिये स्वाध्याय प्रवचने भवतः (वही, 11, 5, 7, 1)
3. वही
4. वही, 11, 3, 3, 1; 11, 3, 3, 4; 11, 3, 3, 6-7; 3, 6, 2, 15
5. वही, 11, 3, 3, 6
6. वही, 5, 1, 5, 17

प्रस्तुत व्याहृति वैदिक संहिताओं में दिखाई नहीं देती है। यहाँ अन्तेवासी तथा ब्रह्मचारी में किंचित् भेद द्रष्टव्य है[1] जिससे सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि संभवतः गुरु-गृह में व्यवस्थित रूप से रहने वाले ब्रह्मचारी अन्तेवासी कहलाते थे यथा सात्तरथ, आचार्य शाण्डिल्य का अन्तेवासी था।[2] शिक्षा की प्रवृत्ति के विस्तृत हो जाने के कारण संभवतः कुछ विद्यार्थियों की आवास-व्यवस्था गुरु-गृह से दूर स्थानों पर भी की जाने लगी। फलतः विद्यार्थियों की दो श्रेणियों का होना स्वाभाविक था। इस प्रकार गुरुकुल में रहने वाला ब्रह्मचारी अन्तेवासी भी कहलाने लगा।

ब्रह्मचारी हाथ में समिधा लेकर गुरु का शिष्यत्व स्वीकार करता था।[3] ब्रह्मचारी तथा गुरु का सम्बन्ध पिता-पुत्र का सम्बन्ध था।[4] एक स्थान पर गुरु को माता के समान बता कर कहा गया है कि आचार्य शिष्य को अपने गर्भ में रखता है।[5] गुरु के इस द्विविध स्वरूप से यही प्रतीति होती है कि शिष्य अपने आचार्य से माँ के समान वात्सल्य तथा पिता के समान कठोर अनुशासन, दोनों प्राप्त कर लेते थे।

आचार्य अपने शिष्यों को रहस्यपूर्ण ज्ञान भी देता था। तत्कालीन अवधारणा के अनुसार इस रहस्यमय ज्ञानोपार्जन के फलस्वरूप सुख तो शिष्य भोगता था किन्तु स्वर्ग गुरु को मिलता था।[6] इसलिए खण्डिक नामक आचार्य मन्त्रियों के रोकने पर भी अपनी गुप्तविद्या शिष्य को बता देते हैं क्योंकि इहलोक की रात्रियाँ अत्यल्प हैं जबकि परलोक में रात्रियों का बाहुल्य है।[7] आचार्यों के मन्त्रियों का उल्लेख उनकी राजाओं सदृश प्रतिष्ठा का द्योतक है। साथ ही अध्ययन एवं अध्यापन परम्परा के विस्तार पर भी प्रकाश डालती है। अध्ययन का क्षेत्र मौलिक चिन्तन के लिए खुला था जहाँ स्वतन्त्र विचार व्यक्त करना सहज एवं सामान्य परम्परा थी जैसाकि आचार्य शांडिल्य एवं उनके शिष्य सात्तरथ के वैचारिक मतभेद से स्पष्ट होता है।[8]

---

1. एगलिंग (द शतपथ ब्राह्मण) ने अपने अनुवाद में अन्तेवासी का अर्थ 'थियॉलोजीकल स्टूडेन्ट' किया है
2. श० ब्रा०, 10, 1, 4, 10
3. वही, 11, 6, 1, 1
4. 'पितैव पुत्राय ब्रह्मचारिणे' (वही, 1, 6, 2, 4)
5. वही, 11, 5, 4, 12
6. वही, 11, 8, 4, 5
7. वही
8. वही, 10, 1, 4, 10

ब्रह्मचारी का कर्त्तव्य

ब्रह्मचारी का प्रमुख कर्त्तव्य स्वाध्याय एवं प्रवचन था। ये दोनों उसके प्रिय कर्म थे। उसे मन का योग साधना आवश्यक था। वह स्वयं ही अपनी आत्मा का परम् चिकित्सक होता था।[1] भिक्षाचरण ब्रह्मचारी का दूसरा प्रमुख कर्त्तव्य था।[2] इस आचरण से संभवतः ब्रह्मचारी के व्यक्तिगत अहं का दमन होता था तथा वह पूरे समाज के प्रति अपना देय समझता था। यज्ञ के लिए समिधा लाना भी उसका नित्य कर्म था।[3] समिधा लाने के कार्य को महत्त्वपूर्ण बताते हुए कहा गया है कि ब्रह्म ने केवल ब्रह्मचारी को ही मृत्यु से वंचित रखा किन्तु जिस रात्रि को वह समिधा नहीं लाता है वह रात्रि उसकी आयु खण्डित कर उसे मृत्यु का भागीदार बना देती है।

ब्रह्मयज्ञ

जैसाकि पूर्व में उल्लेख हो चुका है, ब्रह्मचारी का प्रमुख कर्त्तव्य स्वाध्याय था।[4] कतिपय विद्वान् स्वाध्याय का अर्थ वैदिक संहिताओं का अध्ययन-अध्यापन मानते हैं किन्तु शतपथ के अनुसार तत्कालीन प्रचलित अध्ययन-विषयों का नियमित एवं प्रमादरहित अध्ययन एवं अध्यापन ही स्वाध्याय था। स्वाध्याय की महिमा गाते हुए इसे 'ब्रह्मयज्ञ' कहा गया है। स्वाध्यायरूपी ब्रह्मयज्ञ को पूर्ण करने के लिए यज्ञ के उपकरणों द्वारा जो समीकरण शतपथ में प्रस्तुत किया गया है अन्यत्र दुर्लभ है।

अथ ब्रह्मयज्ञः। स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञः। तस्य वा एतस्य ब्रह्मयज्ञस्यवागेव जुहूः। मन उपभृत। चक्षुर्ध्रुवा। मेधा स्रुवः। सत्यमवभृथः। स्वर्गोलोक उदयनम्। यावंतं ह वा इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददत् लोकं जयति। त्रिस्तावंतं जयति भूयांसं चाक्षय्यम् य एवं विद्वान् अहरहः स्वाध्याय-मधीते। तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।[5]

स्वाध्याय के विषय

शतपथ में स्वाध्याय के विषय ऋक्, यजुः, साम, अथर्वांगिरस, अनुशासन,

---

1. श० ब्रा०, 11, 5, 7, 1
2. वही, 11, 3, 3, 7
3. वही, 11, 3, 3, 1
4. वही, 11, 5, 6, 4
5. वही, 11, 5, 6, 4

विद्या, वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण, गाथा एवं नाराशंसी परिगणित किए गए हैं।[1] सायणाचार्य ने अपने भाष्य में प्रस्तुत विषयों की निम्न रूप में व्याख्या की है—

1. ऋक् यजुः साम अथर्वांगिरस	ऋगादि शब्दैर्मन्त्रभागस्याध्ययनम्
2. अनुशासन	ब्राह्मणभागस्य अध्ययनम्
3. विद्या	उपासना-विधि वाक्यानि
4. वाकोवाक्य	उक्ति-प्रत्युक्तिरूपं ब्राह्मणम्
5. इतिहास	सृष्टि-प्रतिपादकं ब्राह्मणं इतिहासः
6. पुराण	पुरातन-पुरुष-वृत्तांत-प्रतिपादकानि वाक्यानि
7. गाथा	महाहिमिव वै हृदात् (श० ब्रा०, 11, 5 5, 8) इत्यादयः मन्त्राः
8. नाराशंसी	मनुष्य प्रशंसापरावाक्यानि

उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार स्पष्ट है कि सायणाचार्य ने उक्त चारों वेदों को मन्त्र-भाग मान कर इतर विषयों को ब्राह्मण-भाग में ही सम्मिलित कर दिया है। मन्त्र तथा ब्राह्मण, सम्पूर्ण वेद के दो भाग स्वीकार कर लेने के पूर्वाग्रह के कारण ही सायण ने उपर्युक्त व्याख्या की है जबकि शतपथ में स्पष्ट रूप में इतिहास, पुराण, सर्पविद्या, देवजनविद्या आदि को भी वेद कहा गया है।[2] ये सभी वेद-विषय शतपथ के अनुसार स्वाध्याय के विषय थे।

वेद

सामान्य रूप से वेद-त्रयी के रूप में ही 'वेद' शब्द अभिहित किया गया है, जो वाक्, वेद-त्रय, त्रयी-विद्या इत्यादि अनेक नामों में अभिव्यक्त है। वेद पवित्र विद्या है।[3] वेद ही मूलभूत सत्य है।[4] त्रिधा विभक्त वाक् ही वेद है जो ऋक्, यजुः तथा साम कही जाती है।[5] जैसाकि ऊपर उल्लेख हो चुका है, शतपथ में ही इतिहास-पुराण आदि को भी वेद संज्ञा दी गई है। अतः वस्तुस्थिति यह दिखाई देती है कि वेद का लाक्षणिक आशय ग्रहण करते समय ज्ञान के उक्त

---

1. श० ब्रा०, 11, 5, 6, 8
2. वही, 13, 4, 3, 6
3. वही, 5, 5, 5, 10
4. 'तद्यत्तत् सत्यम्। त्रयी सा विद्या' (वही, 9, 5, 1, 18)
5. 'एषा वाक् त्रेधा विहिता, ऋचः यजूंषि सामानि' (वही, 10, 5, 1, 2)

सभी आयामों को वेद मान लिया जाता था किन्तु मूलतः वेद से तात्पर्य तीनों वेदों से ही था। शतपथ में प्रासंगिक रूप में मन्त्र[1] एवं सूक्त[2] शब्दों का भी यत्र-तत्र उल्लेख प्राप्त है। यहाँ ऋषियों की गद्य-पद्यात्मक उक्तियों को मन्त्र कहा गया है तथा शास्त्र के एक अंग के रूप में सूक्तों का नियमित उल्लेख हुआ है। शतपथ में ही ऋचाओं के संकलन का औपचारिक नाम 'ऋग्वेद' सर्वप्रथम दृष्टिगत होता है।[3]

विद्या

विद्या शब्द अधिकांशतः त्रयी-विद्या के रूप में आया है जहाँ एक स्थान पर यह कहा गया है कि तीन विद्याओं में ही सम्पूर्ण भौतिक जगत् समाया हुआ है।[4] ये तीन वेद ही दस हजार आठ सौ अस्सी की संख्या में परिवर्तित हो गए।[5] इस सुदीर्घ संख्या में विभक्त वेद वस्तुतः भौतिक तत्त्वों के प्रतीक हैं। आध्यात्मिक ज्ञान अर्थ में त्रयी-विद्या से अभिप्राय ऋक्, यजुः तथा साम था किन्तु वस्तु-अवच्छिन्न ज्ञान के रूप में वेद सर्पविद्या एवं माया सभी में संक्रमित था। जहाँ ऋक्, यजुष्, साम आदि को इन्द्र, विष्णु इत्यादि का पर्याय बताया गया है वहाँ इन्द्र, विष्णु से अभिप्राय इनके धातुपरक अर्थों से है।[6] सायण ने विद्या को 'न्यायमीमांसा आदि' कहकर अर्थान्तरित करने का प्रयास किया है किन्तु एगलिंग के अनुसार 'विशेष प्रकार का विज्ञान' ही विद्या थी।[7]

अनुव्याख्यान

अध्ययन का एक विषय 'अनुव्याख्यान' भी था जिसका शतपथ में इतिहास से पृथकत्व प्रदर्शित किया गया है।[8] सायण ने इसे 'सृष्टि अनुक्रम कथनरूप ब्राह्मण' विषय माना है किन्तु शंकर ने 'मन्त्रों की व्याख्या'। एगलिंग ने अनु-व्याख्यान का अर्थ कथा (टेल) मात्र किया है।[9]

---

1. श० ब्रा०, 1, 4, 4, 6; 11, 2, 1, 6
2. वही, 13, 5, 1, 18
3. वही, 6, 5, 4, 6; 12, 3, 4, 9
4. 'त्रय्यो वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि' (वही, 10, 4, 2, 22)
5. 'ते सर्वे त्रयो वेदाः दश च सहस्राणि अष्टौ च शतानि अशीति नाम' (वही, 10, 4, 2, 25)
6. वही, 4, 6, 7, 1
7. एगलिंग, 'द शतपथ ब्राह्मण, 11, 5, 6, 8 की टिप्पणी
8. श० ब्रा०, 11, 1, 6, 9
9. एगलिंग, 'द शतपथ ब्राह्मण', भाग 5, पृ० 14

इतिहास-पुराण

प्राचीन वृत्त तथा सृष्टि-विवरण-प्रतिपादक वर्णनों को इतिहास-वेद तथा पुराण-वेद माना गया है। अथर्ववेद, जैमिनीय ब्राह्मण, बृहदारण्यक उपनिषद् तथा छान्दोग्य उपनिषद् में भी इतिहास का पुराण के साथ ही उल्लेख उपलब्ध होता है। छान्दोग्य उपनिषद् तथा शतपथ में पुराणों के साथ इसे पंचम वेद भी कहा गया है।[1] पुराण की परिभाषा को सायण ने 'पुराणं वैष्णवादि' कहकर चलता किया है। एक स्थान पर 'पुरातन-पुरुष वृत्तान्त प्रतिपादकानि पुराणं' भी कहा है। वस्तुतः अनेकशः द्वन्द्व समास में उल्लेख होने के कारण पुराण एवं इतिहास में अभेद सा प्रतीत होता है। गेल्डनर का अनुमान है कि इतिहास-पुराण जैसी कोई एक ही कृति थी जिसमें सभी प्रकार की साहसिक, सृष्टि-विषयक तथा वंशक्रम-सम्बन्धी अनेक प्रकार की प्राचीन कथाएँ संग्रहीत रहती थीं। इतिहास का आख्यान से सम्बन्ध भी अनिश्चित है। संभव है कि आख्यान इतिहास-पुराण का ही एक अंश रहा हो।[2] कुछ भी हो शतपथ के विवरण से इतना स्पष्ट है कि इतिहास-पुराण स्वाध्याय के विषय थे तथा 'पुरावृत्त' का सम्बन्ध इस विषय से निश्चितरूपेण था।

गाथा एवं नाराशंसी

ब्रह्मचारी द्वारा पठनीय विषय गाथा एवं नाराशंसी भी थे जिनका इतिहास-पुराण की भाँति युग्म रूप में भी उल्लेख प्रचलित था। वस्तुतः इतिहास, पुराण, गाथा एवं नाराशंसी चारों ही विषय आख्यानपरक थे। आख्यानगत विषयभेद होने के कारण ही इनका चतुर्धा विभाजन किया गया प्रतीत होता है। प्राचीन वृत्त के प्रतिपादक ज्ञान को यदि इतिहास-पुराण कहा जाता था तो मनुष्यों के प्रशंसापरक ज्ञान को गाथा एवं नाराशंसी।[3] अतः स्पष्ट है कि प्रशंसापरक वर्णन का भाव ही गाथा एवं नाराशंसी विषयों की मुख्य थाती थी।

कुम्ब्या

इनके अतिरिक्त 'कुम्ब्या' भी अध्ययन-सम्बन्धी विषय प्रतीत होता है। शतपथ में ऋक्, यजुः, साम तथा गाथा के बाद यह वाणी के एक रूप का द्योतक

---

1. वासुदेवशरण अग्रवाल, 'मार्कण्डेय पुराण, एक अध्ययन', पृ० 3 से उद्धृत।
2. विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य, मैक्समूलर, 'हिस्ट्री आफ एन्शेण्ट संस्कृत लिटरेचर', पृ० 41
3. श० ब्रा०, 11, 5, 7, 10

है। ऐतरेय ब्राह्मण में भी इसका उल्लेख मिलता है।[1] सायण इसे विधि का अर्थवादात्मक ब्राह्मण कहते हैं।[2]

अनुशासन

सायण के अनुसार छः वेदांगों का अध्ययन ही अनुशासन का विषय था।[3] व्याकरण एवं निरुक्ति के अध्ययन-विषय होने का प्रमाण शतपथ के विभिन्न व्याकरण एवं निर्वचन-सम्बन्धी उल्लेखों में मिलता है। निरुक्ति का तो शतपथ भण्डार है।[4] लिंग-वचन आदि का भी पूर्ण ज्ञान शतपथ में द्रष्टव्य है।[5] एक स्थान पर बहुवचन शब्द का व्याकरणसम्मत प्रयोग किया गया है।[6] प्रस्तुत व्याकरण एवं निर्वचन अनुशासन के ही अङ्ग थे।

वाकोवाक्य

'वाकोवाक्यमधीते'[7] वाक्य से स्पष्ट है कि वाकोवाक्य भी अध्ययन का विषय था। उक्ति-प्रत्युक्ति-रूप प्रकरण को वाकोवाक्य कहा जाता था। एगलिंग के अनुसार उद्दालक, आरुणी तथा स्वैदायन गौतम के मध्य हुए उत्तर-प्रत्युत्तर प्रस्तुत विषय का उदाहरण है। उनका आनुमानिक कथन है —

"Apparently some special theological discourses similar to the numerous Brahmodya, or disputations on spiritual matters. As an example of such a dialogue between Uddalaka, Aruni and Swaidayana Gautama."[8]

संभवतः वाकोवाक्य एक ऐसा अध्ययन-विषय था जिसमें औचित्य तथा सम्यक् ज्ञान का ध्यान रखते हुए वाद-विवाद तथा वार्तालाप की विधि सिखाई जाती हो तथा शतपथ ब्राह्मण में बहुशः उल्लिखित 'ब्रह्मोद्य' की पूर्वपीठिका भी यही विषय रहा हो।

---

1. ए० ब्रा०, 2, 3, 6, 8
2. कुम्ब्या शब्देन एकार्थकस्य प्रतिपादकं विध्यर्थवादात्मकं ब्राह्मणवाक्यं उच्यते (श० ब्रा०, 11, 5, 7, 10 में सायण की टिप्पणी)
3. वही, 11, 5, 6, 8
4. वही
5. 'अंगुष्ठा इति पुमांसः; अंगुलय इति स्त्रियः' (वही, 10, 1, 2, 8)
6. वही, 13, 5, 1, 18
7. वही 11, 5, 7, 5
8. एगलिंग, 'द शतपथ ब्राह्मण', भाग 5 (11, 4, 1, 4)

ब्रह्मोद्य

ब्रह्म-सम्बन्धी समस्याओं के गुह्य सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिए ब्रह्मोद्य का आयोजन होता था[1] जिसमें ब्रह्म-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर किए जाते थे। इस दृष्टि से वाकोवाक्य तथा ब्रह्मोद्य सम्बन्धित थे। इसीलिए शतपथ में कहा गया है, 'अथ वाकोवाक्ये ब्रह्मोद्यं वदन्ति'।[2] किन्तु वाकोवाक्य अध्ययन का विषय था तथा ब्रह्मोद्य आयोजन का। यज्ञ की गूढ़ मीमांसा-सम्बन्धी वाद-विवाद भी ब्रह्मोद्य का विषय होता था।[3] अतः स्पष्ट है कि यज्ञ तथा ब्रह्म के सम्बन्ध में दो अथवा अधिक व्यक्तियों में होने वाला विवाद या उक्ति-प्रत्युक्ति ब्रह्मोद्य कहलाते थे। शतपथ में ही इस वाद-विवाद का उदाहरण भी प्रस्तुत किया गया है।[4]

प्रश्न : कः स्विदेकाकी चरति ?
उत्तर : सूर्य एकाकी चरति। इत्यादि

ब्रह्मोद्य विस्तृत कक्षों में आयोजित किए जाते थे जिन्हें सदस् कहा गया है।[5] संभव है इन आयोजनों में आचार्यों के साथ ब्रह्मचारी भी भाग लेकर अपनी प्रतिभा को नवोन्मेष प्रदान करते रहे हों।

ब्रह्मचारी के लिए निषिद्ध कर्म

ब्रह्मचारी के लिए पूर्वोक्त स्वाध्याय, भिक्षाचरण इत्यादि कर्त्तव्यों के अतिरिक्त कतिपय निषिद्ध कर्मों का उल्लेख भी शतपथ में मिलता है। ब्रह्मचारी को मिथुनाचरण नहीं करना चाहिए क्योंकि अध्ययन-काल में वह स्वयं भ्रूणरूप होता है।[6] सादा जीवन एवं उच्च विचार ही ब्रह्मचारी का परम लक्ष्य था क्योंकि भोग-युक्त जीवन उसके लिए पीड़ाजनक माना गया है। यह कहा गया है कि यदि ब्रह्मचारी तैलादि से अभ्यक्त स्रक्-चन्दनादि से अलंकृत होकर, सुहित तथा यथेष्ट भोजन से तृप्त होकर, सुख-शैय्या पर सोता हुआ अध्ययन करता है तो नखाग्रपर्यन्त शरीर से पीड़ा पाता है।[7] इस प्रकार निषिद्ध तथा अनवद्य कर्मों का परित्याग करता हुआ ब्रह्मचारी अध्ययन-रत रहा करता था।

---

1. श० ब्रा०, 4, 6, 9, 20
2. वही, 11, 4, 1, 2
3. 'होता च ब्रह्मा च ब्रह्मोद्यं वदतः' (वही, 13, 2, 6, 9)
4. वही, 13, 5, 2, 12
5. 'सदसि ब्रह्मोद्यं वदन्ति' (वही 13, 5, 2, 11)
6. वही, 11, 5, 4, 16
7. वही, 11, 5, 7, 4

स्नातक

अध्ययन समाप्त करने के उपरान्त 'स्नातक' की उपाधि प्राप्त कर ब्रह्मचारी गृह-गमन करता था[1] तथा गृहस्थाचरण का प्रारंभ करता था। गुरुकुल से निवृत्त होने के पश्चात् ब्रह्मचारी को विशेष स्नान कराया जाता था जो स्नातक-उपाधि प्राप्त करने के लिए आवश्यक था।[2] यहीं पर यह भी निदेश दिया गया है कि इस स्नान के पश्चात् ब्रह्मचारी को भिक्षा नहीं माँगनी चाहिए क्योंकि अब उसने भिक्षा के दुःख पर विजय पा ली है। अब वह केवल गुरु-पत्नी तथा माँ से ही भिक्षा माँग सकता है।

उपर्युक्त अध्ययन से प्रकट है कि शतपथ के समय अध्ययन का उद्देश्य अर्थोपार्जन न होकर ज्ञान-प्राप्ति था। इसलिए संभवतया शिक्षित व्यक्तियों का औसत भी कम रहा होगा। दुःखमय संसार से मुक्ति ही स्वाध्याय का फल था।[3] अतः ब्रह्मचारी अध्ययन के प्रति निष्ठावान् तथा अज्ञात के प्रति जिज्ञासु रहता था। ज्ञान के अनन्त क्षितिजों का आभास उसे रहता था। यही कारण था कि वह आत्मतुष्ट कभी नहीं होता था जैसाकि वरुण तथा उसके पुत्र भृगु के आख्यान से पता चलता है।[4] ज्ञान की तीव्र एवं उत्कट लालसा उस युग के अध्येताओं की विशेषता थी। बड़े-से-बड़े विद्वान् आचार्य किसी ज्ञानविशेष की जिज्ञासा शान्त करने के लिए किसी का भी शिष्य बनने में हिचकिचाते नहीं थे। शतपथ-वर्णित अश्वपति कैकेय का उपाख्यान इसका ज्वलन्त उदाहरण है।[5] अध्ययन के क्षेत्र में विचार-स्वातन्त्र्य की अद्भुत परम्परा इस युग में दिखाई देती है। कण्व ने शुक्ल यजुर्वेद का अध्ययन गुरु याज्ञवल्क्य से किया था[6] किन्तु गुरु का अनुगमन न करते हुए काण्व संहिता के नाम से अलग पाठ प्रस्तुत किया। इसी प्रकार शाकल्य को गुरु होते हुए भी याज्ञवल्क्य ने जनक की सभा में ज्ञान के क्षेत्र में परास्त किया।[7] अपने से विद्वत्तर व्यक्ति के समक्ष नतमस्तक होना एक सहज प्रक्रिया थी। धुरंधर विद्वान् उद्दालक भी समिधा हाथ में लेकर स्वैदायन के पास जिज्ञासा मिटाने पहुँच जाते हैं।[8]

---

1. एगलिंग, 'द शतपथ ब्राह्मण', भाग 5, पृ० 137, टिप्पणी
2. श० ब्रा०, 11, 3, 3, 7
3. वही 11, 5, 6, 9
4. वही, 11, 6, 1, 1
5. वही
6. सातवलेकर, 'काण्व संहिता प्रस्ताव', पृ० 13, 14
7. वही
8. श० ब्रा०, 11, 4, 1, 9

इस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में कुण्ठाहीन आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक ज्ञान की परम्परा दिखाई देती है। ज्ञान के लिए ज्ञान की यह उपासना सांस्कृतिक उत्थान की द्योतक है।

कला

यहाँ प्रारम्भ में ही यह कहना उचित होगा कि कला शब्द के आधुनिक अर्थ को ग्रहण करने पर शतपथ में प्राप्त कला-सम्बन्धी विवरण से हमें निराशा होगी। शतपथ ब्राह्मण में कला शब्द का अर्थ आधुनिक प्रचलित अर्थ से भिन्न तथा विशिष्ट मिलता है। आठ तथा सोलह कलाओं का अनेक बार उल्लेख किया गया है। किन्तु वहाँ पुरुष अथवा पशु के अंगों को उक्त भागों में विभक्त कर 'कला' संज्ञा दी गई है। अपेक्षाकृत सोलह कलाओं का ही वर्णन मिलता है।[1] सत्रहवाँ प्रजापति स्वयं है। तात्पर्य यह है कि पुरुष के सम्पूर्ण अंगों को सोलह भागों में विभाजित करने पर उसका 1/16 भाग कला कहलाया।[2] परवर्ती काल में चन्द्रमा के व्यास के सोलह भागों में से एक को कला (चन्द्रकला) कहा जाने लगा किन्तु आधुनिक अर्थ में कला का पर्याय तत्कालीन शिल्प शब्द था जिसका शतपथ में निम्न उल्लेख प्राप्त है—

सैषा त्रयी विद्या यज्ञः। तस्या एतच्छिल्पं एष वर्णः[3]

यहाँ सायण ने शिल्प का अर्थ 'चित्ररूपम्' किया है जो कला का समानार्थी है। कौषीतकि ब्राह्मण में स्पष्ट ही शिल्प को तीन प्रकारों में विभाजित किया गया है[4]—नृत्य, गीत तथा वादन, अतः ललित कलाएँ उस समय संभवतया शिल्प कहलाती थीं।

ललित कलाएँ

शतपथ में सोम-विक्रय के प्रसंग को लेकर अभिनय-कला का संकेत मात्र मिलता है किन्तु नियमित रूप में अभिनीत नाटकों तथा नृत्य आदि के निश्चित

---

1. 'अष्टावेवास्य कलाः, लोम, त्वक्, असृग, मेद...षोडशकलः पुरुष इति मनुष्य संकेते देवैः षोडशाक्षरः पुरुष इति व्यवह्रियते. . अथ य एतदन्तरेण प्राणः संचरति स एव सप्तदशः प्रजापतिः' (श० ब्रा०, 10, 4, 1, 6)
2. सोलह कलाओं के सम्बन्ध में द्रष्टव्य, वेबर, 'इन्दिशे स्तुदियेन', भाग 9, पृ० 3 तथा 'षोडश कला वै पशवः' (श० ब्रा०, 10, 4, 1, 16)
3. श० ब्रा०, 1, 1, 4, 3
4. कौ० ब्रा०, 29, 5

ज्ञान का अभाव है। संगीत-कला अवश्य अपने विकासमान स्वरूप को द्योतित करती है। वीणा संभवतः सर्वाधिक प्रचलित वाद्य था जिस पर गायक अपनी धुनें निकालते थे।[1] शततन्त्री भी वीणा की ही भाँति एक वाद्ययंत्र था।[2] शतपथ में उत्तर मन्द्रा रागिनी का निदेश वस्तुतः तत्कालीन संगीत-शास्त्र के विकास का प्रकाशक है।[3]

वीणा पर गाने वाले सामूहिक रूप में एवं व्यक्तिगत दोनों रूपों में गाते थे। गायकों के समूह का नायक वीणा-गणगिन् कहलाता था तथा एकाकी गायक वीणा-गाथिन् या वीणावादक। सभी वर्णों के व्यक्ति वीणा बजाना सीखते थे। अश्वमेध तथा वाजपेय जैसे बृहद्यज्ञों के समापन-समारोह पर ब्राह्मण तथा राजन्य वीणावादक वीणा द्वारा विजेता राजा का यशोगान करते थे।[4] किसी विशेष प्रसन्नता के अवसर पर भी संगीत-सभा का आयोजन किया जाता था जैसाकि शतपथ के निम्न उद्धरण से ज्ञात होता है—

यदा वै पुरुषः श्रियं गच्छति। वीणाऽस्मै वाद्यते[5]

इसके अतिरिक्त वर्ष-भर भी वीणावादन चलता था।[6] इस प्रकार पेशेवर संगीतकारों की स्थिति समक्ष आती है। साथ ही 'ब्राह्मणौ वीणागाथिनौ' शब्द से स्पष्ट हो जाता है कि संगीत-कला का पेशा निम्न नहीं समझा जाता था। एक अन्य वाद्ययन्त्र 'दुन्दुभि' का भी शतपथ में उल्लेख हुआ है जिसे भूमि में खुदे हुए गड्ढे को चर्म से आवृत्त कर बनाया जाता था।[7] ध्वनि अथवा वाणी अर्थ में 'भकुरि' शब्द भी मिलता है जिसका सम्बन्ध संगीत से प्रतीत होता है।[8] इसी का विभेदात्मक रूप 'वेकुरा' शब्द है जो पंचविंश ब्राह्मण में व्यवहृत हुआ है।[9]

संगीत के साथ-साथ गीतिकाव्य रचे जाने के संकेत भी मिलते हैं। कतिपय

1. श० ब्रा०, 3, 3, 3, 1
2. वही, 3, 2, 4, 6; 13, 1, 5, 1
3. वही 4, 2, 8, 11; 13, 4, 3, 3
4. वही, 13, 4, 2, 11; 13, 4, 3, 5
5. वही, 13, 1, 5, 1
6. 'ब्राह्मणौ वीणागाथिनौ संवत्सरं गायतः' (वही, 13, 1, 5, 1)
7. वही, 5, 1, 5, 6
8. वही, 9, 4, 1, 9
9. पञ्च० ब्रा०, 1, 3, 1

वीणागाथिन् गीतिकार भी होते थे किन्तु उनमें से कुछ इतर कवियों के गीतों को अपनी वीणा पर प्रस्तुत करते थे—

ब्राह्मणो वीणागाथी दक्षिणत उत्तरमन्द्रामुदाघ्नन् तिस्रः स्वयं संभृता गाथा गायति[1]

उपयोगी कलाएँ

शतपथकालीन भारतीय भवननिर्माणकला में विशेष रुचि रखते हुए दिखाई देते हैं। चार दरवाजों वाले मकानों की रचना होती थी।[2] द्वारों में अर्गला का प्रयोग प्रचलित था।[3] मकान बनाते समय तीन ओर दीवार तथा पिछला चौथा भाग खुला रखा जाता था।[4] मकानों पर छत डाली जाती थी जिसे छदिस् कहा गया है।[5] मकान के मध्य में 'धरन्' द्वारा छत को आश्रय दिया जाता था जिसे 'प्राचीन वंश' कहा गया है।[6] मकान के भीतरी भाग को विभक्त करने के लिए नरकट की पट्टियों से बुनी हुई 'भित्ति' नामक चटाई का प्रयोग होता था।[7]

हाथ के लघु उद्योगों में कलात्मक दृष्टिकोण विशेष रूप से दर्शनीय है। स्त्रियाँ अनेक प्रकार की कलापूर्ण उपयोगी वस्तुएँ बनाती थीं जिनमें सर्वाधिक विकसित चटाई-रचना थी। बेंत, नरकट तथा अन्य घास से निर्मित विभिन्न प्रकार की चटाइयाँ कलात्मक रुचि की द्योतक थीं।[8] नरकट को पत्थर से महीन पीट कर कशिपु नामक बिछौना तैयार किया जाता था। अथर्ववेद के अनुसार स्त्रियाँ ही इसका निर्माण करती थीं।[9] इसी प्रकार घास से कूर्च नामक आसन तैयार किया जाता था जो याज्ञिक अनुष्ठान में काम आता था। कशिपु एवं कूर्च विशेष प्रकार के आसन थे जो स्वर्ण के तारों आदि से भी बनाए जाते थे जैसाकि हिरण्यकशिपु[10] तथा हिरण्यकूर्च[11] व्याहृतियों से पता चलता है। कूर्च नामक

1. श० ब्रा०, 13, 4, 2, 11
2. वही, 5, 4, 4, 21
3. वही, 1, 6, 1, 19; 11, 1, 1, 1
4. वही, 6, 3, 3, 25
5. वही, 3, 5, 3, 9
6. वही, 3, 1, 1, 6
7. वही, 3, 5, 3, 9
8. वही, 13, 3, 1, 3; 13, 2, 2, 19
9. अथर्ववेद, 6, 138, 5; बलदेव उपाध्याय, 'वैदिक साहित्य और संस्कृति', पृ० 413
10. श० ब्रा०, 13, 4, 3, 1
11. वही 7, 13, 4, 3

आसन के फलक पर सोने की दस्तकारी होती थी।[1] प्रस्तुत विवरण से ज्ञात होता है कि सूची-शिल्प तथा बुनाई-कला में वस्तुतः प्रवीणता बढ़ रही थी।[2] गाड़ी, रथ, यज्ञ-पात्र तथा घरेलू उपयोग की वस्तुओं तथा वस्त्रों में कलात्मक दृष्टिकोण था या नहीं यह प्रमाणों के अभाव में कहना कठिन है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि शिक्षा का क्षेत्र मूलतः आध्यात्मिक होते हुए भी समाज में विविध कलाएँ (शिल्प) विकसित हो रही थीं तथा उपयोगिता के साथ-साथ कलात्मक अभिरुचि भी स्थान ग्रहण करती जा रही थी जिसने परवर्ती युग में होने वाली विकसित कलाओं के सूत्रपात में योगदान किया।

---

1. वही, 13, 4, 3, 1 तथा मैक्डानल व कीथ, 'वैदिक इण्डैक्स' के हिन्दी अनुवाद में द्रष्टव्य 'कूर्च' शब्द।
2. विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य, इसी शोधप्रबन्ध का पंचम अध्याय

सप्तम अध्याय

सृष्टि तथा संवत्सर-विज्ञान

सृष्टि

शतपथ ब्राह्मण में सृष्टि-प्रक्रिया से सम्बन्धित ज्ञान का इतना प्राचुर्य है कि इस विषय पर अलग से ग्रन्थ-रचना संभव है किन्तु स्थानाभाव के कारण यहाँ समाहारात्मक रूप में विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस दृश्यमान सृष्टि के आविर्भाव से पूर्व की स्थिति के बारे में शतपथ का विचार है कि सबसे पहले न असत् था न सत्—

नेव वा इदमग्रेऽसदासीद नेव सदासीद्। नेव सदासीत्। आसीदिव वा इदमग्रे नेवासीत्। तद्ध तन्मन एवास[1]

नासदीय सृष्टि

प्रस्तुत विचार निश्चय ही ऋग्वेद के नासदीय सूक्त (10, 129, 1) के विचार का पृष्टपोषक है जिसमें 'नासदासीन्नोसदासीत्तदानीम्' कह कर 'कामस्तदग्रेसमवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' द्वारा मनस् तत्त्व के बीज को सृष्टि का आदि कारण सिद्ध किया गया है। शतपथ में उक्त स्थान पर ही मानसिक सृष्टि का उल्लेख भी है—'ते मनसैवाधीयन्त'—किन्तु साथ ही असत् से सत् की उत्पत्ति का विचार भी प्रस्तुत किया गया है।[2] यहाँ स्पष्टतः असत् से तात्पर्य है कि सत् की विद्यमानता जब नहीं थी तो उसकी विलोम स्थिति अर्थात् 'असत्' था। उस समय यह सम्पूर्ण सृष्टि 'अदस्' तत्त्व से परिव्याप्त थी—

अद्भिर्वा इदं सर्वं आप्तम्[3]

हिरण्याण्ड सृष्टि

अन्यत्र यह भी कहा गया है कि 'प्रारम्भ में केवल आपस् तत्त्व का समुद्र

1. श० ब्रा०, 10, 5, 3, 1
2. 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (वही, 6, 1, 1, 1)
3. वही, 1, 1, 1, 14; 1, 1, 1, 20

था। आपस् ने इच्छा की कि हम उत्पन्न हों। उन्होंने श्रम तथा तप किया।[1] तप करते हुए आपस् से हिरण्याण्ड उद्भूत हुआ। उस समय तक संवत्सर का अस्तित्व नहीं था। यह हिरण्याण्ड वर्ष भर तक परिप्लायमान होता रहा। तब पुरुष उत्पन्न हुआ। वही यह प्रजापति है। प्रजापति ने उस हिरण्याण्ड को विदीर्ण किया।[2]

उक्त सृष्टि-प्रक्रिया का वर्णन मनु ने भी किया है[3] किन्तु मूलस्रोत के रूप में ऋग्वेद[4] का वह स्थल प्रस्तुत किया जा सकता है जहाँ विश्व की एक महान् शक्ति के रूप में सूर्य को 'हिरण्यगर्भ' कहा गया है। इसी सूक्त में सूर्य को प्रजापति भी कहा गया है।

आपस्-तत्त्व

प्रारम्भिक 'आपस्' तत्त्व का—जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है—अर्थ जल नहीं है। जो मूल व्यापक शक्ति तत्त्व था उसे ही आपस् कहा गया है।[5] शतपथ में प्राप्त आपस् शब्द का निर्वचन भी यही इंगित करता है—'सा इदं सर्वं आप्नोद् यदिदं किञ्च। यदाप्नोत् तस्मादापः[6]—अतः उक्त शतपथीय विचारधारा के अनुसार मूल व्यापक शक्ति तत्त्व 'आपस्' से परिव्याप्त सृष्टि का आयाम उस समय न सत् था न असत्, किन्तु यदि कुछ था तो असत् था क्योंकि सत् (वर्त्तमान सत्तात्मक चाक्षुष जगत्) तो था नहीं। तत्कालीन मनीषी उक्त संदर्भों में यद्यपि किंचित् अनिश्चित् प्रतीत होते हैं किन्तु प्रजापति अकेला ही सृष्टि का अग्रणी था, इसमें उन्हें संदेह नहीं था—

प्रजापतिर्ह वा इदमग्र एक एवास[7]

प्राजापत्य सृष्टि

उपर्युक्त सृष्टि-प्रक्रिया में 'पुरुष' ही प्रजापति उक्त है।[8] ऋग्वेद के एकमात्र

1. प्रस्तुत सृष्टि-विद्या की परम्परा के लिए द्रष्टव्य, जे० म्युर, 'ओरिजिनल संस्कृत टैक्स्ट्स', भाग 4, पृ० 24
2. श० ब्रा०, 11, 1, 6, 1
3. 'तदंडमभवद्हैमं सहस्रांशु समप्रभम्', (मनु, 1, 9)
4. 10, 121, 3
5. वासुदेव शरण अग्रवाल, 'मार्कंडेय पुराण, एक अध्ययन (प्रथम संस्करण), पृ० 31
6. श० ब्रा०, 6, 1, 1, 9
7. वही, 2, 5, 1, 1
8. 'ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत्। स प्रजापतिः।' (वही, 11, 1, 6, 2)

सर्वप्रथम उल्लेख[1] में प्रजापति सौर-देवता सवितृ की उपाधि मात्र है।[2] ऋग्वेद के विख्यात पुरुषसूक्त (10, 90) में उक्त भूत-भविष्य-नियामक, विराट्-पुरुष, सविता देवता की उपाधि 'प्रजापति' में संक्रमित होता हुआ शतपथ में किस प्रकार आदि कारणरूप प्रजापति बन गया? यह इतिहास अंधकार में है किन्तु सृष्टि-प्रक्रिया से प्रजापति के सम्बन्ध की व्याख्या जितनी स्पष्ट शतपथ में उपलब्ध है उतनी अन्यत्र नहीं।

प्रजा उत्पन्न करना ही प्रजापति का प्रजापतित्व है[3] अतः सृष्टि से प्रजापति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध दिखाया गया है। प्रारम्भ में प्रजापति अकेला ही था। उसने कामना की कि मैं प्रजावान् हो जाऊँ। उसने श्रम तथा तप किया। तप के परिणामस्वरूप तीनों लोक उत्पन्न हुए। पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यौ। उसने इन तीनों लोकों को अभितप्त किया जिनसे तीनों ज्योति—अग्नि, वायु तथा सूर्य—उत्पन्न हुईं। इन तीनों को तपाने से तीनों वेद उत्पन्न हुए—अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद तथा सूर्य से सामवेद।[4]

शतपथ (6, 1, 3, 4) में अन्यत्र प्रजापति द्वारा अभिव्यक्त होने की इच्छा तथा श्रम एवं तप-क्रिया के फलस्वरूप सृष्टि-क्रम का विवरण भी मिलता है जिसमें श्रम एवं तप से आपस्, आपस् से फेन, फेन से मृद्, मृद् से सिकता, सिकता से शर्करा, शर्करा से अश्मन्, अश्मन् से अयस्, अयस् से हिरण्य तथा तदुपरान्त अक्षरगायत्री, भूमि, पृथिवी तथा संवत्सर की उत्पत्ति वर्णित है।

प्रस्तुत सृष्टि मीमांसाओं के अनुसार प्रजापति की कामना तथा उसका श्रमजन्य तप ही सृष्टि के उद्भव का कारण था। एक बार काम-बीज के प्रस्फुटित हो जाने पर श्रम एवं तप का पुनः-पुनः महत्त्व उल्लेखनीय है। फलस्वरूप प्रजापति को 'क्षत्र' भी कहा गया है।[5] श्रम एवं तप के महत्त्व को बारम्बार प्रदर्शित करने का अभिप्राय इस तथ्य का उद्घाटन करना है कि कर्त्तृत्व के बिना किसी भी प्रकार की सृष्टि असंभव है। ऋग्वेद में भी जहाँ ब्रह्मणस्पति द्वारा शिल्पी की भाँति जगत् के निर्माण का उल्लेख है, यही कर्त्तृत्व-भाव प्रेरक है। शतपथ ने प्रजापति को विश्वकर्मा भी कहा है।[6] परवर्ती साहित्य में नर के रूप में

1. ऋग्वेद, 4, 53, 2
2. वही। यहाँ सविता देव को स्थावर-जंगम का शासक कहा गया है
3. श॰ ब्रा॰, 10, 1, 3, 2
4. वही, 11, 5, 8, 1
5. 'प्रजापतिर्वै क्षत्रम्' (वही, 8, 2, 3, 11)
6. 'प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा' (वही, 13, 2, 1, 10)

नारायण के अवतार की कल्पना भी इसी कर्तृत्व-विचार का परिणाम है जिसका स्रोत शतपथ के 'पुरुषनारायण' से उपलब्ध होता है।[1]

नामरूप जगत्

सृष्टि के मूल में कामना एवं क्रियाशक्ति होने के कारण ही नाम एवं रूप-युक्त जगत् सम्भव हुआ। शंकराचार्य[2] द्वारा वर्णित 'नामरूपात्मक जगत्' की कल्पना का मूल निश्चय ही शतपथ ब्राह्मण है। शंकर ने इस जगत्-स्रष्टा ब्रह्म को अविनश्वर, सर्वगत तथा सच्चिदानन्द कहा है। शतपथ भी 'महत्ब्रह्मैकम-क्षरम्'[3] द्वारा इसी विचार को प्रतिपादित करता है। वह अक्षर-ब्रह्म तीनों लोकों में नाम एवं रूप द्वारा किस प्रकार पैठ गया, यह उल्लेखनीय है—

> अथ ब्रह्मैव परार्द्धमगच्छत्। तत्परार्द्धं गत्वा ऐक्षत् कथंन्विमाल्लोकान् प्रत्यवेयामीति। तद् द्वाभ्यामेव प्रत्यवैद् रूपेण चैव नाम्ना च[4]

अन्यत्र पुनः नाम एवं रूप का महत्त्व प्रदर्शित है। 'देवताओं के व्यारोहण के पश्चात् ब्रह्म स्वयं सत्यलोक में चला गया। वहाँ जाकर उसने कामना की कि मैं किस प्रकार इन पृथिवी आदि लोकों को प्राप्त करूँ। तब उसने इन्हें दो रूपों, नाम एवं रूप, द्वारा प्राप्त किया।[5]

संवत्सर सृष्टि

शतपथ में ही कालरूप (सांवत्सरिक) सृष्टि का प्रतीकात्मक वर्णन अन्य प्रकार से भी किया गया है जहाँ कहा गया है कि 'संवत्सर ही प्रजापति है तथा भूतानांपति संवत्सर से उषा ने गर्भ-धारण किया', फलतः कुमार का जन्म हुआ। नामरहित होने के कारण कुमार रुदन करने लगा, अतः नामकरण किया गया यथा आश्वयुज, स्वाति, हस्त इत्यादि (सायण टिप्पणी)।[6] यहाँ स्पष्ट ही 'कुमार' बारह मासों में व्यक्त कालरूपी इकाई (संवत्सर) का प्रतीक है।

---

1. वही, 13, 6, 2, 12। 'प्रकृति का सर्वव्यापक मातृ-तत्व पुरुष के संसर्ग से गर्भ धारण करता है तथा फिर पुरुष को ही जन्म देता है। जो जन्म लेने वाला पुरुष है वह नारायण कहलाता है' (वासुदेवशरण अग्रवाल, 'मार्कण्डेय पुराण, एक अध्ययन', पृ० 32)
2. शंकर, 'ब्रह्मसूत्र भाष्य', 1, 1
3. श० ब्रा०, 10, 4, 1, 9
4. वही, 1, 1, 2, 3
5. श० ब्रा०, 11, 2, 3, 3
6. वही, 6, 1, 3, 7-9

इसी काल-जनित सृष्टि का एक और उदाहरण प्रस्तुत है—

प्रजापतिर्ह वै प्रजाः ससृजानस्य पर्वाणि विसस्रंसुः। स वै संवत्सर एव प्रजापतिः तस्यैतानि पर्वाणि अहोरात्रयोः सन्धी, पौर्णमासी च अमावस्या च ऋतुमुखानि।[1]

यहाँ पर ही पुनः कहा गया है कि 'प्रजापति के पर्व जब विस्रस्त हुए तो वह उठ न सका। तब इन हवि-यज्ञों द्वारा देवों ने उसका उपचार किया।' यह स्थल निश्चय ही सृष्टि उत्पन्न करते समय प्रजापति को होने वाली सहज प्रकृत प्रसव-पीड़ा को संकेतित करता है क्योंकि सम्पूर्ण उद्भूतों का प्रजापति द्वारा गर्भ में धारण किया जाना शतपथ द्वारा प्रमाणित है—

एतद्वै प्रजापतिः एतस्मिन्नात्मनः प्रतिहिते सर्वाणि भूतानि गर्भ्यभवत्।
तान्यस्य गर्भ एव सति पाप्मा मृत्युरगृह्णात्[2]

प्रस्तुत उद्धरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मृत्यु तथा पाप्मा ने प्राणियों का वरण प्रजापति के गर्भ में ही कर लिया था। सद्यःजात शिशु ही कुमार है। कुमार के रूप में प्रजापति स्वयं ही स्वयं से उत्पन्न हुआ तथा उसने एक या दो अक्षर उच्चरित किए, अतः जब कुमार सर्वप्रथम बोलना प्रारंभ करता है तो एक या दो अक्षर के शब्द बोलता है।[3] उत्पन्न होकर प्रजापति ने अपने 'तनू' के तीन भाग किए तथा उन्हें तीनों लोकों में स्थापित कर दिया।[4]

प्राण सृष्टि

प्रजापति के मूल मनस्तत्त्व से प्राण तथा प्राण से इतर सृष्टि के होने की प्रक्रिया भी शतपथ में वर्णित है—

तन्मनो वाचमसृजत। सा वाक् प्राणसृजत। स प्राणश्चक्षुरसृजत।
तत् चक्षुः श्रोत्रमसृजत। तच्छ्रोत्रंकर्मासृजत। तत्कर्माग्निमसृजत।[5]

प्राणतत्त्व की वैज्ञानिक परिभाषा शतपथ में मिलती है—

प्राणौ वै समञ्चन प्रसारण[6]

---

1. श० ब्रा०, 1, 6, 3, 35
2. वही, 8, 4, 2, 1
3. वही
4. 'स एतस्तिस्रस्तनूरेषु लोकेषु विन्यधत्त' (वही, 3, 9, 4, 12)
5. वही, 10, 5, 3, 4
6. वही, 8, 1, 4, 10

स्थितिगतिसमन्वयात्मकस्पंदनरूप शक्ति, केन्द्र से परिधि की ओर तथा परिधि से केन्द्र की ओर गति करती है। यही क्रमशः गति-आगति तथा प्राण-अपान कहलाती है। केन्द्र स्वयं प्राण-तत्त्व है। यहाँ गति को प्रसारण तथा आगति को समञ्चन कहा गया है।[1]

इसी प्राण-शक्ति, जीवनी-शक्ति अथवा स्पन्दन-शक्ति को अग्नि-वैश्वानर भी कहा गया है—

अयमग्नि वैश्वानरो यो अयं अन्तः पुरुषे।[2]

तथा ये प्राण ही देव-तत्त्व हैं।[3] प्रस्तुत सृष्टि-रचना के मूल कारण मनस्, वाक् तथा प्राण में से मन तथा प्राण दोनों ही देव-तत्त्व हैं किन्तु ये दोनों सूक्ष्म एवं अव्यक्त हैं। प्राण-तत्त्व के बिना इतर भूत-सृष्टि असंभव है।[4] मूल देव-तत्त्व के ही एक, दो, तीन, आठ, ग्यारह, तैंतीस आदि देव-परिणाम हैं। मूल देव-तत्त्व एक है जिसे अग्नि भी कहा गया है—

अग्निर्वै सर्वा देवताः[5]

शतपथ में इस मूलभूत प्राण अथवा अग्नि को रुद्र भी कहा गया है—

यो वै रुद्रः सो अग्निः[6]

यही वह कुमार है जिसने संवत्सर-उषा-समागम के फलस्वरूप जन्म लिया। जन्म लेते ही वह रोता है अतः रुद्र कहलाता है।[7] वह सात बार रोता है अतः उसके सात नाम पड़े—भव, शर्व, ईशान, पशुपति, भीम, उग्र तथा महादेव—अर्थात् मूलभूत एक प्राण-तत्त्व सृष्टि-रचना हेतु सात रूपों में अभिव्यक्त हुआ। ये ही सप्तर्षि हैं। इन्हें ही सप्तऋक्ष भी कहा गया है। इन सप्तर्षि नक्षत्रों को यूरोपीय ज्योतिर्विद भी 'ग्रेट बीअर' (महान ऋक्ष) कहते हैं। ये ही सात प्राण हैं जिनका शतपथ में वारम्बार उल्लेख हुआ है। उक्त नामरूपात्मक जगत् भी यही सृष्टि है। शतपथकार ने अग्नि के इन व्यक्त रूपों (रुद्र के नामों) को

---

1. वासुदेवशरण अग्रवाल, 'मार्कण्डेय पुराण, एक अध्ययन', पृ० 37
2. श० ब्रा०, 14, 8, 1, 10
3. 'प्राणा देवाः' (वही 3, 6, 1, 15)
4. मोतीलाल शास्त्री, 'सांस्कृतिक व्याख्यान पञ्चक', भूमिका, पृ० 11
5. श० ब्रा०, 1, 2, 6, 8
6. वही, 5, 2, 4, 13
7. 'यदरोदीत् तस्माद्रुद्रः' (वही, 6, 1, 3, 10)

एक क्रम में आठ भी कहा है[1] जिन्हें कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के प्रथम श्लोक में शिव के आठ प्रत्यक्ष शरीरों के रूप में वर्णित किया है।[2]

उपर्युक्त सभी प्राजापत्य-सृष्टि-प्रक्रियाओं के मूल में वह आदि काम-तत्त्व सन्निहित है जिसे ऋग्वेद[3] में मनस् का प्रथम बीज कहा गया है। प्रजापति उस काम का मानवत्वारोपित प्रतिनिधि है।[4] प्रजापति की सृष्टि प्रयाससाध्य नहीं थी। वह श्वास-प्रश्वास की भाँति स्वयं ही उद्भूत हुई।[5] प्रजापति इस सहज सृष्टि को कभी-कभी पुनः अपने भीतर समेटने की इच्छा करता है। सहस्रायु यज्ञ करने वाला प्रजापति अपनी आयु की अन्तिम सीमा को नदी के पार की तरह देख लेता है।[6] तीनों लोकों का स्रष्टा तथा शिल्पी प्रजापति 'नृचक्षा' है।[7] तात्पर्य यह है कि मनुष्यों के मन ही उसकी दृष्टियाँ हैं जिनके द्वारा की गई अनुभूति-समष्टि ही उसके दृश्य हैं। अन्तरिक्ष, आत्मा तथा अन्तरिक्षगत वायु इसके प्राण हैं, द्यौ सिर तथा सूर्य-चन्द्र चक्षु हैं।[8]

दैवीय सृष्टि

तीनों लोकों की सृष्टि से पूर्व देवों की उत्पत्ति का विचार भी शतपथ में किया गया है। 'प्रारंभ में केवल ब्रह्म ही था।[9] उसने देवों को उत्पन्न किया। उसने ही देवों का सृजन कर उन्हें लोकों में स्थापित किया। इस लोक में अग्नि को, अन्तरिक्ष में वायु को तथा द्युलोक में सूर्य को।'[10] निस्सन्देह ही ये तीन देवता प्रजापति के पूर्वोक्त विभक्त तनू हैं जिन्हें तीनों लोकों में स्थापित किए जाने की चर्चा पहले हो चुकी है (श० ब्रा०, 3, 9, 4, 12)।

पृथिवी

शतपथ (7, 3, 1, 20) में प्रजापति ही सृष्टि को उत्पन्न करने वाला भी

---

1. श० ब्रा०, 6, 1, 3, 18
2. अभि० शा०, 1, 1
3. ऋग्वेद, 10, 129, 4
4. ए० ए० मैक्डॉनल, 'वैदिक मिथालॉजी', पृ० 24
5. श० ब्रा०, 10, 4, 2, 1
6. 'स यथा नद्यै पारं परापश्येत् एवं स्वस्यायुषं पारं पराचख्यौ' (वही, 11, 1, 6, 6)
7. वही, 6, 7, 4, 5
8. वही, 7, 1, 2, 7
9. शतपथ के अनुसार 'ब्रह्म' प्रजापति ही है : 'सर्वम् ब्रह्म प्रजापतिः' (वही, 7, 3, 1, 42)
10. वही, 11, 2, 3, 1

कहा गया है किन्तु संभवतः देवों के माध्यम से, क्योंकि कहा गया है कि 'प्रजापति के द्वारा जिन देवों की सर्वप्रथम उत्पत्ति हुई उन देवों ने राक्षसों से स्वयं को बचाने के लिए पृथिवी बनाई। कारण यह था कि यहाँ वे स्वयं को स्वयं से छिपा सकने में समर्थ थे।[1] संभवतः मानव भी पृथिवी के इस गुण से प्रभावित है अतः वह स्वयं को (अपने दुर्गुणों को) स्वयं से (अपनी आत्मा से) ही छिपा लेता है अथवा अपने शुद्ध चैतन्यरूप को अपने अज्ञान से छिपा लेता है।

पृथिवी, जिसे शतपथ में 'इदं' शब्द द्वारा द्योतित किया गया है, परिमण्डल अर्थात् गोलाकार कही गई है।[2] अतः वेदी पृथिवी की नाभि है।[3] पृथिवी पुष्कर-पर्ण है। पृथिवी के चारों ओर का आपस्-तत्त्व पुष्कर है तथा उसमें स्थित यह धरती पर्णवत् है—

> आपो वै पुष्करम् तासामियं पर्णम्। यथा ह वा इदं पुष्करपर्णमप्स्व-ध्याहितम्

जल में कमलपत्र के समान पृथिवी की प्रस्तुत कल्पना वस्तुतः शतपथीय मनीषियों के मस्तिष्क की बहुमूल्य एवं मनोहर सृष्टि है।

पृथिवी को मर्त्यलोक भी कहा गया है। पहले मर्त्य एवं स्वर्गलोक एक ही थे। दोनों के अलग होने पर जो भाग मध्य में रहा वह अन्तरिक्ष कहलाया।[4]

दिशाएँ

पृथिवी की उत्पत्ति के उपरान्त दिग्भ्रम समाप्त हो गया क्योंकि दिशाएँ निश्चित हो गई थीं। दिशाओं की संरचना के बारे में भी शतपथ में प्रचुर संकेत उपलब्ध हैं। जो कुछ विश्लिष्ट हो जाता है वह दिशाओं द्वारा संधीय हो जाता है।[5] दिशाएँ नौ हैं।[6] उदीची मनुष्यों की तथा प्राची देवों की दिशा है।[7] संभव है प्रस्तुत विभाजन प्रजापति-पुत्र देवों तथा मनुपुत्र मनुष्यों के निवास-स्थल-सम्बन्धी किसी ऐतिहासिक तथ्य का भी संकेतक हो।

---

1. 'आत्माऽऽत्मानं गोप्स्यतीति' (श० ब्रा०, 6, 5, 4, 1)
2. मैक्डानल, 'वैदिक मिथॉलॉजी', पृ० 9
3. श० ब्रा०, 7, 4, 1, 8
4. वही, 7, 1, 2, 23
5. 'यद्विश्लिष्टम्। दिग्भिर्वैतत् संधीयते। तस्मादेते दिशौ संहिते' (वही, 6, 4, 3, 5)
6. वही, 6, 8, 2, 10
7. उदीची हि मनुष्याणां दिक्। प्राची हि देवानां दिक्' (वही 3, 6, 1, 23)

केन्द्रबिंदु सूर्य

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का केन्द्रविन्दु सूर्य को माना गया है। सारी प्रजा इसके चारों ओर स्थित है। सूर्य ही देवानांवीर है—तत एते देवानांवीरा अजायन्त अग्निः, यो अयं पवते सूर्यः।[1] यह सूर्य आदित्य है जिसने इन तीनों लोकों को सूत्रबद्ध कर रखा है—असावेव तदादित्य इमांल्लोकान्सूत्रे समावयते तद्यत्तत्सूत्रं उपरि तस्य बन्धुः।[2] तीनों लोक क्रमशः भूर्भुवःस्वः' हैं—भूरिति वा अयं लोकः भव इत्यन्तरिक्ष लोकः स्वरित्यसौ लोकः।[3]

सृष्टि की आदि प्रजाएँ द्विविध थीं—आदित्य तथा अङ्गिरस। इनमें अंगिरस प्रजा ने सबसे प्रथम यज्ञ किया।[4] प्रजा ही इस सम्पूर्ण विश्व की ज्योति है।[5]

शतपथ ब्राह्मण के अग्नि-चयन के प्रसंग में यज्ञ की वेदी की रचना-प्रक्रिया भी सृष्टि के शाश्वत एवं सार्वभौम यज्ञ के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत की गई है।[6] शतपथ के अनुसार सृष्टि के विकास के मूल में द्वन्द्व-क्रिया है। (द्वन्द्वं हि मिथुनं प्रजननम्, श० ब्रा०, 4, 3, 6, 3) तथा इंद्रियाँ ही इस विकास की वास्तविक शक्ति हैं।[7]

शतपथ ब्राह्मण में उपर्युक्त रूपों में सृष्टि की यद्यपि विविध प्रकार से निर्वचना की गई है तथापि सब कुछ अनिर्वच ही कहा गया है—

सर्वं वा अनिरुक्तम्[8]

जो कुछ निरुक्त है वह परिमित है तथा जो अनिरुक्त है वह अपरिमित है।[9] शतपथ के अनुसार प्रजापति स्वयं अनिरुक्त है।[10] इसीलिए उसे 'कः'

---

1. श० ब्रा०, 2, 2, 4, 10
2. वही, 7, 3, 2, 13
3. वही, 8, 7, 4, 5
4. 'द्वय्यो ह वा इदमग्रे प्रजा आसुः आदित्याश्चैव अंगिरसश्च। ततो अंगिरसः पूर्वे यज्ञं समभरन्' (वही, 3, 5, 1, 13)
5. वही, 8, 3, 2, 2
6. वेदी-निर्माण-सम्बन्धी सृष्टिरचना के लिए द्रष्टव्य, गंगाप्रसाद उपाध्याय, शतपथ ब्राह्मण (हिन्दी अनुवाद), भाग 1, भूमिका, पृ० 131
7. श० ब्रा०, 5, 4, 3, 18
8. वही, 7, 3, 2, 2
9. वही, 5, 4, 4, 13
10. वही, 7, 3, 2, 2

(प्रश्नवाचक) कहा जाता है अतः 'कः' संज्ञक अनिरुक्त प्रजापति को ही हवियाँ समर्पित की जानी चाहिए।

प्रजापतिर्वैकस्तस्मैहविषा विधेम[1]

संवत्सर

शतपथ में समय की सामान्य व्याहृति काल है।[2] ऋग्वेद के अनुसार काल की वार्षिक इकाई को संवत्सर कहा गया है।[3] शतपथ में जहाँ संवत्सर के चौबीस अर्धमासों का वर्णन है वहाँ कालजन्य अर्थ ही अभिप्रेत है।[4] इसी स्थल पर संवत्सर का प्रजापति तथा यज्ञ से भी समीकरण किया गया है। संवत्सर का निर्वचन शतपथ में निम्न भाँति प्राप्त है—

सऽऐक्षत प्रजापतिः। सर्वं वा अत्सारिषं य इमा देवता असृक्षीति
स सर्वत्सरोऽभवत् सर्वत्सरो ह वै नामैतद्यत्संवत्सर इति[5]

अर्थात् प्रजापति ने देवों द्वारा उत्पन्न सब कुछ (सर्व) चुराकर छिपा लिया। (अत्सारिषम्) अतः सर्वत्सर कहलाया किन्तु परोक्ष में वह संवत्सर कहलाने लगा। यहाँ देवों द्वारा उत्पन्न भूत-सृष्टि (द्रष्टव्य, सं० सं० 10, पृ० 209) का कालरूप संवत्सर में अन्तर्निहित हो जाना ही संवत्सर की चोरी है अतः स्पष्ट ही संवत्सर काल का प्रतीक एवं प्रजापतिरूपी यज्ञ है। इस संवत्सररूपी काल-चक्र को ऋतुओं, मासों तथा दिन-रात में विभक्त करने वाला सप्तरश्मियों से युक्त सूर्य है जिसका ऋग्वेद में निम्नरूपेण यशोगान किया है—

सप्त युंजन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधितस्थः॥[6]

ऋतुएँ

सूर्य की उक्त त्रिनाभि तीन ऋतुओं—ग्रीष्म, वर्षा तथा हेमन्त की प्रतीक हैं। शतपथ के अनुसार प्रत्येक ऋतु के प्रारंभ में चातुर्मास्य यज्ञ का विधान

---

1. श० ब्रा०, 7, 3, 1, 20
2. वही, 1, 7, 3, 3; 2, 4, 2, 4
3. संवत्सरं (वर्षभर) शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः' (ऋग्वेद, 7, 103, 1)
4. श० ब्रा०, 4, 1, 1, 15
5. वही, 11, 1, 6, 12
6. ऋग्वेद, 1, 164, 2

तीन ऋतुओं में संवत्सर के विभाजन का समर्थक है।[1] इन तीनों के लिए एक जगह 'त्रियुग' व्याहृति भी मिलती है[2] किंतु वहाँ वसन्त, वर्षा तथा शरद् अर्थ अभिप्रेत है। प्रस्तुत विभाजनव्यवस्था के अनुसार एक अग्नि सूर्य को व्यवस्थित रखता है।[3]

शतपथ (2, 1, 3, 1) ने संवत्सर को देवों तथा पितरों में द्विधा भी विभक्त किया है जिसके विवरण की रूपरेखा निम्न प्रकार है—

	देवों से सम्बन्धित	पितरों से सम्बन्धित
ऋतु	वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा	शरद्, हेमन्त, शिशिर
पक्ष	शुक्ल पक्ष	कृष्ण पक्ष
अहोरात्र	दिवस	रात्रि
पूर्वापराह्ण	पूर्वाह्ण	अपराह्ण
दिक्	उत्तर दिशा	दक्षिण दिशा

उपर्युक्त विभाजन छः ऋतुओं की स्थिति का द्योतक है जिसका शतपथ में अन्यत्र भी समर्थन मिलता है।[4] कहीं कहीं पाँच ऋतुओं का भी उल्लेख है।[5] यहाँ संभवतः हेमन्त और शिशिर का एकीकरण कर दिया गया है। तीन से पाँच संख्या में ऋतु-परिवर्तन को ज़िम्मर महोदय आर्यों की पूर्व-दिशा की ओर प्रगति का सूचक मानते हैं।[6] शतपथ में अन्यत्र ऋतुओं की सात संख्या[7] भी संकेतित है किसके लिए स्पष्टीकरण दिया गया है कि छः ऋतुओं के पश्चात् सातवीं ऋतु स्वयं संवत्सर है—

सा (संवत्सरः) ऋतुभिरेव सप्तविधः षड्तवः संवत्सर एव सप्तमी विधा[8]

अतः स्पष्ट है कि ऋतुओं के सम्बन्ध में उक्त संख्याओं का सापेक्ष महत्त्व है। ऋतुओं की संख्या के बारे में सापेक्ष मतवैविध्य होते हुए भी कुल ऋतुओं को बारह मासों में ही विभाजित किया गया था। ऋतुओं की संख्या छः मानने

1. श० ब्रा०, 1, 6, 3, 36; 13, 4, 1, 2
2. वही, 7, 2, 4, 26
3. वही, 7, 1, 1, 35
4. वही, 1, 7, 2, 21; 2, 4, 2, 24
5. वही, 3, 1, 4, 5; 3, 1, 3, 17; 7, 1, 1, 135
6. जिम्मर के विचार के लिए द्रष्टव्य, 'वैदिक इंडेक्स' (हिन्दी अनुवाद), भाग 1, पृ० 123
7. श० ब्रा०, 9, 3, 1, 19
8. वही, 10, 2, 6, 2

पर प्रत्येक ऋतु के दो मास माने गए—

अथ या उत्तरतः मासास्ते वासंतिकौ द्वौ
ग्रैष्मौ द्वौ वार्षिकौ द्वौ . . . आदि[1]

जर्मनी में भी बारह रात्रियों के प्रति आदर व्यक्त किया जाता है अतः जिम्मर यह निष्कर्ष प्रदान करते हैं कि प्रस्तुत पद्धति इण्डो-जर्मन है ।[2]

अग्निरूपी प्रजापति ने वसन्त ऋतु को अपने श्वासप्रश्वास से, ग्रीष्म को मनस् से, वर्षा को चक्षुओं से, शरद् को श्रोत्रों से तथा हेमन्त को वाक् द्वारा निर्मित किया ।[3]

वसन्त ऋतु के दो मास चैत्र तथा वैशाख को मधु तथा माधव भी कहा जाता था ।[4] ग्रीष्म के लिए निदाघ[5] तथा समा[6] शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं । शुक्र तथा शुचि क्रमशः ग्रीष्म के दो मासों, ज्येष्ठ तथा आषाढ़, को कहा गया है ।[7]

शतपथ के अनुसार वर्षा ऋतु का महत्त्व उल्लेखनीय है जो सम्पूर्ण ऋतुओं का प्रतिनिधित्व करती है—

वर्षा वै सर्व ऋतवः . . . वर्षा ह त्वेव सर्वेषां ऋतूनां रूपम्[8]

इसी स्थल पर ब्राह्मणकार का कथन है कि 'वर्षादिद्वर्षा' अर्थात् वर्ष से ही वर्षा बना है अतः वर्षा (ऋतु) पूरे वर्ष का प्रतीक है । वर्षा ऋतु को 'प्रावृष' भी कहा जाता था ।[9] इस ऋतु के दो मास, श्रावण तथा भाद्रपद, क्रमशः 'नभस्' तथा 'नभस्य' भी कहलाते थे ।[10] वर्षा ऋतु में प्रचुर वर्षा होती थी । फलस्वरूप वर्ष प्रसन्नता से व्यतीत होता था । यही कारण है कि वर्षा ऋतुओं में सर्वोपरि मानी जाती थी । तत्कालीन विचारानुसार वर्षा होने का कारण था द्यावा-पृथिवी का सम्मिलन—

यदा वै द्यावा पृथिवी संजानाते अथ वर्षति[11]

1. श० ब्रा०, 8, 5, 2, 14
2. द्रष्टव्य, वेबर, 'इंदिशे स्तूदिएन', 10, 242
3. श० ब्रा०, 8, 1, 2, 8
4. वही, 7, 4, 2, 29
5. वही, 13, 8, 1, 4
6. वही, 6, 2, 1, 25
7. वही, 8, 2, 1, 16
8. वही, 2, 2, 3, 7
9. वही, 5, 5, 2, 3
10. वही, 8, 3, 2,5
11. वही, 1, 8, 3, 12; 1, 7, 2, 16 तथा ऐ० ब्रा०, 3, 1, 2, 2

वर्षा होने से पूर्व आज की भाँति पुरवाई हवा भी चलती थी जिसे 'पुरोवात' कहा गया है।[1]

आश्वयुज तथा कार्तिक—जिन्हें क्रमशः इषः तथा ऊर्जः भी कहा जाता था—के मासों में शरद् का आगमन हो जाता था।[2] हेमन्त ऋतु को ऋतुओं में स्वाहाकार (अंतिम) कहा गया है। हेमन्त सम्पूर्ण प्रजा को वशंगत बना लेता है क्योंकि ओषधियाँ म्लान हो जाती हैं, वृक्षों से पत्तियाँ गिरने लगती हैं, पक्षी नीचे उड़ते हैं तथा अधिकाधिक मात्रा में चले जाते हैं।[3] निरुक्तकार ने भी हेमन्त का निर्वचन ओषधियों की म्लानता से सम्बन्धित ही किया है।[4]

वर्ष तथा मास

वर्ष की मध्यावधि का दिन 'विषूवन्त' कहा जाता था।[5] तिलक की सम्मति में इसका शाब्दिक अर्थ वह दिन है जब रात्रि तथा दिन की अवधि बराबर होती है—अर्थात् सम्पातिक दिन।[6] वर्ष का प्रारंभ फाल्गुन मास से होता था क्योंकि फाल्गुनी में पूर्ण चन्द्रमा को वर्ष का मुख कहा गया है।[7] वसन्त के प्रारंभ में फाल्गुन मास के पड़ने के प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं।[8]

वर्ष सामान्यतया 360 दिवस अथवा 12 मासों में विभक्त था।[9] पृथिवी को 'जगती' कहा जाना भी वर्ष के बारह मासों की स्वीकृति का प्रतीक है[10] क्योंकि जगती छन्द के अक्षरों तथा पृथिवी के मासों, दोनों की बारह संख्या समान है किन्तु मल-मास या अधिक मास के अस्तित्व का भी ज्ञान था, अतः यदा-कदा संवत्सर को तेरह मास वाला भी बताया गया है।[11] वस्तुतः वर्ष का औसत 365 दिन 5 घण्टे 48 मिनट तथा 46 सेकिण्ड था।[12] ज्योतिष द्वारा यह पद्धति पूर्णतः

---

1. गेल्डनर, 'वेदिशे स्तूदिएन', 3, 120, नोट 2 तथा श० ब्रा०, 1, 5, 2, 18
2. श० ब्रा०, 8, 3, 2, 6
3. वही, 1, 5, 4, 5; 10, 4, 5, 2
4. निरुक्त, 4, 4, 62
5. श० ब्रा०, 10, 1, 2, 2; 10, 1, 3, 14 आदि
6. तिलक, 'ओरायन', 21, 22
7. श० ब्रा०, 6, 2, 2, 18
8. वही, 1, 6, 3, 36
9. वही, 11, 1, 1, 7
10. 'इयं वै जगती' (वही, 6, 2, 1, 29)
11. वही, 7, 2, 3, 9; 3, 6, 4, 23; 2, 2, 3, 27; 6, 2, 2, 29 आदि
12. वही, 6, 1, 3, 8; 11, 5, 4, 6

समर्थित है जिसके अनुसार $29\frac{16}{31}$ दिनों वाले 62 महीने = 1830 दिन पाँच वर्षों का आनुपातिक लेखा है।

शुक्ल तथा कृष्ण पक्ष

शुक्ल तथा कृष्ण पक्षों को शतपथ में क्रमशः 'यव' तथा 'अयव' भी कहा गया है। मास का प्रारंभ शुक्ल पक्ष से ही माना जाता था।[1] फाल्गुनी पौर्णमासी वर्ष की अंतिम पौर्णमासी होती थी जिस दिन उत्सव की व्यवस्था होती थी।[2] महीने में पूर्णिमा के बाद का आठवाँ दिन विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता था।[3] पंचविंश ब्राह्मण में भी वर्ष के इस प्रकार के बारह दिनों का उल्लेख मिलता है जिन्हें पूर्णिमा के बारह तथा अमावस्या के बारह दिनों के बीच स्थिर किया गया है। भाष्यकारों के अनुसार यह माघ की पूर्णिमा के बाद का आठवाँ दिन था।[4] मकर संक्रान्ति के बाद की इस अष्टमी को 'एकाष्टका' के नाम से आज भी महत्त्व दिया जाता है।

मास के कृष्ण-पक्ष को 'दर्श' या 'अमावस्या' कहा गया है। अमावस्या का निर्वचन निम्न प्रकार से प्राप्त है—

ते देवा अब्रुवन् अमा वै नोऽद्य वसुर्वसति[5]

अर्थात् आज के दिन वसु हमारे समीप (अमा) वसता है (वसति) अतः अमावस्या नाम पड़ा। अमावस्या का द्योतक 'दर्श' शब्द अधिकतर पूर्णमास के साथ यौगिक रूप में आता है।[6] अमावस्या के लिए यह भी कहा गया है कि इस दिन सूर्य चाँद को ग्रस कर उदित होता है। सूर्य चन्द्रमा को चूसकर फेंक देता है।[7] यही कारण है कि चन्द्रमा को अन्न तथा सोम कहा गया है।[8] अतः यह प्रतीति होती है कि सूर्य में चन्द्रमा के प्रवेश का सिद्धान्त माना जाता था।[9]

---

1. श० ब्रा०, 6, 7, 4, 7; 8, 4, 2, 11; 5, 4, 5, 21
2. वही, 6, 2, 2, 18; 11, 2, 4, 8
3. वही, 6, 2, 2, 23; 11, 1, 1, 7 आदि
4. पञ्च० ब्रा०, 10, 3, 11
5. श० ब्रा०, 1, 6, 4, 3
6. वही, 11, 2, 2, 1
7. वही, 1, 6, 4, 19
8. वही, 8, 3, 4, 11; 2, 4, 2, 8
9. वही, 1, 6, 4, 18; 10, 6, 2, 3; 11, 1, 6, 19

शतपथ में संवत्सर तथा धाता (नियामक) रूप प्रजापति के लिए—संवत्सर में बारह मास होने के कारण—द्वादश कपाल पुरोडाश का विधान है।[1] इस समय अनुमति, राका, सिनीवाली तथा कुहू को पूर्व-हवि के रूप में चरु भी प्रदान किया जाता है।[2] विद्वान् इन चारों देवियों को चन्द्रमा के चार पक्षों का मानवीकृत रूप मानते हैं।[3]

अनुमति	पूर्णिमा का पूर्व भाग
राका	पूर्णिमा का दिन
सिनीवाली	अमावस्या का पूर्व भाग
कुहू	अमावस्या का दिन

वेबर के विचारानुसार इस स्थल पर 'धाता' का अर्थ सूर्य है जो चन्द्रमा का प्रतिनिधित्व कर रहा है।[4] शतपथ में अनुमति को पृथिवी भी कहा गया है।[5]

अहोरात्र विभाजन

शुक्ल तथा कृष्ण पक्षों के अतिरिक्त दिन-रात में काल-विभाजन की प्रक्रिया भी परिलक्षित है। दिन को 'अह्न' तथा रात्रि को 'नक्तम्' कहा गया है। पूर्वाह्न दिन का पूर्व भाग तथा अपराह्न परवर्ती भाग था।[6] अपराह्न के अन्तिम भाग को सायं या संध्या कहा जाता था।[7] दिन या रात काल-पुरुष के दो पहरेदार कहे गए हैं—

अहोरात्रे परिवेष्ट्री[8]

'मुहूर्त्त' शब्द भी शतपथ (10, 4, 2, 8) में समय की एक लघु इकाई के रूप में प्रयुक्त है जो दिन के तीसवें भाग (48 मिनट) का द्योतक है। समय का

---

1. श० ब्रा०, 9, 5, 1, 38
2. 'अनुमतिराकासिनीवालीकुहूभ्यश्चरवोधात्तोद्वादशकपाल:सर्वहुत:' (का० श्रौ० सू०, 18, 106
3. निरुक्त, 11, 21
4. वेबर, 'इन्देन स्तूडिएन', 13, 290। सिनीवाली के विशेष विवेचन हेतु द्रष्टव्य, वही, 5, 230
5. श० ब्रा०, 5, 2, 3, 4
6. वही, 1, 6, 3, 12; 2, 1, 4, 2; 3, 4, 4, 2
7. वही, 7, 3, 2, 18
8. वही, 11, 2, 7, 5

निम्न सूक्ष्मातिसूक्ष्म विभाजन शतपथकालीन आर्यों के अद्भुत निरीक्षण का परिणाम है यथा—

"एक वर्ष में दस हजार आठ सौ मुहूर्त तथा उनसे पन्द्रह गुने क्षिप्र, क्षिप्र के पन्द्रह गुने एतर्हि। एतर्हि के पन्द्रह गुने इदानी। इदानी के पन्द्रह गुने प्राण। जितने प्राण हैं उतने ही श्वास-प्रश्वास हैं। उतने ही निमेष। जितने निमेष हैं उतने ही लोमगर्त। उतने ही स्वेद आयन . . . इत्यादि।"[1]

नक्षत्र विज्ञान

काल-विभाजन का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नक्षत्रों से था। शतपथकालीन आर्य नक्षत्र-विद्या में पारंगत प्रतीत होते हैं। नक्षत्र का निर्वचन शक्तिरहित (न+क्षत्रम्) के अर्थ में किया गया है।[2] तत्कालीन विद्वानों का विचार है कि पहले ये नक्षत्र शक्ति के पुंज थे जैसाकि यह सूर्य है। किन्तु ज्योंही सूर्य उदित हुआ इसने नक्षत्रों से वीर्य का आदान कर लिया। आदान करने के कारण ही सूर्य आदित्य कहलाया तथा क्षत्र-रहित हो जाने के कारण नक्षत्र नक्षत्र कहलाए।[3] सूर्य के लिए ग्रह शब्द का प्रयोग भी किया गया है।[4] ऋग्वेद में प्रयुक्त 'वेन' शब्द को तिलक महोदय शुक्र-ग्रह का पर्याय मानते हैं।[5]

नक्षत्रों के सम्बन्ध में कहा गया है कि 27 नक्षत्र हैं तथा 27 ही उप-नक्षत्र। ये कुल 720 हैं। तथा इनके अतिरिक्त 36 और हैं।[6] यजुष्मती ईंटों की 356 संख्या को पूरा करने के लिए प्रस्तुत गणना अशुद्ध प्रतीत होती है।[7] एगलिंग का विचार है कि वेदी संवत्सर की प्रतीक है तथा संवत्सर में कुल 720 दिन तथा रात्रियाँ होती हैं। अतः यह समानता प्रस्तुत की गई है।[8] इसके अतिरिक्त सप्तर्षियों का ज्ञान भी तत्कालीन आर्यों को था। यह कहा गया है कि सप्तर्षि ही पहले 'सप्त-ऋक्ष' (ग्रेट बीअर) कहलाते थे।[9] हरिस्वामिन् का विचार है कि

1. श० ब्रा०, 12, 3, 2, 5
2. वही, 2, 1, 2, 18
3. वही, 2, 1, 2, 17
4. वही, 4, 6, 5, 1
5. तिलक, 'ओरायन', 163 तथा बाद
6. श० ब्रा०, 10, 5, 4, 5
7. द्रष्टव्य, ए० वेबर, 'नक्षत्र', भाग 2, पृ० 298
8. एगलिंग, 'द शतपथ ब्राह्मण, भाग 4, पृ० 383
9. श० ब्रा०, 9, 2, 3, 14; 2, 1, 2, 4

ऋक्षीका शब्द का सम्बन्ध भी इस रूप में सप्तर्षियों से रहा होगा ।[1]

उपर्युक्त 27 नक्षत्रों में से कतिपय का विवरण शतपथ में मिलता है । ऋग्वेद (10, 85, 13) में उक्त अर्जुनी नक्षत्र को शतपथ में फाल्गुनी कहा गया है ।[2] विशाखा नक्षत्र से युक्त पौर्णमासी जिस महीने में होती है वह वैशाख कहलाता है ।[3] मृगशिरा एवं रोहिणी नक्षत्रों के लिए शतपथ (2, 1, 2, 8) तथा ऐतरेय ब्राह्मण (3, 33) का प्रजापति-सम्बन्धी आख्यान महत्त्वपूर्ण है जिसमें प्रजापति के निषिद्ध कर्म करने के कारण भूत्वत् (रुद्र) देव द्वारा प्रजापति को बाण-विद्ध करने की कथा है जहाँ मृगरूपी प्रजापति मृगशिरा नक्षत्र बना तथा पुत्री रोहिणी बन गई ।[4] वैशाख की अमावस्या रोहिणी नक्षत्र में पड़ती थी (श० ब्रा०, 11, 1, 1, 7) । पुनर्वसु, हस्त तथा चित्र नक्षत्रों का भी उल्लेख उपलब्ध है (श० ब्रा०, 2, 1, 2, 10-12) । चित्रा 'अल्फा वर्जिनिस' नामक एक पाश्चात्य सुन्दर तारा है जिसका तैत्तिरीय ब्राह्मण के इन्द्र-आख्यान तथा शतपथ के दिव्य श्वानों के आख्यान में वर्णन किया गया है ।[5] नक्षत्रों के सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उल्लेख कृत्तिका नक्षत्रों का है जिनके लिए वर्णित है कि कृत्तिकाएँ पूर्व दिशा से च्युत नहीं होतीं जबकि अन्य सभी नक्षत्र च्युत हो जाते हैं—

> एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते[6]

इसी स्थल पर यह भी उल्लेख है कि कृत्तिकाओं की संख्या अन्य नक्षत्रीय तारों की संख्या से अधिक है । इन कृत्तिकाओं को ऋक्षों की पत्नियाँ भी कहा गया हैं अतः संभव है कि पूर्वोक्त 'ऋक्षीका' शब्द भी इन्हीं कृत्तिकाओं का पर्याय हो ।[7]

कृत्तिका नक्षत्रों के पूर्व दिशा से च्यवित न होने सम्बन्धी प्रस्तुत प्रसंग ने इतिहासज्ञों को वेदों के काल-निर्णय को प्रमाणित करने में भी प्रचुर सहायता प्रदान की है ।

---

1. द्रष्टव्य, श० ब्रा०, 13, 2, 4, 2 पर हरिस्वामिन् की टीका
2. श० ब्रा०, 2, 1, 11, 2
3. वही, 11, 1, 1, 7
4. प्रस्तुत उपाख्यान शिव द्वारा काम को भस्म किए जाने रूपी परवर्ती कथा का स्रोत प्रतीत होता है । साथ ही सौर-मंडल में होने वाली नक्षत्र घटना का संकेत भी देता है ।
5. श० ब्रा०, 2, 1, 2, 13
6. वही, 2, 1, 2, 1
7. द्रष्टव्य, इसी पृष्ठ की सं० सं० 1

शतपथ[1] में 'अर्यमणः पन्थाः' का उल्लेख हुआ है जिसका समर्थन तैत्तिरीय ब्राह्मण[2] तथा पंचविंश ब्राह्मण[3] भी करते हैं। वेबर के अनुसार इसका अर्थ आकाशगंगा है।[4]

सृष्टि एवं संवत्सर-विज्ञान-सम्बन्धी उपर्युक्त विवरण निश्चय ही शतपथ-कालीन मनीषियों की सूक्ष्म एवं गहन निरीक्षणशक्ति का द्योतक है। यद्यपि आधुनिक विकसित विज्ञान-युग में तत्कालीन ज्योतिर्विदों के कुछ फलितार्थ अशुद्ध सिद्ध किए जा सकते हैं किन्तु उस वैज्ञानिकसाधन-विहीन युग में केवल सूक्ष्म निरीक्षणों द्वारा इतने अधिक निष्कर्षों का यथातथ्य चित्रण उनकी विलक्षण प्रतिभा का परिचायक है। इन्हें काल्पनिक उड़ान अथवा कर्मकाण्डीय ब्राह्मणों की थोथी बकवास कहना नितान्त भ्रमपूर्ण कथन है।

---

1. श० ब्रा०, 5, 3, 1, 2
2. तै० ब्रा०, 1, 7, 6, 6
3. पञ्च० ब्रा०, 25, 12, 3
4. द्रष्टव्य, मैक्डॉनल तथा कीथ, 'वैदिक इंडेक्स', भाग 1, में 'नक्षत्र' शब्द

अष्टम अध्याय

पशु-पक्षी तथा वनस्पति-जगत्

पशु-पक्षी तथा वनस्पति-जगत् के अध्ययन का महत्त्व किसी मानव समूह के सांस्कृतिक अध्ययन से संदर्भित है। विशेषतः एक ऐसे युग के सांस्कृतिक अध्ययन में, जिसमें प्रकृति और पशु-पक्षी-जगत् मानव के पड़ौसी ही नहीं, उसके अभिन्न सखा-सहचर थे तथा सारा जीवन निसर्ग-केंद्रित था, पशु-पक्षी तथा वनस्पति-जगत् का अध्ययन निश्चय ही तत्कालीन समाज के सांस्कृतिक अध्ययन की आधारभित्ति का काम देगा।

शतपथ ब्राह्मण में पशु शब्द संज्ञा तथा विशेषण, दोनों ही रूपों में प्रयुक्त हुआ है। विशेषण रूप में पशु पाँच हैं—अश्व, गो, अवि, अज तथा मनुष्य[1]—जिन्हें यज्ञीय पशु माना गया है। मनुष्य को पशु मानने में संभवतः 'आहार-निद्रा-भय मैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्' में अन्तर्निहित भर्तृहरि की विचारधारा वाला भाव विद्यमान है। पशु शब्द का निर्वचन शतपथ में निम्न-रूपेण पाया जाता है—

> स एतान् पंचपशूनपश्यत्। यदपश्यत्तस्मादेते पशवः तेष्वेतमपश्यत् तस्मादेते पशवः।[2]
>
> स एतान् पंचपशूनपश्यत्। पुरुषमश्वं गामविमजम् यदपश्यत्तस्मादेते पशवः।[3]

अर्थात् प्रजापति ने इन्हें देखा (अपश्यत्) तथा इन्होंने प्रजापति को स्वयं में देखा, इसलिए इन्हें पशु विशेषण दिया गया। पशु का शतपथ में अन्न से साम्य स्थापित किया गया है—

> पशवो ह्यन्नम्[4] अन्नं पशवः।[5]

संभवतः इससे यह तात्पर्य है कि प्रजापति ने इन पशुओं में 'अन्नत्व' को देखा,

---

1. श० ब्रा०, 2, 8, 4, 16; 10, 2, 1, 1
2. वही, 6, 2, 1, 4
3. वही, 6, 2, 1, 2
4. वही, 3, 7, 1, 20
5. वही, 8, 3, 2, 10

अतः ये 'पशु' संज्ञा से अभिहित किए गए। एक स्थान पर शतपथ में सात पशुओं की भी चर्चा है।[1] सायणाचार्य के अनुसार उपर्युक्त पाँच पशुओं के अतिरिक्त दो पशु गधा तथा ऊँट थे किन्तु यह अनुमान संदिग्ध है।

प्रजापति द्वारा उत्पन्न प्रजा का विभाजन अन्य प्रकार से भी द्रष्टव्य है। इस दृष्टि से प्रजा के दो भेद—उभयदन्त तथा अन्योदन्त—हैं।[2] इस प्रकार घोड़ों, गधों आदि की भेड़, बकरी तथा गाय आदि से विभेदात्मक व्याहृति प्राप्त होती है। इनमें मनुष्य उभयदन्त श्रेणी में आता है।

द्विपाद तथा चतुष्पाद भी पशुओं के विभाजन का प्रकार है जहाँ मनुष्य को द्विपाद पशु तथा पशुओं में प्रथम प्रदर्शित किया गया है।[3] यह भी उल्लेख है कि सौ वर्ष तक जीवित रहने वाला एकमात्र पशु मनुष्य है।[4] उसे पशुओं का राजा भी कहा गया है।[5]

प्रस्तुत विवरण 'पशु' शब्द के निर्वचनात्मक एवं दार्शनिक पक्ष को ही प्रस्तुत करता है। अंग्रेजी भाषा में भी 'एनीमल' शब्द द्वारा पशु तथा मनुष्य को समानाधिकरण प्राप्त है, जिसमें सामाजिक (सोशल) विशेषण द्वारा पृथकत्व प्रदर्शित किया जाता है।[6] किन्तु रूढ़ अर्थ में भी पशु शब्द की व्याहृतियों का शतपथ में अभाव नहीं है। अनेक वार 'चौपाए ही पशु हैं' समीकरण व्यवहृत हुआ है।[7] 'चतुष्पद' शब्द का पशुओं के लिए संज्ञा-रूप प्रयोग भी प्राप्त है।[8] संभवतः इन 'चतुष्पद पशुओं' को ही 'अन्न' कहा गया है।[9] ये चतुष्पद पशु एकशफ तथा द्विशफ रूप में भी विभक्त किए गए हैं—

एकशफो वाऽएष पशु यदश्वः।[10]

देह-रचना-क्रम में पशुओं की पूँछ सबसे अन्त में निर्मित होने की चर्चा

1. श० ब्रा०, 2, 8, 4, 16
2. वही, 1, 6, 3, 30
3. वही, 6, 2, 1, 18
4. वही, 7, 2, 5, 17
5. वही, 4, 5, 5, 7
6. 'मैन इज ए सोशल एनीमल' (एक अंग्रेजी कहावत)
7. श० ब्रा०, 8, 3, 2, 10
8. वही, 3, 7, 3, 2
9. 'चतुष्पादा वै पशवः, 'अन्नं पशवः' (वही, 8, 3, 2, 10)
10. वही, 7, 5, 2, 33

है ।[1] देह-रचना-जन्य उपर्युक्त प्रभेदों के अतिरिक्त पशुओं के दो भेद, ग्राम्य तथा आरण्य, निवासजन्य भी हैं, जिनका क्रमशः पालतू तथा वन्य अर्थ अभिप्रेत है। इन दोनों प्रकार के पशुओं की संख्या समान है—

सप्त ग्राम्याः पशवः सप्तारण्याः ।[2]

पशुओं का नामोल्लेख नहीं किया गया है। पशुओं की चारित्रिक विशेषता हेतु कथन उपलब्ध है कि प्रजापति ने पशुओं को स्वेच्छाचारी होने का वरदान दिया तथा उनसे कहा कि 'तुम जो कुछ, जब कभी काल में या अकाल में पाओगे, खा सकोगे' ।[3] इसीलिए पशु अपने भोजन में समयातीत तथा नियमातीत हैं।

पशु एक विशिष्ट गंध से समाविष्ट हैं ।[4] देवताओं ने यह गंध सोम से लेकर पशुओं में प्रविष्ट की थी, अतः उल्लेख है कि इस गंध को घृणित समझ कर नाक बन्द नहीं करनी चाहिए।

स्तनपायी पशुओं में कनीयस्तनाः (कम स्तनों वाले) पशुओं को अधिक उपयोगी कहा गया है तथा भूयस्तनाः (अधिक स्तनों वाले) पशु अपेक्षाकृत कम उपयोगी थे ।[5] उपयोगिता की दृष्टि से पशु को परम-धन कहा गया है—

श्रीर्हि पशवः ।[6]

शतपथ ब्राह्मण का उक्त समीकरण लेटिन भाषा के पेकुस (Pecus) शब्द के अर्थ 'सम्पत्ति' की ओर दृष्टि-निक्षेप के लिए विवश करता है। 'पशुस्' शब्द के सन्निहितार्थ को लिए हुए, पेकुस् शब्द बनना भाषा-विज्ञान का विषय है। यहाँ पर तो ग्राम्य तथा आरण्य विभाजन को दृष्टि में रखते हुए शतपथ का तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण प्रस्तुत करना है।

ग्राम्य पशु

शतपथ में उल्लिखित सात ग्राम्य पशु संभवतः गाय, घोड़ा, भेड़, बकरी, गधा, ऊँट तथा कुत्ता थे किन्तु सर्वाधिक महत्ता गो की प्रदर्शित की गई है।

---

1. श० ब्रा०, 8, 2, 4, 18
2. वही, 2, 3, 4, 1; 3, 8, 4, 16; 9, 3, 1, 20; 9, 5, 2, 8
3. वही, 2, 4, 2, 4
4. वही, 4, 1, 3, 8
5. वही, 6, 5, 2, 19
6. वही, 1, 8, 1, 36

तत्कालीन कृषि-प्रधान समाज में गाय तथा गोधन के महत्त्व की सर्वोपरिता अप्रत्याख्येय है। यज्ञ-दक्षिणा के रूप में सहस्र गायों तक के दान का उल्लेख है। दक्षिणा के रूप में सर्वप्रमुख देय गाय थी, इसलिए गाय के पर्याय के रूप में 'दक्षिणा' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा।[1] 'गो' की बहुमुखी उपयोगिता के कारण मानव-जीवन से इसका अभिन्न सम्बन्ध था। क्रिया-विशेष तथा रूप-विशेष की दृष्टि से गाय के विभिन्न नाम दृष्टिगत होते हैं। दुधमुहाँ बछड़ा 'अतृणाद' तथा दूध देने वाली गाय 'धेनु' पुकारे जाते थे।[2] धेनु ही माँ है जो मनुष्यों की सभी इच्छाओं को पूरा करती है तथा मानवों का भरण-पोषण करती है।[3] इसके अतिरिक्त पृषती,[4] रोहिणी[5] तथा श्यामा[6] गायों का उल्लेख मिलता है। एक जगह आश्चर्य प्रकट किया गया है कि श्यामा गाय के श्वेत बछड़ा तथा श्वेत गाय के काला बछड़ा कैसे उत्पन्न हो जाता है?[7] गाएँ शाला में रखी जाती थीं तथा अन्य पशु गोष्ठ में। गायों का दूध दिन में तीन बार निकाला जाता था। दूध निकालने के दोपहर के समय को संगव कहा गया है (श०ब्रा०, 2, 2, 3, 9)। गाय का बछड़ा मरने पर अन्य बछड़े को लेकर दूध देने के लिए जिस गाय को हिलाया जाता था वह गाय 'निवान्या' कहलाती थी।[8] गर्भपात हो जाने वाली गाय 'वेहत'[9] तथा संतति के अयोग्य गाय को 'अनुवंध्या'[10] या 'वशा'[11] कहा गया है। वंध्या गायों को हल तथा गाड़ी चलाने के काम में भी लाया जाता था।[12]

सांड को ऋषभ तथा बैल को अनड्वाह, उक्षा, गो आदि कहा गया है। अनड्वाह गाड़ी खींचने वाले बैल की विशिष्ट संज्ञा थी।[13] अनडुह अग्नि का

1. श० ब्रा०, 11, 1, 6, 22
2. वही, 2, 2, 1, 21; 12, 8, 2, 2
3. 'धेनुरिव वा इयं मनुष्येभ्यः सर्वान् कामान् दुहे। माता धेनु मातेव वा इयं मनुष्यान् बिभर्त्ति।' (वही, 5, 3, 1, 4)
4. वही, 5, 5, 2, 9
5. वही, 2, 1, 2, 6
6. वही, 5, 2, 5, 8
7. वही, 9, 2, 3, 30
8. वही, 2, 6, 1, 6
9. वही, 12, 4, 4, 6
10. वही, 3, 8, 5, 11
11. वही, 5, 4, 5, 22
12. वही, 2, 1, 4, 17; 5, 3, 4, 11
13. वही

बंधु था ।[1] बैल को वधिया भी किया जाता था । वधिया किए गए बैल यज्ञ की दक्षिणा देने के लिए प्रयुक्त होते थे[2] जिन्हें महानिरष्ट कहा गया है । शितिपृष्ठ[3] तथा पृषन्-गो (चित्रवर्ण गो) भी बैल के ही विशेषण थे । बौने बैल अथवा ऋषभ यज्ञ की दक्षिणा के लिए प्रयुक्त होते थे ।[4] बैल शक्ति का प्रतीक माना जाता था । 'महोक्ष' से तात्पर्य यज्ञीय बैल से है ।[5] बैलों का प्रमुख कार्य हल चलाना था। शतपथ में इतने भारी हलों का उल्लेख है जिनमें आठ, बारह तथा चौबीस संख्या तक बैल जोते जाते थे ।[6]

अश्व

शतपथ में उल्लेख है कि गाय दूध धारण करती है, बैल बल तथा अश्व गति ।[7] गति का सम्बन्ध यहाँ अश्व की आशुता तथा त्वरा से है । इसीलिए रथ में युक्त घोड़े के पर्याय रूप में 'आशु' शब्द का प्रयोग भी मिलता है ।[8] अश्व की महत्ता को द्योतित करने के लिए कहा गया है कि अश्व 'क्षत्र' है तथा अन्य पशु 'विश' । प्रस्तुत कथन अश्व की सामरिक उपयोगिता का प्रदर्शक भी है । अश्व मनुष्यों का ही नहीं, देव, गंधर्व तथा असुरों का भी सम्बन्धित पशु है तथा प्रत्येक से संयुक्त होकर भिन्न नाम धारण कर लेता है—

> हयो भूत्वा देवानवहद् । वाजी गंधर्वान् । अर्वा असुरान् । अश्वो मनुष्यान् ।[9]

अश्व समुद्र का बंधु है तथा समुद्र ही अश्व की योनि है ।[10] वैदिक साहित्य में 'समुद्र' शब्द सिंधु के पर्याय के रूप में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है । सिंधु प्रदेश के घोड़े उत्तमता के लिए प्रसिद्ध थे, अतः अश्व को 'सैन्धव' भी कहा

---

1. श० ब्रा०, 2, 1, 4, 17
2. वही, 5, 5, 4, 35
3. वही, 5, 5, 1, 12
4. वही, 5, 2, 5, 4
5. वही, 3, 4, 1, 2
6. वही, 7, 2, 2, 6
7. वही, 13, 1, 9, 3
8. वही, 5, 3, 3, 3
9. वही, 10, 6, 4, 1
10. वही

गया है ।[1] इसी द्विविध समीकरण के कारण समुद्र को संभवतः अश्व की योनि बताया गया है ।

अश्व को 'धान्याद' भी कहा जाता था (श० ब्रा०, 13, 5, 4, 2) । अतः स्पष्ट है कि चारे के अतिरिक्त उसे 'दाना' भी खिलाया जाता था । अश्व एक-शफ पशुओं की श्रेणी में था ।[2] सामरिक उपयोग के अतिरिक्त यह गाड़ी भी खींचता था ।[3] घोड़ों की लगामों का बारम्बार उल्लेख हुआ है, जिन्हें अभीशु तथा वल्गा कहा जाता था ।[4] अवरोधकों (अश्वाभिधानी) तथा कौड़ों (अश्वाजनि) का भी उल्लेख मिलता है ।[5] घोड़ों को रथों में भी जोता जाता था । नायक के रूप में आगे सन्नद्ध घोड़े को पूर्ववह[6] कहा गया है, तथा पार्श्वस्थ अश्व को प्रष्टि । प्रष्टिमन्त तथा प्रष्टिवाहन रथ के विशेषण रूप में भी प्रयुक्त हुए हैं ।[7] दाहिनी ओर सन्नद्ध अश्व को दक्षिणा-युग्म या दक्षिणा-प्रष्टि कहा जाता था (श० ब्रा०, 5, 1, 4, 6; 9, 4, 2, 11) । प्रस्तुत विवरण से रथ में सामान्यतया चार अश्व जोड़े जाने की प्रतीति होती है । दधिक्रा एक ऐसे अश्व की संज्ञा थी जो मार्गावरोधों को लाँघता हुआ दौड़ जाता था ।[8] 'दौर्गह' नाम का भी एक अन्य विशिष्ट अश्व था ।[9] मादा अश्व को सामान्यतया 'वडवा' कहा जाता था । अश्व से गर्दभी में गर्भाधान द्वारा उत्पन्न नर तथा मादा खच्चरों की अश्वतर तथा अश्वतरी संज्ञा प्राप्त है ।[10] ये घोड़ों से हीन पशु समझे जाते थे ।[11] 'निर-अष्ट' शब्द के अश्वों के लिए प्रयोग से अश्वों के बधियाकरण की प्रथा का अनुमान लगाया जा सकता है ।[12]

---

1. श० ब्रा०, 11, 5, 5, 12 । वैदिक साहित्य में 'सैंधव' शब्द अलग-अलग अर्थों का प्रदाता है : तै० सं० (7, 4, 13, 1) में जल, अथर्ववेद (19, 38, 2) में गुग्गुल, बृ० उप० (2, 4, 12) में नमक, तथा श० ब्रा० में अश्व ।
2. वही, 7, 5, 2, 33
3. वही, 5, 5, 4, 35
4. वही, 5, 4, 3, 14
5. वही, 6, 3, 1, 26; 13, 1, 2, 3
6. वही, 2, 1, 4, 17
7. वही, 13, 3, 3, 9; 5, 2, 4, 9
8. वही, 5, 1, 5, 19
9. वही, 13, 5, 4, 5
10. वही, 12, 4, 1, 10
11. वही, 6, 4, 4, 7
12. वही, 13, 4, 2, 5

अश्व को पशुओं में श्रेष्ठ माना गया था। 'अस्य सलिलस्य पारेऽश्वः श्वेतः स्थाणौ सेवते' में सूर्य को लक्ष्य कर 'अश्व' का प्रतीकात्मक प्रयोग भी इस पशु के सर्वोच्च महत्त्व को प्रकट कर रहा है।[1] आज भी शक्ति का प्रतीक 'अश्व' को ही माना जाता है जैसाकि यंत्रों की शक्ति के लिए हार्सपावर शब्द-प्रयोग से प्रमाणित है। शतपथ में भी अन्यत्र कहा गया है कि 'शक्ति ही अश्व है'[2] तथा 'वज्र ही अश्व है।'[3]

अज

ग्राम्य पशुओं में अज (बकरा) का महत्त्व भी विशेष रूप में दर्शाया गया है। अज प्रजापति है।[4] समीकरण का कारण अत्यन्त रोचक है। अज तथा अजा का बहुसृजकत्व उसे प्रजापति के समकक्ष बना देता है क्योंकि ये वर्ष में तीन बार एक-साथ दो या तीन बच्चे उत्पन्न करते हैं। तूपर (विषाणविहीन) बकरे यज्ञ के योग्य माने जाते थे।[5] शतपथ में अज को 'छाग' भी कहा गया है।[6] राजस्थानी भाषा में बकरी को आज भी 'छाळी' कहा जाता है जो संभवतः छाग के स्त्रीलिंग रूप 'छागली' का ही रूपांतर मात्र है। अजा के गलस्तनों की भी चर्चा की गई है।[7] बकरियों आदि के चरने के लिए विस्तृत चरागाह थे। विविध प्रकार के पौधों की पत्तियों के खाने के कारण बकरी का दूध उत्तम माना जाता था।[8] संभव है सोम (पौधे) के उत्पत्ति-स्थलों पर रहने वाली बकरियों को सोम की पत्तियाँ चरने का सौभाग्य मिलता रहा हो। अज की इन सभी महिमाओं के कारण उसे 'महाज' की उपाधि दी गई[9] तथा ब्राह्मण से समीकरण प्रस्तुत किया गया है।[10]

अवि

भेड़-बकरी द्वन्द्व समास के अनुसार शतपथ में अजा-अवि समस्त पद मिलता

---

1. श० ब्रा०, 3, 6, 2, 4
2. वही, 2, 1, 4, 24
3. वही, 6, 3, 3, 12
4. वही, 5, 2, 1, 24
5. वही, 5, 1, 3, 7
6. वही, 3, 3, 3, 4
7. वही, 4, 1, 5, 19
8. 'अजा ह सर्वा औषधीरत्ति' (वही, 6, 5, 4, 16)
9. वही, 3, 4, 1, 2
10. वही, 6, 4, 4, 12

है। बकरियों की तरह भेड़ों के भी गलस्तन होते थे जिन्हें 'मल्हा' कहा गया है।[1] भेड़ों के लिए मेष तथा मेषी शब्दों का भी प्रयोग मिलता है।[2] सोम रस छानने के लिए भेड़ की ऊन की छलनी बनाई जाती थी तथा इनकी ऊन वस्त्रनिर्माण के काम में भी आती थी।[3] भेड़-बकरियाँ घर में न पाल कर गड़रियों द्वारा पाली जाती थीं।[4] इसलिए अजा-अवि का प्रचुर उल्लेख होते हुए भी घर से इनका सम्बन्ध नहीं दर्शाया गया है।

रासभ

शतपथ में इस पशु से सम्बन्धित ज्ञातव्य प्रचुरता से मिलता है। इसे खर,[5] रासभ,[6] गर्दभ,[7] द्विरेतस्,[8] तथा भार-भारितम[9] आदि अनेक नामों से पुकारा जाता था। गर्दभी को अश्व से गर्भ धारण कराये जाने के कारण इन्हें 'द्विरेतस्' कहा जाता था। अश्वी को भी द्विरेतसा कहा जाना विलोम क्रिया की संभावना को भी जन्म देता है। राख के ढेर पर लोट लगाने की प्रवृत्ति गधे की आदिम प्रवृत्ति ज्ञात होती है जिसके सम्बन्ध में शतपथ में उद्धृत है कि 'राख के ढेर से गधा उत्पन्न हुआ अतः जहाँ कहीं राख का ढेर होता है लोग कहते हैं यह 'गर्दभ-स्थान' है।[10] गधा वस्तुतः घोड़े से हीन पशु था इसलिए अश्व जहाँ 'क्षत्र' का प्रतीक है, 'रासभ' वैश्य एवं शूद्र का।[11] अश्व से हीन बताने पर भी इसे उत्तम भारवाहक पशु स्वीकार किया गया है।[12]

उष्ट्र

बोझा ढोने वाले पशुओं में ऊँट का उल्लेख कई जगह किया गया है।[13]

---

1. श० ब्रा०, 5, 5, 4, 1
2. वही, 2, 5, 2, 15
3. वही, 3, 3, 4, 18
4. वही, 4, 1, 5, 2
5. वही, 5, 1, 2, 15
6. वही, 6, 1, 1, 1
7. वही, 4, 5, 1, 9
8. वही, 6, 3, 1, 23
9. वही, 4, 5, 1, 9
10. वही
11. वही, 6, 4, 4, 12
12. वही, 4, 5, 1, 9
13. वही, 1, 2, 3, 9; 7, 5, 2, 35

रौथ तथा ओफ्रैख्त महोदय इस शब्द का अर्थ 'उच्च स्कंध का बैल' या जंगली भैंसा करते हैं किन्तु इस दुरूहारोहण की आवश्यकता नहीं है जबकि ऊँट के लिए उष्ट्र शब्द पर्याय रूप में आज तक चला आ रहा है। शतपथ में बोझा ढोने वाले पशु के अर्थ में 'वाहन'[1] शब्द का प्रयोग भी मिलता है। राजस्थान की थळी की भाषा में आज भी ऊँट को 'वहत' कहा जाता है जो उक्त 'वाहन' का ही परिवर्तित रूप ज्ञात होता है।

कुत्ता

पालतू पशुओं में कुत्ता महत्त्वपूर्ण पशु दिखाई देता है। 'पुनःसर' ऐसे कुत्ते की उपाधि है जिसे चोरों को देखकर भौंकना सिखाया जाता था।[2] कुत्ते के लिए श्वापद संज्ञा का प्रयोग भी हुआ है।[3] संभवतः इसी का स्त्रीलिंग शब्द शुनी है। अस्वच्छ माने जाने के कारण इसे बलि के अयोग्य कहा गया है।[4] चरवाहे अपने पशुओं के साथ शिकारी कुत्ते रखते थे।[5] एक स्थान पर कुत्ते को 'चार-चक्षुष' कहा गया है जहाँ उसका चौकन्नापन अभिप्रेत है।[6] दूतों को 'चारचक्षुष' कहे जाने का भी यही कारण रहा होगा। चौकीदारी की प्रवृत्ति के कारण चन्द्रमा की उपमा कुत्ते से दी गई है—

स हैष दिव्यः श्वा। स यजमानस्य पशूनभ्यवेक्ष्यते[7]

कुक्कुट

कुक्कुट (मुर्गे) भी पाले जाते थे जिनकी मधुर वाणी के कारण उन्हें 'मधुजिह्व' कहा गया है (श० ब्रा०, 1, 1, 4, 18)। किन्तु असुरों के लिए वे विषजिह्व थे, संभवतः इसलिए कि आर्यों की अपेक्षा असुर ब्राह्म मुहूर्त में जागना पसंद नहीं करते होंगे। अतः उस समय आवाज देकर जगाने वाला कुक्कुट स्वभावतः ही उन्हें विषजिह्व लगता होगा।

उपर्युक्त विवरण से प्रकट है कि शतपथकालीन संस्कृति में पशु-पालन उपयोगिता तथा कलात्मकता दोनों दृष्टियों से उच्चस्तरीय था। उपयोगिता का दृष्टिकोण इतना वैज्ञानिक था कि विभिन्न क्रियाओं तथा उपयोगों की

---

1. श० ब्रा०, 9, 4, 2, 11
2. वही, 5, 2, 4, 20
3. वही, 11, 1, 5, 1 (संभवतः जंगली कुत्तों के लिए यह शब्द प्रयुक्त हुआ हो।)
4. वही, 6, 5, 2, 19; 12, 4, 1, 4
5. वही, 11, 1, 5, 1
6. वही, 13, 1, 2, 9
7. वही, 11, 1, 5, 1

दृष्टि से ही पशुओं को विभिन्न नाम दिए गए, अतः एक पशु के अनेक पर्याय मिलते हैं। पालतू पशुओं के चरने के लिए उपयुक्त लवण-मय भूमि छाँटी जाती थी जिसे 'ऊष' कहते थे।[1] गायों के यूथ-रक्षक को 'गोपाल' कहा जाता था।[2] पशुओं को तोत्र से अथवा दंड से हाँका जाता था,[3] अश्व तथा अश्वतर को संभवतः दण्ड से।[4] गायों आदि के खड़े होने के स्थान को गोष्ठ[5] तथा स्वसर[6] कहा गया है। सूर्यास्त होने पर पशु गोष्ठ में बाँधे जाते थे किन्तु मध्याह्न में संगविनी में चले जाते थे।[7] इस प्रकार पशुपालन की तत्कालीन परम्परा सुनियोजित दृष्टिगत होती है।

आरण्य पशु

शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित 'दीर्घारण्य'[8] शब्द से ज्ञात होता है कि उस समय उत्तर-पूर्वी भारत में विस्तृत वन थे जिनमें वन्य पशुओं की बहुतायत रही होगी। एक स्थान पर दावाग्नि की भी चर्चा है,[9] जो घने वनों की स्थिति का समर्थन करती है। गाँवों की बसावट इस प्रकार थी कि दो गाँवों के मध्य जंगल पड़ते थे जिनमें चोर-लुटेरों के साथ वन्य पशु भी रहा करते थे जो ग्रामीणों को अत्यधिक परेशान करते थे।[10] इन मध्यस्थानीय वनों में रहने वाले पशुओं में केवल 'ऋक्षीका' (रीछों) का उल्लेख ही मिलता है। यह संभव है कि इन वनों में रीछ तथा दीर्घारण्यों में सिंह, व्याघ्र, वृक[11] तथा शृगाल[12] आदि बसते थे। जुम्बक सफेद, चितकबरा तथा पिंगाक्ष पशु था जिसके दाँत आगे निकले रहते थे।[13] भेड़िये का उल्लेख भी अनेक बार हुआ है।[14] व्याघ्र घातक

1. श० ब्रा०, 5, 2, 1, 16
2. वही, 4, 1, 5, 4
3. 'दण्डप्रजितेन तोत्रप्रजितेन' (वही, 12, 4, 1, 10)
4. वही
5. वही, 11, 8, 3, 2
6. वही, 4, 3, 5, 20
7. वही, 2, 2, 3, 9
8. वही, 13, 3, 7, 10
9. वही, 11, 2, 7, 32
10. वही, 13, 2, 4, 2
11. वही 12, 7, 1, 8
12. वही, 12, 5, 2, 5
13. वही, 13, 3, 6, 5
14. वही, 5, 1, 5, 22; 3, 3, 4, 14

प्रकृति का पशु था। उसे श्वापद[1] तथा पुरुषाद (नरभक्षी) भी कहा गया है।[2] व्याघ्र यदि आरण्य पशुओं का राजा है तो वृक आरण्य पशुओं की 'जूतिः' (ओज) है।[3] व्याघ्र का इतर नाम शार्दूल भी मिलता है,[4] जिसकी चर्म यज्ञ में मैत्रावरुण वेदी के समक्ष बिछायी जाती थी। सिंह उन दिनों भी वन्य पशुओं का ईश (स्वामी) माना जाता था।[5] सिंहनी का भी कई जगह नामोल्लेख है जिसे सिंही कहा जाता था।[6] जंगली वराह भी मिलते थे, जिन्हें 'दुर्वराह' कहा गया है।[7] एडक नाम के एक अन्य वन्य पशु की भी चर्चा है, जिसे कुछ विद्वान् दुष्ट मेष का द्योतक मानते हैं। वाजसनेयी संहिता में उल्लिखित 'आरण्य मेष' संभवतः यही एडक पशु हो।[8] श्वा तथा दुर्वराह के साथ-साथ एडक भी अमेध्य पशु माना गया है। इन दोनों वन्य पशुओं के साथ श्वा का नामोल्लेख जंगली कुत्तों की स्थिति की संभावना प्रकट करता है अथवा यहाँ 'श्वा' शब्द 'श्वापद' नामधारी उस वन्य पशु का छोटा रूप है जिसे क्रूर कर्म वाला पशु कहा गया है क्योंकि श्वापद व्याघ्र का विशेषण भी हो सकता है या अलग से कोई विशिष्ट पशु भी। हस्ती का भी उल्लेख शतपथ में मिलता है जिसे अदिति-पुत्रों ने मनुष्य का माँस काटकर बनाया।[9] वानर की स्थिति अनिश्चित सी है किन्तु 'किंपुरुष' नाम के प्राणी को कुछ विद्वान् बन्दर ही मानते हैं। सेंट पीटर्सबर्ग कोश में भी वानर अर्थ दिया गया है जिससे वेबर भी सहमत हैं[10] किन्तु प्रो० हाग इसका 'बौना' तथा मैक्समूलर 'जंगली मनुष्य' अर्थ करते हैं। वानर की स्थिति अस्पष्ट होते हुए भी वनमानुषों का उल्लेख प्राप्त है जिन्हें 'मयु'[11] कहा जाता था। वनों में मृग भी दौड़ लगाते थे।[12] कृष्ण-मृग तो

---

1. श० ब्रा०, 5, 5, 4, 10
2. वही, 12, 7, 1, 8
3. वही
4. वही, 5, 4, 1, 9
5. वही, 12, 7, 1, 8
6. वही, 3, 5, 1, 33; 3, 5, 1, 21
7. वही, 12, 4, 1, 4
8. वही, 12, 4, 1, 4; 2, 5, 2, 1
9. वही, 3, 1, 3, 4
10. द्रष्टव्य, मैकडॉनल तथा कीथ, 'वैदिक इण्डेक्स', प्रथम भाग, 'किंपुरुष' तथा 'वानर' शब्दों की संरचना का मूल एक होने--अर्थात् किं पुरुष ? वा नरः ? (क्या यह आदमी है ?) के कारण किंपुरुष वानर की ही इतर संज्ञा है।
11. श० ब्रा०, 7, 5, 2, 22
12. वही, 11, 8, 4, 3

तत्कालीन भारत का प्रतीक था जिसकी चर्म महत्त्वपूर्ण मानी जाती थी। यहाँ तक कि मात्र 'कृष्ण' शब्द ही कृष्णमृग का अर्थ देने में समर्थ देखा गया है।[1] एक विशेष प्रकार के मृग को सारंग भी कहा जाता था।[2] मृग, कृष्ण एवं लोहित दो रंगों में मिलते थे। इनके अतिरिक्त शश[3] तथा शलली[4] (सेही) जैसे वन्य जन्तुओं का भी अभाव न था। बाल सुलझाने तथा आँखों में अंजन लगाने के लिए शलली के कांटों का प्रयोग होता था।

शरभ[5] नामक एक पशु था जिसे सायण ने 'सिंह-घातक' कहा है। अन्य विद्वान् इसे आठ पाँवों वाला पशु मानते हैं जो हिममंडित पर्वतों में रहता था और सिंह तथा हाथी का शत्रु था। तैत्तिरीय संहिता में 'न पालतू, न जंगली' कहे जाने वाले 'गोमृग'[6] का शतपथ में भी उल्लेख मिलता है। सायणाचार्य ने इसे गाय तथा मृग के सांकर्य से उत्पन्न पशु विशेष कहा है। अन्य इसे आजकल प्राप्त बैल की जाति-विशेष 'गयल' अथवा नीलगाय मानते हैं। इनके अतिरिक्त गवय तथा गौर पशु भी थे जिनका स्वरूप अज्ञात है।[7]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि शतपथकालीन मानव का पशु-सम्बन्धी ज्ञान विस्तृत एवं गवेषणापूर्ण था। पशुओं के साथ निकट सम्पर्क के बिना यह ज्ञान असंभव था।

पशु ही नहीं विभिन्न पक्षियों तथा अन्य जीवों के सम्बन्ध में भी शतपथ सारगर्भित एवं रोचक वर्णन प्रस्तुत करता है। तत्कालीन मानव समाज पक्षियों में भी विशेष रुचि रखता प्रतीत होता है। कपिंजल, कलविंक तथा तित्तिरि[8] पक्षियों का एक साथ अनेक बार उल्लेख किया गया है। कलविंक का समीकरण तीतर से किया गया है किन्तु तीतर का अलग से उल्लेख होने के कारण यह समानता अनुचित है। कलविंक शराबी की तरह लड़खड़ाती आवाज में बोलता था। गोरैया पक्षी का पर्याय भी इसे बताया गया है।[9] कपिंजल भूरे रंग का

1. श० ब्रा०, 1, 1, 4, 1
2. वही, 3, 3, 4, 23
3. वही, 11, 1, 5, 3
4. वही, 2, 6, 4, 5
5. वही, 1, 2, 3, 4
6. वही, 13, 3, 4, 3
7. वही, 1, 2, 3, 9
8. वही, 1, 6, 3, 3; 5, 5, 4, 4
9. गंगाप्रसाद उपाध्याय, (श० ब्रा०, हिन्दी अनुवाद, पृ० 120) ने कपिंजल का अर्थ चातक तथा कलविंक का गोरैया किया है।

पक्षी था जिसकी समानता कुछ विद्वान् चातक से तथा अन्य बाज अथवा बटेर से करते हैं। तीतर के पंखों पर घी तथा शहद के से दाग होते थे जिन्हें बहुरूप कहा गया है।[1] आकाश में चीलें भी उड़ती थीं जिन्हें कंक कहते थे।[2] शतपथ में श्येन पक्षी की महिमा विविध रूप में वर्णित है।[3] इसे 'क्षिप्रश्येन' कहने का अभिप्राय यही है कि पक्षियों में इसकी उड़ान क्षिप्रतम थी।[4] गायत्री द्वारा सोम लाने की क्रिया से इस पक्षी का सम्बन्ध होने के कारण यह महासुपर्ण, महाश्येन तथा महापक्षी कहलाता था।[5] पक्षी के डैने पर्ण कहलाते थे।[6] श्येन के शक्ति-सम्पन्न डैनों (पंखों) के कारण ही संभवतः यह सुपर्ण कहलाता था। सुपर्ण पक्षी के महत्त्व को उसके प्रासंगिक कथन द्वारा आँका जा सकता है, यथा पुरुष ही सुपर्ण है।[7] महासुपर्ण ही संवत्सर है।[8] प्रजापति ही सुपर्ण गरुत्मान है।[9]

शतपथ में शकुनि पक्षी का भी उल्लेख है जो श्येन से छोटा होता था तथा शकुन-अपशकुन की भविष्यवाणी करता था।[10] तैत्तिरीय संहिता के भाष्य-कार तथा एगलिंग के अनुसार यह 'काग' का ही वाचक है। शतपथ के पाँचवें कांड में हंस का भी उल्लेख है जिसे 'शुचिसद्' कहा गया है।[11] पक्षियों के घौंसलों को 'स्वसर' कहा जाता था।

इनके अतिरिक्त अनेक बार कई जलचर जीवों का भी प्रासंगिक उल्लेख मिलता है। कछुआ तत्कालीन सुपरिचित प्राणी है जिसे कूर्म या कश्यप कहा गया है।[12] झष तथा महामत्स्य दो प्रकार के मत्स्य थे।[13] जल-प्रलय की कथा से सम्बद्ध महामत्स्य एगलिंग के अनुसार सींगयुक्त मत्स्य था। मेंढक भी जल में रहने वाला प्राणी था जिसका अनेकशः वर्णन प्राप्त है।[14] पुरुरवा-उर्वशी

---

1. श० ब्रा०, 1, 6, 3, 5
2. वही, 6, 7, 2, 8
3. वही, 3, 3, 4, 15
4. वही, 10, 5, 2, 10
5. वही, 12, 2, 3, 7
6. वही, 1, 6, 3, 5
7. वही, 7, 4, 2, 6
8. वही, 12, 2, 3, 7
9. वही, 10, 2, 2, 4
10. वही, 14, 1, 1, 31
11. वही, 5, 4, 3, 22
12. वही, 1, 6, 2, 3; 7, 5, 1; 5
13. वही, 1, 8, 1, 4
14. वही, 9, 1, 2, 20

उपाख्यान में जिन 'आति'[1] जलपक्षियों का वर्णन है उन्हें महीधर ने 'आडी' तथा सायण ने 'चाष' का वाचक माना है किंतु एगलिंग के अनुसार ये हंस थे जिनका अप्सराओं ने रूप धारण किया था। शलभ (टिड्डियाँ)[2] कृषि को नष्ट करते थे। मधुमक्खियाँ, जिन्हें मधुकृत तथा सरघ[3] कहा गया है, मधु प्रदान करने के कारण बहुशः वर्णित हैं। चींटियों के उपजिह्विका, उपजीका तथा वम्र आदि अनेक भेद थे।[4] उपजिह्विका लाल तथा वम्र सफेद चींटी होती थी। ये चींटियाँ वल्मीक (टीला) बनाती थीं।[5] मिट्टी का टीला बनाने वाला दूसरा प्राणी था 'आखु' जो संभवतः चूहे का वाचक है। इसके द्वारा बनाए गए टीले को आखुकरीष या आखूतकर कहा गया है।[6] टीला बनाने का रहस्य भी दिया गया है कि चूहे इस पृथिवी का रस जानते हैं; जहाँ वह रस होता है वहीं वे खोदकर टीला बनाते हैं।[7] तैत्तिरीय ब्राह्मण के एक उपाख्यान में भी कहा गया है कि 'अग्नि ने एक बार देवों से स्वयं को छिपा लिया तथा चूहे का रूप धारण कर धरती खोदने लगा।'[8] एक जगह रुद्र से भी सम्बन्ध स्थापित किया गया है।[9] कुतरने वाले प्राणी का एक विशेषण व्य-अद्वर भी था।[10]

सरीसृप प्राणियों में अहि का अनेक बार उल्लेख मिलता है।[11] सर्प की केंचुली छोड़ने की क्रिया अनेक रूपों में वर्णित की गई है। शतपथ में केवल एक स्थान पर महानाग[12] शब्द प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ महान सर्प है या महान हाथी, कहना कठिन है।

पशु-पक्षी तथा अन्य प्राणियों से सम्बन्धित उपर्युक्त विवरण अत्यन्त विस्तृत,

---

1. श० ब्रा०, 11, 5, 1, 4
2. वही, 1, 2, 3, 9
3. वही, 3, 4, 3, 14; 13, 3, 1, 4; 1, 6, 2, 1
4. वही, 14, 1, 1, 8; 6, 6, 3, 6
5. वही, 2, 6, 2, 17; 6, 3, 3, 5
6. वही, 2, 1, 1, 7; 4, 5, 3, 15
7. वही, 2, 1, 1, 7
8. तै० ब्रा०, 1, 1, 3, 3
9. 'एष ते रुद्र भाग आखुस्ते पशुः' (श० ब्रा०, 2, 6, 2, 10) में वर्णित प्रस्तुत प्रसंग शिवपुत्र गणेश की सवारी की ओर दृष्टि-निक्षेप करने को विवश करता है क्योंकि पिता की निधि विरासत में पुत्र को मिल ही जाती है।
10. श० ब्रा०, 7, 4, 1, 27
11. वही, 11, 2, 6, 13
12. वही, 11, 2, 7, 12

रोचक तथा महत्त्वपूर्ण है। पशु-पक्षियों के अध्ययन के जिज्ञासु अध्येता के लिए शतपथ ने निःसंदेह प्रचुर सामग्री प्रस्तुत की है।

वनस्पति-जगत्

शतपथ ब्राह्मण वनस्पति विज्ञान का ग्रंथ नहीं है। प्रासंगिक रूप में ही यत्र-तत्र वनस्पतियों का उल्लेख उपलब्ध होता है। फिर भी तत्कालीन वनस्पति-जगत् की जानकारी के लिए यह एक विस्तृत कोश सदृश प्रतीत होता है। इसमें प्राप्त विवरणों द्वारा शतपथकालीन भारतीयों के वनस्पति-जगत् से घनिष्ट सम्पर्क एवं प्रेम का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। शतपथ में उपलब्ध वनस्पतियों का विवरण सुविधा की दृष्टि से वर्णक्रम से देना उचित प्रतीत होता है।

अध्यांडा : किसी श्मशान-स्थल के चुनाव के संदर्भ में इस पौधे का अन्य अनेक पौधों के साथ नामोल्लेख मात्र किया गया है।[1] अन्य ज्ञातव्य के अभाव में इस पौधे के सम्बन्ध में इतर अनुमान लगाना दुष्कर है।

अपामार्ग : अभिचारीय कुसृति एवं चिकित्सा हेतु इस पौधे का प्रयोग विशेषतः क्षेत्रिय के विरुद्ध किया जाता था।[2] अपामार्ग होम द्वारा देवों ने राक्षसों को अपने मार्ग से हटा दिया था।[3] मार्कण्डेय पुराण में इस पौधे का नाम 'आघाड़ा' दिया गया है।[4] पापों से मुक्त करने वाला यह पौधा जादू-टोने तथा यज्ञादि के लिए प्रयुक्त होता था।[5] एग्लिंग ने इसकी समानता 'एशीरेन्थस एस्पेरा' पौधे से की है।[6]

अर्क : इस पौधे का अनेक बार उल्लेख मिलता है। इसे अन्न कहा गया है।[7] शतपथ के नवम काण्ड से सम्बद्ध 'शतरुद्रिय' में रुद्र को समर्पित 425 हवियों में से एक हवि अर्क-पत्र की है।[8] आज भी शिव को अर्क-पुष्प अर्पित किए

---

1. श० ब्रा०, 13, 8, 1, 16
2. वही, 5, 2, 4, 14
3. वही, 5, 2, 4, 14
4. वी० एस० आप्टे, 'द स्टूडैण्ट्स संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी', पृ० 34
5. श० ब्रा०, 13, 8, 4, 4
6. अथर्ववेद, 4, 17, 6; 4, 18, 7; 7, 67, 1 आदि
7. एग्लिंग, 'द शतपथ ब्राह्मण', भाग 3, पृ० 52
8. श० ब्रा०, 9, 1, 1, 4
9. वही

जाते हैं। दसवें कांड में श्वेतकेतु आरुणेय के होता वैश्ववासव्य से अर्क के सम्बन्ध में शृंखलाबद्ध प्रश्न पूछे गए हैं जो इस पौधे के महत्त्व को प्रदर्शित करते हैं।[1] लेटिन में इसे 'कैलोट्रोपिस जिजैन्टा' कहते हैं।[2]

अवका : यह एक जलीय पौधा है जो यज्ञ-विधियों में प्रयुक्त हुआ करता था।[3] अथर्ववेद,[4] तैत्तिरीय संहिता[5] तथा मैत्रायणी संहिता[6] में भी इसका विवरण मिलता है। अथर्ववेद के अनुसार गंधर्व लोग इसे खाते भी थे।[7] संभवतः इसका परवर्ती नाम 'शैवल' है।[8] वेबर अवका को कमल का फूल मानते हैं।[9] एगलिंग 'ब्लाइक्सा आक्टेन्ड्रा' पौधे के रूप में इसे प्रस्तुत करते हैं।[10] श्रौतसूत्रों में इसका कुश के साथ उल्लेख किया गया है[11] जहाँ कुश जैसे शैवल पौधे का ही तात्पर्य प्रतीत होता है। इस पौधे की एक नदी में इतनी वहुतायत थी कि उसका नाम शैवलिनी नदी पड़ गया।[12]

अश्मगंधा : यह पौधा संभवतः परवर्ती काल में प्रचलित अश्वगंधा ही है जिसका शतपथ में उपर्युक्त अध्याण्डा नामक ओषधि के साथ उल्लेख हुआ है।[13] इसका लेटिन नाम 'किसेलिस फ्लेक्सुओसा' है।[14]

अश्वत्थ : अश्वत्थ जिसे पीपल का वृक्ष कहा जाता है, वैदिक युग में भी उतना ही मान्यताप्राप्त वृक्ष दिखाई देता है जितना आज के युग में। शतपथ ब्राह्मण में इसका उल्लेख शमी वृक्ष के साथ हुआ है जहाँ पवित्र अग्नि के अश्वत्थ रूप में तथा स्थाली के शमी रूप में परिवर्तित हो जाने की कथा है।[15] अग्नि

---

1. श० ब्रा०, 10, 3, 4, 3
2. एगलिंग, 'द शतपथ ब्राह्मण', भाग 4, पृ० 334
3. श० ब्रा०, 7, 5, 1, 11; 8, 3, 2, 5; 9, 1, 2, 20 आदि
4. 8, 7, 9
5. 4, 6, 1, 1
6. 2, 10, 1
7. अथर्ववेद, 4, 37, 8
8. कालिदास, अभि० शा०, 1, 19
9. वेबर, 'इन्देन स्तूदिएन', 13, पृ० 250
10. एगलिंग, वही, भाग 3, पृ० 392
11. का० श्रौ० सू०, 21, 85
12. वी० एस० आप्टे, 'संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी', पृ० 562
13. श० ब्रा०, 13, 8, 1, 16
14. एगलिंग, वही, भाग 5, पृ० 427
15. श० ब्रा०, 11, 5, 1, 13

उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त दो लकड़ियों में से ऊपरी लकड़ी के लिए इसी वृक्ष की लकड़ी का प्रयोग किया जाता था। इस वृक्ष का लेटिन नाम 'फाइकस रिलीज़िग्रोसा' है।[1] ऋग्वेद में इस वृक्ष का दो बार उल्लेख हुआ है जहाँ इसके सर्वप्राचीन होने (देवों के लिए तीन युग पूर्व उत्पन्न होने) तथा ओषधि के रूप में इसके एक सौ सात प्रयोग होने के कारण इसकी महिमा का वर्णन किया गया है तथा इसे 'अम्ब' सम्बोधन करके 'सहस्ररुह' भी कहा गया है—

शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वोरूहः[2]

विल्सन ने अपने अनुवाद में इस वृक्ष को चट्टानों में उगने वाला पौधा बताया है। अथर्ववेद के अनुसार भी इसकी महिमा का पार नहीं है।[3] यहाँ परम्परागत रूप में प्रचलित प्रवाद रूप में अश्वत्थ को देवों का निवासस्थल बताया गया है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि यह ऊर्ध्वमूल तथा सनातन है—

ऊर्ध्वमूलो अवाक्शाख एषो अश्वत्थः सनातनः[4]

गीता में भी[5] इसे ऊर्ध्वमूल अधःशाख एवं अव्यय बताकर अविनाशी ब्रह्म से इसकी समानता की गई है। पीपल के वृक्ष को देवों का निवासस्थल मानने की कल्पना का मूल स्पष्टतः शतपथ में दृष्टिगत होता है जहाँ मरुतों को इस पर स्थित बताया गया है और 'विश' तथा 'क्षत्र' को क्रमशः मरुत् एवं इन्द्र का समानार्थी बना इसे विश की विजय का प्रतीक सिद्ध किया है।[6] इसीलिए 'आश्वत्थ' के द्वारा वैश्य राजा का अभिषिचन करने को कहा गया है।

इस वृक्ष की प्रशंसा के मूल में निश्चितरूपेण इसकी सनातनता, ऊर्ध्वमूलता तथा औषधीय गुणों की अधिकता ही थी। अश्वत्थ की लकड़ी से पात्र भी बनते थे।[7]

अश्ववाल : अश्ववाल एक दर्भविशेष थी जो यज्ञ के किसी विशेष कर्म-सम्पादन के लिए एक घास के गुच्छे के रूप में जिसे प्रस्तर कहा गया है,

---

1. एगलिंग, 'द शतपथ ब्राह्मण,' भाग 5, पृ० 13
2. ऋग्वेद, 1, 135, 8; 10, 97, 1-10
3. वही, 19, 39, 6
4. कठोपनिषद्, 2, 6, 1
5. 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्' (गीता, 15, 1)
6. श० ब्रा० 4, 3, 3, 6
7. वही, 12, 7, 2, 14

प्रयुक्त होती थी। शतपथ ब्राह्मण में इस घास की उत्पत्ति को द्योतित करने के लिए एक लघु-उपाख्यान दिया गया है जिसमें इसका सम्बन्ध अश्व से है।[1] इसका शाब्दिक अर्थ भी 'घोड़े का बाल' है। संभवतः यह अश्व के बालों जैसी घास होती थी जिसे आजकल 'कास' कहा जाता है। यह तीन इंच से लेकर पन्द्रह इंच ऊँचाई तक उगती है और वर्षा ऋतु के बीतने पर फलती-फूलती है।[2] इसका समर्थन तुलसी भी करते हैं।[3] कुछ विद्वान् इसे 'नरकट घास' कहते हैं।[4] एग्लिंग के अनुसार इसका लेटिन नाम 'सैक्चरम स्पोन्टेनियम' है। इस दर्भ का वैदिक संहिताओं में उल्लेख नहीं मिलता है किन्तु ब्राह्मणों में इसका उक्त प्रस्तर (विष्णुस्तुप) के रूप में प्रयोग बाहुल्य द्रष्टव्य है।

उदुम्बर : उदुम्बर वृक्ष का शतपथ में अत्यधिक वर्णन मिलता है। अश्वत्थ एवं खदिर के साथ भी इसका उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में यह नाम अज्ञात है किन्तु अथर्ववेद में केवल एक बार आया है।[5] वहाँ इसका अर्थ उदुम्बर वृक्ष नहीं है। शतपथ में इसका माहात्म्य दर्शनीय है। यह सभी वनस्पतियों का प्रतीक है—

अथो सर्वऽएते वनस्पतयः यदुदुम्बरः। सर्वे वाऽएतं वनस्पतयो यन्तुमर्हन्ति[6]

यहीं इसे जीवन-तत्त्व भी कहा गया है। शतपथ के विवरणों से ज्ञात होता है कि सभी प्रकार के सांस्कारिक कृत्यों के लिए प्रायः इसी लकड़ी का व्यवहार होता था। इसीलिए इसे अन्न एवं ऊर्जा भी कहा गया है।[7] उदुम्बर ही प्रजापति का अपना वृक्ष है।[8] वाजपेय यज्ञ के समय सिंहासन भी इसी की लकड़ी से बनता था। इस लकड़ी के द्वारा यज्ञ-पात्रों के बनने का भी उल्लेख प्राप्त है।[9] शतपथ ब्राह्मण में उदुम्बर वृक्ष के सम्बन्ध में एक उपाख्यान दिया गया है जिसमें इसकी उत्पत्ति के बारे में संकेत देकर यह प्रदर्शित किया गया है कि जब सभी इतर वृक्षों ने असुरों का पक्ष लिया तब उदुम्बर अकेला देवों के पक्ष में रहा।[10]

---

1. श० ब्रा०, 3, 4, 1, 17
2. इलियट, रेसेज आफ द नॉर्थ वेस्ट प्राविंसेज', पृ० 371
3. 'फूले कास सकल महि छाई' (रामचरितमानस, किष्किंधा काण्ड, शरदवर्णन)
4. मैक्डॉनल तथा कीथ, 'वैदिक इण्डेक्स' (हिन्दी अनुवाद), पृ० 52
5. अथर्ववेद, 20, 136, 15
6. श० ब्रा०, 6, 7, 1, 13
7. वही, 3, 2, 1, 33
8. वही, 4, 6, 1, 3
9. वही, 5, 3, 4, 2
10. वही, 6, 6, 3, 2

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार उदुम्बर वर्ष में तीन बार फल देता है।[1] इसे लेटिन में 'फाइकस ग्लामेरेटा' कहते है।[2]

उदुम्बर का प्रयोग समिधा के रूप में भी होता था।[3] अनेक यज्ञपात्रों का उपादान भी यही वृक्ष था। बहुमुखी उपयोगों के कारण ही शतपथ ब्राह्मण तथा अन्य ब्राह्मणों में उदुम्बर वृक्ष की सर्वाधिक प्रशंसा की गई है।

आदार : आदार वृक्ष का उल्लेख सोम के एक स्थानापन्न पौधे के रूप में हुआ है। शतपथ में इसे 'पूतीक' के तुल्य बताया गया है।[4]

उशना : इसी प्रकार के एक वृक्ष 'उशना' का भी शतपथ में उल्लेख हुआ है जिससे सोम बनाया जाता था।[5] उशना ओषधि गिरि-पर्वतों पर उगती थी। श्वेतकेतु औद्दालकि का कथन है कि—

> देवो वै सोमो दिवि हि सोमो वृत्रो वै सोम आसीत्तस्यै तच्छरीरं यद्गिरयो यदश्मानस्तदेषोशाना नामौषधिर्जायतऽइति ह स्माह श्वेतकेतुरौद्दालकिः।[6]

करीर : शतपथ में करीर वृक्ष का निम्न उल्लेख प्राप्त है—

> तयोरुभयोरेव करीराण्यावपति। कं वै प्रजापतिः प्रजाभ्यः करीरैरकुरुत कम्वैवैषऽएतत् प्रजाभ्यः कुरुते[7]

सायण 'करीराणि' को फल का नहीं अपितु करीर शाखाओं का वाचक मानते हैं।[8] आप्टे के अनुसार करीर रेगिस्तान में उगने वाला काँटेदार वृक्ष है जिसे ऊँट खाते हैं।[9] भर्तृहरि ने इसे पत्तों से विहीन वृक्ष कहा है।[10] एगलिंग के अनुसार इसका नाम 'कैपेरिस एफाइला' है।[11] मेरी नम्र सम्मति में

---

1. ए० ब्रा०, 5, 24 में भी कहा गया है कि जो व्यक्ति निरंतर कर्म करता है उसे स्वादिष्ट उदुम्बर की प्राप्ति होती है (चरन् वै मधु विन्दते चरन् स्वादुमुदुम्बरम्)
2. एगलिंग, 'द शतपथ ब्राह्मण', भाग 2, पृ० 34
3. श० ब्रा०, 9, 2, 2, 3
4. वही, 4, 5, 10, 4; 14, 1, 2, 12
5. वही, 3, 4, 3, 13
6. वही, 4, 2, 5, 15
7. वही, 2, 5, 2, 11
8. तै० ब्रा०, 1, 8, 3 की सायण टिप्पणी
9. वी० एस० आप्टे, 'द स्टूडेंट्स संस्कृत इंग्लिश डिक्शरी', पृ० 135
10. 'पत्रं नैव यदा करीर विटपे दोषो वसन्तस्य किम्' (भर्तृहरि, 2, 93)
11. एगलिंग, 'द शतपथ ब्राह्मण, भाग 1, पृ० 394

यह ब्रज के करील कुंजों का करील वृक्ष ही है। 'रलयोरभेदः' सूत्र के अनुसार 'र' का 'ल' होना स्वाभाविक है। कृष्ण ने करील के कुंजों द्वारा गोपियों को जो सुख पहुँचाया था उसका प्रारंभिक सूत्र शतपथ में वहाँ मिलता है जहाँ यह कहा गया है कि प्रजापति (कृष्ण ?) ने करीरों के द्वारा प्रजाओं (गोपियों ?) को सुख पहुँचाया था।[1] अतः कृष्ण-कथा में 'करील' की कल्पना का उद्‌गमस्थल यही हो तो आश्चर्य न होगा। राजस्थानी भाषा में 'कैर' कहा जाने वाला वृक्ष ही संभवतः करीर है जो राजस्थान की सीमा से लगे ब्रज प्रदेश में प्रचुरता से उगता रहा होगा।

कार्ष्मर्य : ऋग्वेद में अप्राप्य कार्ष्मर्य वृक्ष का तैत्तिरीय तथा मैत्रायणी संहिता एवं शतपथ ब्राह्मण में प्रचुर वर्णन उपलब्ध है।[2] एगलिंग के अनुसार यह 'मेलिना आर्वोरिया' वृक्ष है।[3] यह एक रक्षोहण वनस्पति थी जिसे यज्ञ के संस्कार-विशेष में प्रयुक्त किया जाता था। इसके सम्बन्ध में राक्षसों को भगा कर देवों द्वारा यज्ञ-वितान का उपाख्यान भी दिया गया है।[4] कार्ष्मर्य शब्द का निर्वचन निम्न प्रकार है—

तद् यत्कृष्यमाणस्यावाङ्‌पतत्। तस्मात् कार्ष्मर्यः।[5]

अर्थात् आकृष्ट होकर नीचे गिरने के कारण इसका कार्ष्मर्य नाम हुआ। इस आकर्षण-विकर्षण गुण के कारण ही इस वृक्ष को यज्ञ में इतना महत्त्व दिया गया। इस आकर्षण गुण के कारण ही यह वृक्ष देवों के अनुकूल व राक्षसों के प्रतिकूल पड़ा। अमरकोश के अनुसार बेर की तीन जातियाँ—कुवल, कर्कन्धु व बदर—हैं तथैव 'शिवणी' की सात जातियों में से कार्ष्मर्य एक है—

गंभारी सर्वतोभद्रा, काश्मरी मधुपर्णिका
श्रीपर्णी भद्रपर्णी च कार्ष्मर्यश्च।[6]

कुवल, कर्कन्धु एवं बदर : बदरिक वृक्ष तथा उसके फल के लिए शतपथ में कुवल, कर्कन्धु एवं बदर का बारम्बार उल्लेख किया गया है। अमरकोश के

---

1. श० ब्रा०, 2, 5, 2, 11
2. वही, 3, 4, 1, 16
3. एगलिंग, 'द शतपथ ब्राह्मण', भाग 2, पृ० 89
4. श० ब्रा०, 7, 4, 1, 37
5. वही, 3, 8, 2, 17
6. अमरकोश, 88, 35

अनुसार ये 'बोर' की तीन जातियाँ हैं।[1] शतपथ में इन्द्र-त्वष्टा उपाख्यान[2] में कुवल एवं कर्कन्धु को क्रमशः इन्द्र के अश्रु एवं स्नेह (पसीने) से उत्पन्न कहा गया है। स्टेवर्ट ने अपने ग्रंथ में बदरी वृक्ष की जातियों के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्रस्तुत की है। इन वृक्षों की भिन्नता की पहचान इनके फलों तथा पत्तियों के रूपरंग एवं आकार से होती है। उत्तरी भारत के बदर वृक्षों की विशेषताएँ गवेषणीय हैं। पंजाब, सिंध तथा मध्य प्रदेश में इस वृक्ष से लाख तैयार किया जाता है। इसकी छाल रंगाई के लिए तथा जड़ औषधिनिर्माण के लिए प्रयुक्त की जाती है। कांगड़ा में इस पर एक जंगली रेशम-कीट पलता है जिसका रेशम प्राचीन काल में प्रयुक्त हुआ करता था किन्तु सामान्यतया यह फल-प्राप्ति हेतु ही बोया जाता है।[3] इन अनेक-विध विशेषताओं के कारण ही शतपथ इन वृक्षों का पुनः-पुनः प्रासंगिक उल्लेख करता है।[4] एगलिंग के अनुसार इनका लेटिन नाम 'जिजिफस जुजुवा' है।[5]

कुश : कुश का लेटिन नाम 'पोआ साइनोसुरोएडेस' है। शतपथ में इसे कँटीली किन्तु पवित्र घास के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[6] ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में इसका नामोल्लेख नहीं है किन्तु अथर्ववेद में एक बार उद्धृत मिलता है।[7] शतपथ के अनुसार इस घास के बने वस्त्र दीक्षा लेने वाले को पहनने पड़ते थे जिन्हें 'कौशं वासः' कहा गया है।[8] कुश घास को ही दर्भ भी कहा जाता है तथा इसे जल एवं औषधि दोनों बताया गया है। वृत्र को इन्द्र द्वारा मारने पर जो जल बहा था वह वृत्र से डर गया। उसमें से कुछ जल सूखे प्रदेश पर झाड़ियाँ बनाते हुए (दृभन्त्य) ऊपर उठ आया। अतः यह कुश घास दर्भ कहलाई—

> यद्दर्भा आपश्च ह्येताऽओषधयश्च या वै वृत्राद्बीभत्समानाऽआपो धन्व दृभन्त्यऽउदायंस्ते दर्भाऽअभवन्[9]

---

1. 'कर्कन्धु, बदरी, कोलिः (कुवल) त्रीणि बोर इति ख्यातस्य (अमरकोश, 88, 36); 'कुवलं बदरीफलम्' (अमरकोश, 373, 42)
2. श० ब्रा०, 12, 7, 1, 2
3. स्टेवर्ट एंड ब्रांडिस, 'फोरेस्ट फ्लोरा आफ नार्थ वेस्ट एंड सेंट्रल इंडिया', पृ० 87
4. श० ब्रा०, 5, 5, 4, 10; 12 7, 2, 9 आदि
5. एगलिंग, 'द शतपथ ब्राह्मण', भाग 5, पृ० 214
6. श० ब्रा०, 5, 3, 2, 7
7. अथर्ववेद, 20, 131, 6
8. श० ब्रा०, 5, 2, 1, 8
9. वही, 7, 2, 3, 1-2

अमरकोश, 117, 166 में भी कुश के चार नाम—कुश, कुथ, दर्भ तथा पवित्र कहे गये हैं।

इस कुश घास को शतपथ ने मेध्य अर्थात् पवित्र माना है।[1] कुश आज तक भी पवित्रता की द्योतक है जैसाकि श्राद्धमन्त्र में भी कहा जाता है—'पवित्रार्थे इमे कुशा।'[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश इसे 'केवल एक घास के अर्थ में ग्रहण करता है। इसी कुश से पवित्रा बनाई जाती है जिससे पवित्रता हेतु जल छिड़का जाता है।

क्रमुक : क्रमुक एक लाल रंग का मीठे फल वाला वृक्ष था जिसकी पुष्टि हेतु शतपथ में देवासुर संग्राम का एक रोचक उपाख्यान प्रस्तुत किया गया है।[3] उसे स्वादु, लोहित, रस एवं अर्चिः बताया गया है। इस पौधे की विशेषता यह थी कि जलने पर राख नहीं छोड़ता था।[4] वैदिक संहिताओं में इसके उल्लेख का अभाव है। अग्नि प्रज्ज्वलित करने के लिए क्रमुक की लकड़ी का प्रयोग करने का आदेश दिया गया है।[5]

खदिर : आजकल 'खैर' पुकारा जाने वाला वृक्ष ही खदिर है जिसका ऋग्वेद[6] तथा उसके बाद के वैदिक साहित्य में एक कड़ी लकड़ी वाले वृक्ष के रूप में उल्लेख है। ऋग्वेद में इसके सार (कत्थे) की प्रशंसा की गई है। अथर्ववेद में अश्वत्थ को इस पर वृक्षान्तरित करके उगाने का भी वर्णन मिलता है तथा अरुन्धती नामक लता का आविर्भाव भी इसी से बताया गया है।[7] शतपथ में कहा गया है कि इसकी लकड़ी कड़ी होने के कारण यज्ञ में प्रयुक्त स्रुवा बनाने के काम में भी आती थी।[8] अत्यधिक कठोर होने के कारण इसकी उत्पत्ति प्रजापति की अस्थियों से बताई गई है जबकि पलाश की मज्जा से।[9] आजकल इसके सार से कत्था बनाने का कोई स्पष्ट संदर्भ नहीं मिलता है। इसका

---

1. श० ब्रा०, 7, 3, 2, 3
2. 'कुशल' शब्द का कल्याण अथवा मंगल अर्थ, जो आज रूढ़ हो गया है शतपथ में बताये गये मेध्य एवं पवित्र भाव का ही प्रकाशक है।
3. श० ब्रा०, 6, 6, 2, 11
4. वही, 6, 6, 2, 13
5. वही, 6, 6, 2, 11
6. 3, 53, 19
7. अथर्ववेद, 20, 131, 14-16
8. श० ब्रा०, 1, 3, 3, 20
9. वही, 13, 4, 4, 9

नामकरण खदिर कैसे हुआ? इस संदर्भ में सुपर्णी तथा कद्रू के उपाख्यान में निर्वचनजन्य कारण दिया गया है। सुपर्णी ने खदिर की लकड़ी के द्वारा सोम पर स्वत्व स्थापित कर लिया। चूंकि उस लकड़ी से उसे खदेड़ा गया, इसलिए खदिर कहलाया —

तस्मात् खदिरो यदेनेनाखिदत्तस्मात् खादिरो यूपो भवति खादिरः. . .[1]

यज्ञ-यूप, स्फ्य तथा स्रुवा आदि बनाए जाने के अतिरिक्त भरतों में राजा की आसंदी इसी लकड़ी से बनाई जाती थी अतः यह अत्यन्त उपयोगी वृक्ष था।[2] लेटिन में इसे 'एकेशिया कैटेशू' कहा जाता है।[3]

गवेधुक : गवेधुक घास की एक विशेष किस्म थी जिसे यवागू अथवा उष्णिका पकाने के लिए चावल अथवा जौ के साथ उबाला जाता था।[4]

गुग्गुल : शतपथ ब्राह्मण में गुग्गुल (लेटिन में 'डेलियम') का केवल एक बार उल्लेख हुआ है जो संभवतः किसी वृक्ष का गोंद था।[5] अथर्ववेद में इसे एक जगह समुद्र से उत्पन्न बताया गया है। बाणभट्ट के हर्षचरित के अनुसार शिवभक्त सिर पर गुग्गुल जला कर शिव की आराधना करते थे।[6]

तिल्वक : शतपथ ब्राह्मण में एक वृक्ष के रूप में अध्याण्डा के साथ इसका उल्लेख मिलता है[7] जिसके निकट कब्र बनाना अशुभ माना जाता था। डा० गंगाप्रसाद द्वारा अनूदित शतपथ ब्राह्मण (भाग 1 की भूमिका के पृ० 186) में डा० सत्यप्रकाश ने इस वृक्ष के उल्लेख का वैदिक संहिताओं में अभाव बताया है किन्तु मैत्रायणी संहिता में तैल्वक शब्द[8] मिलता है जिसका अर्थ है तिल्वक की लकड़ी का बना हुआ। षड्विंश ब्राह्मण में इसकी लकड़ी का उपयोग यूपों के निर्माण में करने का संकेत दिया गया है।[9] इस वृक्ष का लेटिन नाम 'सिम्प्लाकोस रेसेमोस'[10] दिया गया है।

---

1. श० ब्रा०, 3, 6, 2, 12
2. वही, 5, 4, 4, 1
3. एगलिंग, 'द शतपथ ब्राह्मण', भाग 1, पृ० 90
4. श० ब्रा०, 5, 2, 4, 13; 9, 1, 1, 8
5. वही, 3, 5, 2, 16
6. वासुदेव शरण अग्रवाल, 'हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन', पृ० 59
7. श० ब्रा०, 13, 8, 1, 16
8. मै० सं०, 3, 1, 9
9. ष० ब्रा०, 3, 8
10. एगलिंग, वही, भाग 5, पृ० 427

दूर्वा : घास की एक जाति के रूप में दूर्वा का उल्लेख भी शतपथ ब्राह्मण में हुआ है जिसे अरुण रंग की कहा गया है। आजकल इसे दूब कहा जाता है। लेटिन में इसे 'पेनिकम डैक्टिलान' या 'एग्रोस्टिस लीनियरिस' कहते हैं।[1] दूर्वा भी यज्ञ के काम में आने वाली घास थी जिसके बारे में कहा गया है कि यदि आदार वृक्ष न मिले तो अरुण दूर्वा को पीसे क्योंकि अरुण दूर्वा सोम के सदृश होती है—

> यद्यादारान्न विन्देयुः। अरुण दूर्वा अभिषुणुयादेष वै सोमस्य न्यङ्गो यदरुण दूर्वा[2]

दूर्वा को सोम के सदृश स्वीकार किए जाने के कारण ही आज भी दूर्वा का उपयोग संस्कार विधियों में पवित्रता की दृष्टि से स्वीकारा गया है किन्तु आजकल हरित दूर्वा ही देखने में आती है, अरुण नहीं।

नड : शतपथ ब्राह्मण में नड[3] नामक एक ऐसे पौधे की उपस्थिति प्राप्त होती है जिसे ऋग्वेद[4] में झीलों में उगने वाला पौधा बताया गया है। शतपथ में इसे वार्षिक वृद्धि वाला बताया गया है। यह चटाई बनाने के काम में भी लाया जाता था।[5] शतपथ में 'सूप' के लिए कहा गया है कि वह नड, वेणु तथा इषीका, किसी का भी बना हुआ हो सकता है।[6] गंगाप्रसाद उपाध्याय ने इस पौधे का पर्याय 'नरकुल' दिया है।[7]

नीवार : नीवार एक जंगली घास थी[8] जिसका कालिदास ने अभिज्ञान-शाकुन्तलम् में भी उल्लेख किया है।[9] अमरकोश में इसे एक तृण-धान्य तथा मुनि-अन्न के रूप में बताया गया है तथा गवेधुक को भी इसी जाति में परिगणित किया गया है।[10]

---

1. एगलिंग, 'द शतपथ ब्राह्मण', भाग 3, पृ० 187
2. श० ब्रा०, 4, 5, 10, 5
3. वही, 1, 1, 4, 19
4. 8, 1, 33
5. अथर्ववेद, 6, 138, 5
6. श० ब्रा०, 1, 1, 4, 19
7. गंगाप्रसाद उपाध्याय, 'शतपथ ब्राह्मण' (हिन्दी अनुवाद), पृ० 22
8. श० ब्रा०, 5, 1, 4, 14
9. 'नीवाराशुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः' (अभि० शा०, 1, 14)
10. अमरकोश, 215, 25

न्यग्रोध : न्यग्रोध वट वृक्ष का अन्य नाम है। शतपथ में इस वृक्ष के उलट कर वापस नीचे की ओर जड़ जमाने का उल्लेख मिलता है।[1] इस वृक्ष से बने पात्र से राजन्य का अभिषिन्चन होता था।[2] इसका लेटिन नाम 'फाइकस इंडिका'[3] है किन्तु सामान्यतया यह बैनियन वृक्ष के नाम से भी पुकारा जाता है। इस वृक्ष की नीचे (न्यक्) झुककर वापस जगह घेरने (रोध) के कारण ही इसे न्यग्रोध नाम दिया गया। इन्द्र की अस्थियों से बहे मधुर स्राव से इसके जन्म की बात शतपथ में कही गई है।[4] वट वृक्ष के पास श्मशान का निषेध किया गया है।[5]

पलाश : पलाश का उल्लेख शतपथ में उदुम्बर न्यग्रोध तथा अश्वत्थ के साथ मिलता है।[6] इसका एक अन्य पर्याय है पर्ण, जोकि विभिन्न अर्थों को यथासंदर्भ प्रकट करता है।[7] समिधाएँ पलाश की होनी चाहिएँ क्योंकि पलाश ब्रह्म है तथा अग्नि भी ब्रह्म है।[8] पलाश के पत्तों को भी पवित्र माना गया है।[9]

पलाश की स्रुवा भी बनती थी यद्यपि उसमें विकल्प दिया गया है अर्थात् वह विकंकत की भी बन सकती थी।[10] शतपथ तथा कात्यायन श्रौतसूत्र में कहा गया है कि सोम ही पलाश है।[11] पलाश की लकड़ी खूंटियाँ (शंकु) बनाने के काम भी आती थीं।[12] इसकी शाखा से गार्हपत्य का स्थान साफ किया जाता था।[13] सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उल्लेख यह है कि पलाश तथा अश्वत्थ ही ऐसे वृक्ष हैं जिन पर देव तथा पितर् निवास करते हैं।[14]

पीतुदारु : रज्जुदाल, विल्व, खदिर तथा पलाश के साथ इस वृक्ष का नाम शतपथ में मात्र एक स्थान पर आया है।[15] यह संभवतः देवदारु का ही अन्य

---

1. श० ब्रा०, 13, 2, 7, 3-4
2. वही, 5, 3, 5, 13
3. एगलिंग, 'द शतपथ ब्राह्मण', भाग 5, पृ० 216
4. श० ब्रा०, 12, 7, 1, 9
5. वही, 13, 8, 1, 6
6. वही, 5, 3, 5, 11
7. वही, 1, 7, 1, 1
8. वही, 1, 3, 3, 19
9. वही, 2, 6, 2, 8
10. वही, 5, 2, 4, 18
11. वही, 6, 6, 3, 7; का० श्रौ० सू०, 15, 4, 40
12. श० ब्रा०, 13, 8, 4, 1
13. वही, 7, 1, 1, 1
14. 'अश्वत्थ वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता' (वही, 13, 8, 3, 1)
15. श० ब्रा०, 13, 4, 4, 7

नाम है। सायण ने इसे उदुम्बर-विशेष कहा है।[1] कुछ विद्वान् इसे खदिर भी मानते हैं।[2] अतः इस वृक्ष के बारे में निश्चित रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता क्योंकि वैदिक संहिताओं में भी इसके नाम का अभाव दिखाई देता है।

पुण्डरीक : कमल के फूल के लिए शतपथ में दो नाम दिए गए हैं —पुण्डरीक[3] तथा पुष्कर।[4] यहीं पुष्कर पौधे के पत्तों का भी जिक्र किया गया है। कमल झीलों में उगता है अतः झील को पुष्करिणी कहा जाता है।[5] निरुक्त (14, 11) के अनुसार पुष्कर का अर्थ जल भी है जो शतपथ में भी मिलता है।[6] अश्विनों को पुष्कर-स्रजकी उपाधि वैदिक ग्रंथों में दी गई है।[7] अतः स्पष्ट है कि यह पुष्प अत्यन्त प्राचीन काल से देह के अलंकरण के लिए प्रयुक्त होता था।

पूतीक : सोम के स्थानापन्न पौधे के रूप में शतपथ में पूतीक नामक पौधे का उल्लेख है।[8] पर्णवल्क की छाल के एक विकल्प के रूप में यह दधि तैयार करने का एक माध्यम था जिसका तैत्तिरीय संहिता में भी उल्लेख मिलता है।[9]

पृश्निपर्णी : पृश्निपर्णी का अर्थ है चितकबरे पत्तों वाला। ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में यह नाम नहीं मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में इसका सर्वप्रथम उल्लेख उपलब्ध हुआ है।[10] सेंट पीटर्सबर्ग कोश ने इस पौधे की समानता 'हार्मोनिटिज कार्डिफालिया' से की है। सुश्रुत ने गर्भपात के विरुद्ध इस पौधे के काढ़े के प्रयोग की अनुमति दी है। अथर्ववेद में भी इसका गर्भपात कराने वाले दुष्ट प्राणियों (कण्वों) के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करने वाले पौधे के रूप में उल्लेख मिलता है।[11] कई विद्वान् इन कण्वों को ऐसे जीवित जीवाणु मानते हैं जो अनेक बीमारियों को फैलाते थे तथा पृश्निपर्णी उनमें से अनेक रोगों के बचाव के लिए प्रयुक्त एक औषधीय जड़ी-बूटी थी।[12] रोथ पृश्निपर्णी को बाँझपन की औषधि 'लक्ष्मणा' ही

---

1. श० ब्रा०, 3, 5, 2, 15 की टिप्पणी
2. मैक्डॉनल तथा कीथ, 'वैदिक इण्डैक्स', भाग 1, द्रष्टव्य 'पीतुदारु' शब्द
3. श० ब्रा०, 5, 4, 5, 6
4. वही, 6, 4, 3, 6
5. वही, 4, 5, 1, 16
6. वही, 6,4, 2, 2
7. मैक्डॉनल तथा कीथ, वही, भाग 1, द्रष्टव्य, 'पुण्डरीक' शब्द
8. श० ब्रा०, 14, 1, 2, 12
9. द्रष्टव्य, मैक्डॉनल तथा कीथ, वही, द्रष्टव्य,में 'पूतिका' शब्द
10. श० ब्रा०, 13, 8, 1, 16
11. अथर्ववेद, 2, 25, 1-4
12. गंगाप्रसाद उपाध्याय, 'शतपथ ब्राह्मण', भूमिका, पृ० 192

स्वीकार करते हैं ।[1]

प्लक्ष : प्लक्ष की शाखाओं से उत्तरवर्हि की रचना की जाती थी ।[2] प्लक्ष का लेटिन नाम 'फाइकस इन्फेक्टोरिया' है जो लहरदार पत्तियों वाले अंजीर वृक्ष का पर्याय है । डा० गंगाप्रसाद उपाध्याय ने अपने अनुवाद में प्लक्ष का अर्थ पलाश दिया है[3] जो असंगत प्रतीत होता है क्योंकि प्लक्ष की उत्पत्ति के लिए शतपथ में जो उपाख्यान दिया गया है वह पलाश के विवरण से नितान्त भिन्न है ।

जब त्वष्टा ने पशु का आलभन किया तो पशु का मेधस् नीचे गिर पड़ा । उसे देवों ने देखा (प्रपश्यत्) इसीलिए उसका नाम 'प्रख्य' हुआ । प्रख्य से यह 'प्लक्ष' कहलाने लगा । अथर्ववेद में अश्वत्थ, धव, पर्ण तथा न्यग्रोध के साथ प्लक्ष का उल्लेख हुआ है ।[4] शतपथ के समय 'प्लक्ष' की शाखाओं से चटाइयाँ बनाए जाने का प्रसंग भी मिलता है ।[5]

फाल्गुन : वैदिक साहित्य में इस पौधे का उल्लेख केवल शतपथ में और वह भी एक ही स्थान पर उपलब्ध होता है ।[6] इसे लोहित एवं अरुण, दो प्रकार के पुष्पों वाला पौधा बताया गया है—

द्वयानि वै फाल्गुनानि । लोहितपुष्पाणि चाऽरुणपुष्पाणि

साथ ही यह पौधा सोम का स्थानापन्न होने के कारण महत्त्वपूर्ण है किन्तु केवल अरुण पुष्प वाले पौधे को ही सोम की पदवी दी गई है—

एष वै सोमस्य न्यंगो यदरुणपुष्पाणि फाल्गुनानि तस्मादरुणपुष्पाण्य-भिषुणुयात्[7]

यद्यपि सोम के अनुपलब्ध होने के कारण विवशतावश अन्य पौधों के अभिषवण का विकल्प दिया गया है फिर भी सर्वप्रथम अरुण पुष्प वाले फाल्गुन के ही चयन का आदेश इस पौधे के किसी विशेष गुण की ओर संकेत करता है ।

बिल्व : बील का वृक्ष जिसका लेटिन नाम 'एग्ले मार्मेलास' है, शतपथ[8]

---

1. कीथ तथा मैकडॉनल, 'वैदिक इण्डेक्स', भाग 2, पृ० 21
2. श० ब्रा०, 3, 8, 3, 10
3. गंगाप्रसाद उपाध्याय, 'शतपथ ब्राह्मण', भाग 1, पृ० 504
4. अथर्ववेद, 5, 5, 5
5. श० ब्रा०, 13, 5, 3, 8
6. वही, 4, 5, 10, 2-6
7. वही, 4, 5, 10, 2
8. वही, 13, 4, 4, 8

में 'विल्व' के नाम से कहा गया है । संभवतः यहाँ इसका अर्थ बील के फल से है । ऋग्वेद में इस पौधे का नाम नहीं मिलता है । तैत्तिरीय संहिता के अनुसार यज्ञ-स्तम्भ विल्व की लकड़ी का बना होता था ।[1] इस वृक्ष से बने कवच की प्रशस्ति भी मिलती है ।[2] प्रस्तुत गुण के कारण ही संभवतः शतपथ इसकी उत्पत्ति प्रजापति की मज्जा से प्रतिपादित करता है ।[3]

भूमिपाश : भूमिपाश का भी उल्लेख केवल शतपथ में एक स्थान पर मिलता है[4] जहाँ इसका परिगणन ऐसे पौधों के साथ किया गया है जिन्हें श्मशान भूमि के निकट नहीं होना चाहिए । 'भूमिपाश' शब्द से ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक इस प्रकार की फैलने वाली लता थी जो भूमि को संकुल बना देती थी । एगलिंग ने इस पौधे की समानता 'आनोसिस आर्वेंसिस' या 'स्पाइनोसा' या 'ट्रिटिकम रेपेन्स' नामक घास से की है ।[5]

मुञ्ज : शतपथ ब्राह्मण में मुञ्ज घास का भी अनेक बार उल्लेख हुआ है जहाँ इसे खोखला (सुषिर) कहा गया है तथा यह घास सिंहासन के बुने हुए भाग के लिए भी प्रयुक्त होती थी ।[6] मुञ्ज से अभिधानी भी बनती थी जो बाँधने के काम आती थी । इसका अथर्ववेद[7] तथा ऋग्वेद[8] में भी गुणानुवाद किया गया है । यह मुञ्ज आज भी अपने बहुमुखी गुणों के कारण कीमती पौधा माना जाता है जिसे राजस्थान में 'पानी' भी कहा जाता है । इसके छप्पर मकानों पर चढ़ाए जाते हैं तथा रस्सी, टोकरी, मूढे, पर्दे तथा झाड़ू इत्यादि बनाने में इसका प्रयोग बहुप्रचलित है ।

रज्जुदाल : रज्जुदाल का भी उल्लेख केवल शतपथ में ही मिलता है[9] जिसकी समानता एगलिंग ने 'कार्डिया माइक्सा' अथवा 'लेटिफोलिया' से की है । अधिक विवरण के अभाव में कुछ निश्चित कहना असंभव है ।

---

1. तै० सं०, 2, 1, 8, 1
2. शा० आ०, 12, 20
3. श० ब्रा०, 13, 4, 4, 8
4. वही, 13, 8, 1, 16
5. एगलिंग, 'द शतपथ ब्राह्मण', 13, 18, 1, 17 की टिप्पणी
6. श० ब्रा०, 4, 3, 3, 16; 6, 6, 1, 23; 12, 8, 3, 6
7. 1, 2, 4
8. 1, 161, 8
9. श० ब्रा०, 13, 4, 4, 6

वंश : वंश शब्द का प्रयोग शतपथ में यद्यपि घर में लगने वाली धरन् तथा आध्यात्मिक वंशक्रम के आशय में भी मिलता है[1] किन्तु बाँस के पौधे के रूप में भी यह अनेक बार उल्लिखित है।[2] बाँस के विभिन्न प्रयोगों से तत्कालीन लोग सुपरिचित थे।

वधक : वधक का शतपथ ब्राह्मण में एक पौधे के रूप में उल्लेख मिलता है जो संभवतः नरकट का द्योतक है।[3]

वरण : वरण पौधे का लेटिन नाम 'क्रेटेवा रोक्सवर्ही' है। यह वृक्ष शतपथ के अतिरिक्त अथर्ववेद में भी अनेक बार उल्लिखित है।[4] शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि इसकी लकड़ी से शंकु, परिधि तथा स्रुवा बनते थे।[5] अथर्ववेद में वरणावती नदी का उल्लेख है[6] जिसके किनारे संभवतः वरण वृक्षों की ही बहुतायत रही होगी। वैदिक युग में इस प्रकार के पौधों से सम्बन्धित नदियों के नाम होने के अन्य भी अनेक संकेत मिलते हैं।[7] ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में इसका उल्लेख न होते हुए भी अथर्ववेद में इसका प्रभूत गुणगान हुआ है तथा इसे विश्वभेषज, सहस्राक्ष तथा हिरण्मय जैसे संबोधन दिए गए हैं।[8]

विकंकत : एगलिंग के अनुसार इस वृक्ष का लेटिन नाम 'फ्लेकोर्टिया सेपिडा' है। विकंकत का नाम ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में कहीं नहीं आता है। शतपथ में इस वृक्ष की उत्पत्ति के बारे में कहा गया है कि प्रजापति ने हवन करके जब हाथों को रगड़ा तो विकंकत वृक्ष उत्पन्न हुआ—

स हुत्वा न्यमृष्ट। ततो विकंकत समभवत्।[9]

अतः स्रुवा इत्यादि यज्ञपात्रों के लिए यह उपयुक्त है। अमरकोश में भी

---

1. श० ब्रा०, 9, 1, 2, 25
2. वही, 10, 6, 5, 9
3. वही, 5, 4, 5, 14
4. अथर्ववेद, 10, 3, 16; 6, 85, 1; 10, 3, 1 आदि
5. श० ब्रा०, 13, 8, 4, 1-8
6. अथर्ववेद, 4, 7, 1
7. 'यथा प्लक्ष प्रास्रवण' (जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण तथा पञ्च० ब्रा०, 4, 26, 12; 25, 10, 16, 32)। 'शैवलिनी' के लिए द्रष्टव्य वी० एस० आप्टे, 'संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी', पृ० 562
8. अथर्ववेद, 10, 3, 3
9. श० ब्रा०, 2, 2, 4, 10

विकंकत के पर्यायों में से एक पर्याय स्रुवा वृक्ष है—

स्वादुकंटकः विकंकतः स्रुवावृक्षो ग्रंथिलो व्याघ्रपादपि पंच विकंकतस्य[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि विकंकत वृक्ष की लकड़ी की स्रुवा परवर्ती काल तक बनती रही क्योंकि कालिदास ने रघुवंश[2] में भी विकंकत स्रुवा की ओर ध्यान दिलाया है। शतपथ ब्राह्मण में इस वृक्ष की महानता को पलाश के समान ही प्रतिपादित किया गया है। यदि पलाश को ब्रह्म कहा गया है तो विकंकत को 'वज्र'।[3] अतः तत्कालीन लोगों के लिए इस वृक्ष का सम्मान उदुम्बर, पलाश, अश्वत्थ इत्यादि प्रमुख वृक्षों के समकक्ष ही था।

विभीदक : ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में अनेक बार प्रयुक्त 'विभीदक' शब्द शतपथ ब्राह्मण में भी मिलता है जो लेटिन शब्द 'टर्मिनेलिया वैलेरिका' का पर्याय है। इस वृक्ष की लकड़ी से जुए के पासे बनते थे।[4] विल्सन ने इस वृक्ष को अपने अनुवाद में 'माइरो बेलान' नाम दिया है। शतपथ में 'विभीदक' का नाम उपर्युक्त उन वृक्षों के साथ आया है जिन्हें श्मशान के निकट नहीं होना चाहिए।[5]

वीरिण : शतपथ में वीरिण का नाम एक घास के रूप में आया है जिसे एगलिंग ने 'एन्ड्रोपोगोन म्यूरिकेटस' माना है।[6]

वेणु : वेणु वंश की ही एक किस्म थी। वंश का उल्लेख बाँस के अर्थ में ऋग्वेद में केवल एक बार हुआ है[7] तथा बहुवचन वेणुः शब्द का प्रयोग वालखिल्य सूक्तों में।[8] वेणु शब्द का वंश अर्थ में प्रयोग एक बार अथर्ववेद में भी मिलता है[9] किन्तु शतपथ में दोनों रूपों में प्रयोग द्रष्टव्य है।[10] कहा गया है कि 'अभ्रि' (कुदाली) वेणु की ही बननी चाहिए। बाँस के सुषिर (पोले) होने

---

1. अमरकोश, 28,37
2. कालिदास, 'रघुवंश', 11, 25
3. श० ब्रा०, 5, 2, 4, 18
4. ऋग्वेद, 7, 86, 6
5. श० ब्रा०, 13, 8, 1, 16
6. एगलिंग, 'द शतपथ ब्राह्मण', 13, 8, 1, 15
7. ऋग्वेद, 1, 10, 1
8. वही, 8, 55, 3
9. अथर्ववेद, 1, 27, 3
10. श० ब्रा०, 10, 6, 5, 9; 6, 3, 1, 31

के बारे में भी एक उपाख्यानात्मक कथन उद्धृत है : अग्नि देवों के पास से खिसक गया तथा वेणु में प्रविष्ट हो गया अतः वेणुं में पोल है—

अग्निर्देवेभ्यः उदक्रामत्स वेणु प्राविशत् । तस्मात् स सुषिरः[1]

इसी प्रकार बाँस में गाँठ होने की कहानी भी स्पष्ट की गई है । शतपथ में एक जगह 'वेणुयष्टि' शब्द भी मिलता है जिससे पता चलता है कि बाँस की लाठियाँ बनती थीं[2] तथा इसकी टोकरियाँ भी बनाई जाती थीं । तात्पर्य यह है कि वेणु या वंश के अद्यतन सभी उपयोग उस समय भी प्रचलित थे ।

वेतस : वेतस—जो बाँस की ही एक किस्म है—का उल्लेख भी शतपथ में मिलता है जहाँ इसके नामकरण-सम्बन्धी निर्वचन को स्पष्ट किया गया है अर्थात् वह (वेतस) इन वनस्पतियों को जानता है (वेत्ति) तथा चखता है (सवेत्ति) अतः वेतस कहलाता है—

एष व ऽतस्य वनस्पतिर्वेत्त्विति, वेत्तु सवेत्तु सोऽह वै तं वेतसऽइत्याचक्षते[3]

एक स्थान पर वेतस-शाखा को भी उद्धृत किया गया है ।[4] ऋग्वेद में इसका उल्लेख नहीं है किन्तु यजुर्वेद में[5] यह वंश अर्थ में न मिलकर 'हिरण्यवेतस' रूप में मिलता है ।

शण : शतपथ ब्राह्मण में 'शण' शब्द 'सन' के पौधे के लिए प्रयुक्त हुआ है[6] जिसका लेटिन नाम 'कैनाबिस सेटिवा' है । साथ ही 'उमा' (पटसन) का भी उल्लेख किया गया है । 'उमा' (पटसन) को अमरकोश में 'अतसी' तथा 'क्षुमा' भी कहा गया है ।[7] इससे ज्ञात होता है कि संभवतः इनका प्रयोग क्षौम जैसे वस्त्रों के रूप में भी अवश्य किया जाता रहा होगा । वैदिक संहिताओं में अथर्ववेद के जांगीड़ सूक्त के अतिरिक्त कहीं भी इन पौधों का उल्लेख नहीं मिलता जहाँ इन्हें वन्य ओषधि बताकर विष्कन्ध के विरुद्ध इनके प्रयोग की बात कही हो ।[8] शतपथ के अनुसार 'शण' की तिहरी डोरी में पिरो कर रुक्मपाश पहना जाता था ।[9]

---

1. श० ब्रा०, 6, 3, 1, 31
2. वही, 2, 6, 2, 17
3. वही, 9, 1, 2, 22
4. वही, 9, 1, 2, 20
5. यजुर्वेद, 13, 38
6. श० ब्रा०, 6, 6, 1, 24
7. अमरकोश, 9, 30
8. अथर्ववेद, 2, 4, 5
9. श० ब्रा०, 6, 7, 1, 7

शमी : शमी वृक्ष का नामोल्लेख ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में नहीं मिलता किन्तु शतपथ ब्राह्मण इसे यज्ञाग्नि प्रज्ज्वलित करने के प्रसंग में उद्धृत करता है[1] जहाँ कहा गया है कि यज्ञाग्नि प्रज्ज्वलित करने वाली अरणि की दो लकड़ियों में नीचे वाली लकड़ी का निर्माण शमी की नर्म लकड़ी से होता था तथा ऊपर वाली अश्वत्थ की बनी होती थी।[2] इस वृक्ष के फल को शमी-धान्य कहा गया है जिसे व्रत के समय खाने की सहमति वर्कुर्वार्ष्णि आचार्य देते हैं।[3] इस वृक्ष का लेटिन नाम 'एकेशियासुमा' या 'प्रोसोपिया स्पाईसिगेरा' प्रस्तावित किया गया है। शमी की लकड़ी की खूँटियाँ भी बनती थीं।[4] अथर्ववेद में इसका मादक एवं चौड़ी पत्तियों वाले वृक्ष के रूप में वर्णन प्राप्त है जो केशों के लिए विनाशकारी था।[5] डा० सत्यप्रकाश ने शतपथ के हिन्दी अनुवाद की भूमिका (पृष्ठ 206 में) अथर्ववेद में शमी के उल्लेख का अभाव बताया है। यह कथन भ्रमपूर्ण है। उपर्युक्त लेटिन 'एकेशिया' आदि नाम वाले वृक्षों में इन गुणों का सर्वथा अभाव मिलता है, अतः समीकरण असंगत प्रतीत होता है।

शल्मलि : शल्मलि नामक वृक्ष का शतपथ में केवल उल्लेख मात्र मिलता है[6] जिसके बारे में ऋग्वेद अधिक प्रमाणयुक्त जानकारी देता है। वर की गाड़ी शल्मलि की लकड़ी की बनी होती थी।[7] संभवतः यह सेमल का वृक्ष ही था जिसे लेटिन में 'सेल्मेलिया मैलेवेरिका' कहा जाता है। इसका फल विषैला होता था।[8] शतपथ में इसे वृक्षों में सबसे ऊँचा बताया गया है।[9]

श्येनहृत : श्येनहृत शतपथ के अनुसार एक ऐसा पौधा था जिसका अभिषवण सोम या अरुण फाल्गुन के न मिलने पर किया जाता था अर्थात् यह इनका स्थानापन्न था।[10] वैदिक संहिताओं में इस वृक्ष का उल्लेख नहीं है अतः निश्चितरुपेण इसके बारे में कुछ कहना कठिन है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस पौधे का सम्बन्ध श्येन के उपाख्यान से अवश्य रहा होगा।

---

1. श० ब्रा, 9, 2, 3, 37
2. वही, 11, 5, 1 15
3. वही, 1, 1, 1, 10
4. वही, 13, 8, 4, 1
5. अथर्ववेद, 6, 11, 1; 30, 2, 3
6. श० ब्रा०, 13, 2, 7, 4
7. ऋग्वेद, 10, 85, 20
8. वहीं, 7, 50, 3
9. श० ब्रा०, 13, 2, 7, 4; तै० सं०, 7, 4, 12, 1
10. श० ब्रा०, 4, 5, 10, 3

स्फूर्जक : वैदिक संहिताओं में स्फूर्जक का कहीं भी उल्लेख नहीं है किन्तु शतपथ में श्मशान के निकट निषिद्ध वृक्ष-तालिका में इसका नाम आता है जिसका समीकरण लेटिन 'डायसपाइरोस एम्ब्रोप्टेरिस' वृक्ष से किया गया है ।[1]

सुगंधितेजनम् : यह एक ऐसी घास या पौधा था जो आधुनिक अगरु आदि के रूप में काम देता था। इसके द्वारा वस्तुओं को सुगंधित बनाया जाता था ।[2]

सोम : सोम आर्यों का सर्वाधिक प्रिय एवं अपेक्षित पौधा था जिसका यज्ञों में सोम-हवि तैयार करने हेतु प्रयोग होता था। ऋग्वेद का पूरा नवाँ मण्डल सोम-प्रशस्ति हेतु समर्पित है जो इस पौधे के महत्त्व का प्रदर्शक है। शतपथ में भी इस पौधे के सम्बन्ध में प्रचुर विवरण मिलता है। इस पौधे की टहनियाँ बभ्रु, अरुण तथा हरित् कही गई हैं ।[3] साथ ही कहीं-कहीं इसे सुगन्धित बताया गया है ।[4] सोम के आह्लादकारी तथा उत्तेजक प्रभाव का भी वर्णन शतपथ में प्राप्त है ।[5] सोम के न मिलने पर विभिन्न स्थानापन्न पौधों के नाम का दिया जाना यह सिद्ध करता है कि शतपथ के समय तक यह पौधा दुर्लभ बन चुका था। इस पौधे की प्रकृति को जानने के लिए उक्त वर्णन अपर्याप्त होने के कारण विभिन्न विद्वानों ने आनुमानिक निर्णय दिये हैं। रौथ के अनुसार 'सर्कोस्टेमा ऐसिडम' पौधे से यह मिलता है। वाट महोदय अंगूर तथा राइस महोदय गन्ने से समानता प्रदर्शित करते हैं। मैक्समूलर, राजेन्द्रलाल मित्र इसे 'होप' पौधे का ही एक प्रकार मानते हैं[6] किन्तु एगलिंग के अनुसार यह अवेस्ता का 'हओम' पौधा ही था जिससे केरमान तथा येन्द के पारसी 'हूम' रस निकालते थे ।[7] हिलेब्राण्ट[8] का विचार है कि उक्त सभी विवरण सोम-सम्बन्धी संदर्भों की व्याख्या नहीं कर सकते। सोम का अर्थ चन्द्रमा है क्योंकि सम्पूर्ण नवम मण्डल में सोम को केवल चन्द्रमा ही कहा गया है। बहुत संभव यह है कि इस पौधे की अत्र व्याख्या तो क्या, पहचान ही नहीं की जा सकती।

---

1. एगलिंग, 'द शतपथ ब्राह्मण', भाग 5, पृ० 427
2. श० ब्रा०, 3, 5, 2, 17
3. वही, 4, 5, 10, 1; 3, 3, 1, 15
4. वही, 4, 1, 3, 6
5. वही, 5, 5, 4, 9
6. द्रष्टव्य, मैक्डॉनल तथा कीथ, 'वैदिक इंडेक्स', भाग 2 (हिन्दी अनुवाद), पृ० 525
7. एगलिंग, वही, भाग 2, भूमिका, पृ० 24
8. 'वेदिशे माइथोलोजी', पृ० 309

हरिद्रु : श्मशान के निकट निषिद्ध तालिका में हरिद्रु नाम का वृक्ष भी गिना गया है जिसका समीकरण 'पिनस डेओड्रा' से किया जाता है।

उपर्युक्त पशु-पक्षी एवं वनस्पति-जगत्-सम्बन्धी विवरण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि शतपथ में पशु-पक्षी एवं वनस्पतियों का विषयगत मौलिक वर्णन भी किया गया है तथा उपयोगिता की दृष्टि से भी। साथ ही इनके प्रतीकात्मक प्रयोग, जो मानवीय भावनाओं के आलम्बन के रूप में प्रस्तुत किये गए हैं, तत्कालीन मनोविज्ञान के प्रकाशक हैं तथा प्रस्तुत विवरण तत्संबंधी परिपूर्ण ज्ञातव्य को समक्ष रख देता है। वनस्पति का शतपथीय विवरण तत्कालीन भारतीयों के वनस्पति जीवन से घनिष्ठ संपर्क तथा उनके तत्सम्बन्धित विस्तृत ज्ञान का प्रकाशक है।

नवम अध्याय

शतपथ के उपाख्यान

कथा-कहानी की सनातन प्रवृत्ति

मानव अपनी चिंतनजन्य उद्भावनाओं तथा अनुभवजन्य प्रक्रियाओं को इतिवृत्तात्मक रूप में प्रस्तुत करने का सहज अभ्यस्त रहा है अतः किसी भी कथ्य को कहानी के माध्यम से कहने की उसकी प्रवृत्ति सनातन है। कहानी सुनना-सुनाना वैदिक युग के मनोरंजन के साधनों में प्रमुख साधन था।[1] कथा सुनाने वाले कथकों को 'आख्यानविद्' कहा जाता था।[2] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अश्वमेध यज्ञ के प्रसंग में जब यज्ञीय अश्व वर्ष भर मनमाना घूमता फिरता था तब प्रतिदिन 'परिप्लव' नामक क्रमबद्ध कथा की आवृत्ति की जाती थी।[3] प्रसिद्ध राजाओं के यज्ञों का विवरण इतिवृत्तात्मक रूप में सुनाया जाता था जिसे 'गाथा' कहा जाता था।[4] वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण, नाराशंसी आदि जो कथा-कहानी के ही विविध भेद हैं, शतपथ के समय अध्ययन एवं अध्यापन के विषय भी थे।[5] इससे स्पष्ट है कि अनुभव तथा चिंतन की अभिवृद्धि के साथ-साथ यह इतिवृत्त-कथन-शैली विभिन्न रूप धारण करती गई तथा कथ्य, उद्देश्य, प्रभाव और स्वरूप इत्यादि के आधार पर इसकी विभिन्न शैलियों के विशिष्ट पारिभाषिक नाम निर्धारित किये जाते रहे।

उपाख्यान तथा आख्यान

कथा-कहानी के उपर्युक्त विभिन्न रूपों को स्वयं में समाहित कर अपेक्षित अर्थवत्ता को प्रतिपादित करने वाले शब्द 'आख्यान' एवं 'उपाख्यान' हैं। 'उप' तथा 'आ' पूर्वक √ख्या धातु में भाव में 'ल्युट्' प्रत्यय लगने पर उपाख्यान अथवा

---

1. मन्मथराय, 'प्राचीन भारतीय मनोरंजन', पृ० 28
2. ऐ० ब्रा०, 3,35,1
3. श० ब्रा०, 13, 4, 3, 2
4. वही, 13, 5, 4, 1-2
5. वही, 11, 5, 6, 8

आख्यान शब्द बनते हैं। शब्दकोशों[1] में उपाख्यान का पूर्ववृत्त 'कथन' तथा आख्यान[2] का 'कथन' अर्थ मिलता है। साहित्यदर्पण 'आख्यानं पूर्ववृत्तोक्तिः' कहकर आख्यान का अर्थ भी 'पूर्ववृत्तकथन' ही प्रतिपादित करता है। किसी घटना या उससे सम्बद्ध कथ्य का कथन स्वतः ही 'पूर्ववृत्तकथन' बन जाता है अतः इन दोनों शब्दों को समानार्थी भी माना जा सकता है किन्तु अनेक पुराणों में[3] उपाख्यान तथा आख्यान का विभेदात्मक प्रयोग किया गया है—

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्प शुद्धिभिः।
पुराण संहितां चक्रे पुराणार्थ विशारदाः॥

उक्त श्लोक की टीका में श्रीधर स्वामी ने एक श्लोक उद्धृत किया है जो दोनों शब्दों के अर्थ-पार्थक्य की ओर इंगित करता है—

स्वयं दृष्टार्थकथनंप्राहुराख्यानकं बुधाः।
श्रुतस्यार्थस्य कथनमुपाख्यानं प्रचक्षते॥

अर्थात् स्वयं दृष्टार्थ कथन 'आख्यान' तथा श्रुत अर्थ का कथन 'उपाख्यान' कहलाता है। शतपथ के इतिवृत्तात्मक प्रसंगों में श्रुत अर्थ के कथन की सर्वातिशयता के कारण उन्हें 'उपाख्यान' कहा जाना ही अधिक उचित होगा।

शतपथ के उपाख्यान तथा उनके प्रयोजन

शतपथ ब्राह्मण एक सौ चालीस उपाख्यानों की अद्भुत निधि है। यह निधि शतपथ को अन्य ब्राह्मणों की श्रेणी में सर्वोपरि स्थान प्रदान करने में समर्थ है। शतपथ का प्रमुख प्रतिपाद्य जैसाकि प्रथम अध्याय में वर्णित किया जा चुका है, यज्ञ है। अपने प्रमुख प्रतिपाद्य विषय का स्पष्टीकरण करने के लिए ही इन उपाख्यानों की सृष्टि की गई है अतः प्रत्येक उपाख्यान का कोई न कोई यज्ञ-सम्बन्धी प्रयोजन अवश्य है। सम्पूर्ण उपाख्यानों के प्रयोजनों को निम्न नौ भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

(1) यज्ञ के विशिष्ट अनुष्ठानों का प्रतिपादन, (2) यज्ञ-विधि की विभिन्न प्रक्रियाओं का समर्थन, (3) यज्ञ में प्रयुक्त संहिता मंत्रों का हेतु-प्रदर्शन, (4) यज्ञ से सम्बद्ध देवताओं की महिमाओं एवं पराक्रमों का प्रकाशन, (5) देवों का स्थान निर्धारण एवं उपाधि-विशेष का हेतु-प्रदर्शन, (6) यज्ञीय उपकरणों की सार्थकता का प्रदर्शन, (7) यज्ञ-विधि-वर्णन में आगत छंदों, पात्रों, वृक्षों, पशुओं,

---

1. वाचस्पत्यम्, भाग 2, पृ० 1347
2. हलायुध, पृ० 147
3. वि० पु०, 3, 6, 15; ब्रह्मां० पु०, 2, 34, 31 तथा वा० पु०, 60, 21

वनस्पतियों, अस्त्रशस्त्रों आदि के शब्दों का निर्वचन, (8) सृष्टि-रचना की प्रतीकात्मकता का निदर्शन, (9) विधि-विधानों की पुष्टि हेतु इतिहास-कथन।

उक्त प्रयोजनों तथा इनसे सम्बद्ध एक सौ चालीस उपाख्यानों की विवरण तालिका उनके शीर्षकों[1] एवं संदर्भों की संख्यासहित नीचे दी जा रही है—

क्रम संख्या	प्रयोजन	शीर्षक	संदर्भ संख्या
1	दर्शपूर्णमास निरूपण में प्रोक्षक पवित्रों के दर्भों का मेध्यत्व-प्रदर्शन	इन्द्र द्वारा वृत्र-हनन	1, 1, 3, 4
2	दर्शपूर्णमास निरूपण में कृष्ण-मृग-चर्म ग्रहण करते समय उसका महत्त्व-प्रदर्शन	कृष्ण-मृग तथा वेदत्रयी	1, 1, 4, 1
3	दर्शपूर्णमास निरूपण में अध्वर्यु द्वारा हविष्कृत को बुलाते समय ऋत्विज द्वारा दोनों सिलों को पीटने का हेतु-प्रदर्शन	असुरघ्नी वाक्	1, 1, 4, 14
4	दर्शपूर्णमास निरूपण में अन्वाहार्य दक्षिणा की अनिवार्यता का प्रतिपादन	आप्त्य देवों की उत्पत्ति	1, 2, 3, 1
5	दर्शपूर्णमास निरूपण में पांक्त पशुओं की स्थानापन्न अन्न-बलि का प्रतिपादन	व्रीहि तथा यव की यज्ञ से उत्पत्ति	1, 2, 3, 6
6	दर्शपूर्णमास निरूपण में अध्वर्यु द्वारा स्फ्या को ग्रहण करते समय स्फ्या का महत्त्व-प्रदर्शन	वज्र के चार भाग	1, 2, 4, 1
7	दर्शपूर्णमास निरूपण में स्तंब-यजुः क्रिया का हेतु-प्रदर्शन	देव-सेनापति अग्नि	1, 2, 4, 8
8	दर्शपूर्णमास निरूपण में आचार्य पाञ्ची द्वारा सोमयाग की वेदी तीन अंगुल रखी जाने का हेतु-प्रदर्शन	वामन-विष्णु	1, 2, 5, 1

1. श०ब्रा० में ये उपाख्यान बिना शीर्षकों के ही उपलब्ध हैं। प्रस्तुत शोध-प्रबंध-लेखिका ने अध्ययन की सुविधा हेतु इन उपाख्यानों को शीर्षक प्रदान किए हैं जिन्हें देते समय औचित्य एवं केन्द्रीय विचार का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है।

9	दर्शपूर्णमास निरूपण में अग्नि के चारों ओर तीन परिधियों की रचना का महत्त्व-प्रदर्शन तथा आज्य बिखरने की निर्दोषता का ख्यापन	परिधिरूपी त्रिविध अग्नि	1, 3, 3, 13
10	दर्शपूर्णमास निरूपण में सामिधेनियाँ पढ़ते समय 'घृताची' शब्द के उच्चारण का प्रतिपादन	विदेघमाथव तथा अग्नि-वैश्वानर	1, 4, 1, 10
11	दर्शपूर्णमास निरूपण में अन्तिम सामिधेनी पढ़ने के पश्चात् अध्वर अभिप्राय वाले 'तृच' शब्द को पढ़ने का समर्थन	अध्वर का अध्वरत्व	1, 4, 1, 40
12	दर्शपूर्णमास निरूपण में प्रजापति हेतु उपांशु हवियों का प्रतिपादन	मन तथा वाणी में स्पर्धा	1, 4, 5, 8
13	दर्शपूर्णमास निरूपण में प्रयाज मन्त्रों से यज्ञ करने के महत्त्व का प्रदर्शन	प्रयाजों का प्रयाजत्व	1, 5, 3, 2
14	दर्शपूर्णमास निरूपण में प्रयाजों की संख्या पाँच होने का हेतु-प्रदर्शन	ब्रह्मवाणी द्वारा देवों की विजय	1, 5, 4, 6
15	दर्शपूर्णमास निरूपण में ऋतुओं द्वारा यज्ञ में भाग ग्रहण करने का हेतु-प्रदर्शन	ऋतुओं के साथ अच्युत अग्नि का यज्ञ में भाग	1, 6, 1, 1
16	दर्शपूर्णमास निरूपण में यूप का निर्वचन तथा पुरोडाश की महिमा का प्रकाशन	कूर्म-पुरोडाश	1, 6, 2, 1
17	दर्शपूर्णमास निरूपण में अग्नि-षोम के लिए घी की दो आहुतियाँ दिए जाने का कारण-प्रदर्शन	चन्द्रमा का अन्नत्व	1, 6, 3, 1
18	दर्शयाग में सन्नय्य की आहुति तथा इन्द्राग्नि के लिए द्वादश कपाल पुरोडाश का समर्थन	इन्द्र की क्षीणकायिता तथा दुग्धमिश्रित सोम से उपचार	1, 6, 4, 1

19	दर्शपूर्णमास निरूपण में यज्ञ हेतु दूध दुहते समय प्रयुक्त पर्ण का पर्णत्व	गायत्री तथा सोम	1, 7, 1, 1
20	दर्शपूर्णमासयाग में वास्तुहवि स्विष्कृत को प्रदान करने का हेतु-प्रदर्शन	पशुपति रुद्र का रौद्रत्व	1, 7, 3, 1
21	दर्शपूर्णमास यज्ञ में प्राशित्र काटने की विधि का समर्थन	प्रजापति की कामांधता तथा रुद्र का बाण-संधान	1, 7, 4, 1
22	दर्शपूर्णमासयाग में हवि हेतु इडा के पाँच भाग करते समय इडा का प्रशंसन	मनु और जलौघ	1, 8, 1, 1
23	दर्शपूर्णमासयाग में फलीकरण का कूड़ा कृष्णाजिन के नीचे फेंकने की विधि का हेतु-प्रदर्शन	असुरों का भाग 'यज्ञोच्छिष्ट'	1, 9, 2, 34
24	अग्न्याधान के समय एकत्रित संभार में शर्करा के ग्रहण का हेतु-प्रदर्शन	पृथिवी का दृढ़ीकरण	2, 1, 1, 8
25	बहुप्रजत्व के लिए अग्निहोत्र का समर्थन	प्रजापति की स्व-सृष्टि	2, 2, 4, 1
26	अग्निहोत्र में द्विविध अग्नि के आधान का समर्थन	पिता तथा पुत्र रूप अग्नि	2, 3, 3, 1
27	आग्रयणेष्टि में द्यावा-पृथिवी के रस-औषधियों की आहुति तथा इन्द्राग्नि के लिए द्वादश कपाल-पुरोडाश का हेतु-प्रदर्शन	देवों की दौड़ तथा इन्द्राग्नि की विजय	2, 4, 3, 1
28	चातुर्मास्य यज्ञ में दूध रूप अन्न की महिमा का प्रकाशन	प्राणियों का जीवन 'पय'	2, 5, 1, 1
29	सोम यज्ञ हेतु दीक्षा-ग्रहण के समय वस्त्र-धारण-विधि का महत्त्व-प्रदर्शन	मानव-त्वचा का गो हेतु दान	3, 1, 2, 13
30	सोम यज्ञ में आदित्यों के लिए चरु की आहुति-सम्बन्धी 'अष्टौ-	अदिति के आठ पुत्र	3, 1, 3, 2

	पुत्रासौ अदितेर्ये जाता' मन्त्र का प्रतिपादन		
31	सोम यज्ञ में वाणी की मौन विसर्जन विधि का प्रतिपादन	यज्ञ तथा यूप का संयोजन	3, 2, 2, 2
32	द्युलोक से सोमाहरण का प्रतिपादन	योषित्कामो गंधर्व	3, 2, 4, 1
33	सोम यज्ञ में सोम को उठाकर गाड़ी में रखते समय उच्चरित यजुर्मन्त्र 'प्रतिपंथाम पद्महि' का समर्थन	असुर-भीत देवों को शुभमन्त्र-दर्शन	3, 3, 3, 16
34	सोम यज्ञ में सोम की गाड़ी को पलाश-शाखा से हाँकने का कारण-प्रदर्शन	गायत्री का पंख-'पलाश'	3, 3, 4, 10
35	सोमयज्ञ में तनूनप्त्र संधि-व्रत-विधि का समर्थन	देवों की संगठन संधि में इन्द्र का श्रेष्ठत्व	3, 4, 2, 1
36	सोम यज्ञ में प्रायश्चित्त रूप अवान्तर-दीक्षा का हेतु-प्रदर्शन	असुर-रक्षसों से अप्रभावित अग्नि	3, 4, 3, 1
37	सोम यज्ञ में उपसद् विधि का प्रतिपादन	देवों द्वारा असुर-पुरभञ्जन	3, 4, 4, 3
38	'सद्यःक्री' यज्ञ की दक्षिणा श्वेत अश्व होने का समर्थन	'सद्यः-क्री' तथा वाणी का सिंहनी रूप	3, 5, 1, 13
39	सोम यज्ञ में दी गई आज्य आहुतियों में आज्य की प्रशंसा का प्रदर्शन	आज्य-वज्र से भयभीत असुर-रक्षसों का दक्षिण-धावन	3, 5, 3, 15
40	सोमयाग में दक्षिणी हविर्धान के आगे के भाग में (खड्डे) 'उपरव' बनाने की विधि की हेतु-कल्पना	देवों द्वारा असुर-अभिचारों का पराभव किया जाना	3, 5, 4, 2
41	सोमयाग में प्रोक्षणी के जल में यव डालने की विधि में यव की	'यव' की महिमा	3, 6, 1, 8

	प्रशंसा		
42	सोमयाग में धिष्ण्यियों के द्वारा सोम की रक्षा का प्रतिपादन	सुपर्णी तथा कद्रू का कलह	3, 6, 2, 2
43	सोमयाग में 'अंशु' संज्ञक सोम के लिए द्वितीय आहुति का समर्थन	अच्छिद्य सोम-बिन्दु	3, 6, 3, 8
44	सोमयाग में यूप से सम्बद्ध कर पशु की आलभन-विधि का प्रतिपादन	पशुओं का चतुष्पादत्व	3, 7, 3, 2
45	सोमयाग में वध्य पशु के सिर के कंधे तथा गर्दन एवं पिछली जाँघ काटने का निषेध तथा हेतु-कल्पना	असुरों का पशु-आलभन	3, 8, 3, 28
46	सोमयाग में उपांशु आहुति देने की हेतु-कल्पना	देवों द्वारा मौन आहुतियाँ	3, 9, 4, 6
47	सोम का निर्वचन-प्रदर्शन	सोम का सोमत्व	3, 9, 4, 22
48	सोमयाग के प्रातः-सवन में ही पूर्ण यज्ञ संस्थित करने की विधि का हेतु-प्रदर्शन	यज्ञ का अखण्डत्व	4, 1, 1, 6
49	सोमयाग में मैत्रावरुणग्रह का प्रयोजन	ब्रह्म तथा क्षत्र का सम्मिलन	4, 1, 4, 2
50	सोमयाग में मैत्रावरुणग्रह के ग्रहण के अवसर पर सोम में दूध मिलाने की क्रिया की प्रतीकात्मकता का प्रदर्शन	मित्र देवता की मित्रता	4, 1, 4, 8
51	सोमयाग में अश्विन-ग्रहों के ग्रहण का हेतु-प्रदर्शन	च्यवन भार्गव तथा शर्यात मानव	4, 1, 5, 1
52	सोमयाग में शुक्र एवं मंथी-ग्रहों के ग्रहण का हेतु-प्रदर्शन	शण्ड तथा मर्क	4, 2, 1, 4
53	सोमयाग में सोम में यव का सत्तू मिलाने की विधि हेतु यव की महिमा का प्रदर्शन	यवों का वरुणत्व	4, 2, 1, 11
54	'वंध्या गो मित्र तथा वरुण की होती	अंगारे तथा	4, 5, 1, 8

	है', विचार की हेतु-कल्पना	अंगिरा	
55	सोमयाग में अतिग्राह्य ग्रहों के ग्रहण में इन ग्रहों की प्रशंसा का प्रदर्शन	देवों में अग्नि-इन्द्र तथा सूर्य की महत्त्व-प्राप्ति	4, 5, 4, 1
56	वेदी के दक्षिण में ऋत्विजों के स्थान ग्रहण करने का कारण-प्रदर्शन	दक्षिण दिशा का प्रहरी इन्द्र	4, 6, 6, 1
57	'सोमयाग में वषट्कार से विरहित स्वाहाकार से दी गई आहुति वाक् की होती है', कथन में वाक् की विशेषता	वाक् की महिमा	4, 6, 7, 6
58	सोमयाग के सत्र में गार्हपत्य-अग्नि में दो आहुतियों की विधि में आहुतियों की शक्ति का प्रदर्शन	देवों के सत्र से अन्न का निर्गमन	4, 6, 9, 1
59	वाजपेय यज्ञ में ऊर्ध्व लोक से बृहस्पति का सम्बन्ध-ज्ञापन	परोपकारी देव तथा स्वार्थी असुर	5, 1, 1, 1
60	वाजपेय यज्ञ में इन्द्रतुरीय विधि (जुतने वाली गाय के दही की चतुर्थ आहुति इन्द्र हेतु) का कारण-प्रदर्शन	इन्द्रतुरीय हवि	5, 2, 4, 12
61	वाजपेय यज्ञ में रत्निन् हवियों के उपरान्त सोम तथा रुद्र के लिए हवि प्रदान करने की विधि का प्रतिपादन	स्वर्भानु असुर तथा सूर्य	5, 3, 2, 1
62	वाजपेय यज्ञ में पार्थ हवियों की शक्ति का प्रदर्शन	प्रथम राजा पृथी-वैन्य	5, 3, 5, 4
63	वाजपेय यज्ञ में शार्दूल-चर्म के किनारे पर सीसा रख कर पैर से उछालने की विधि का प्रतिपादन	असुर-नमुचि तथा इन्द्र	5, 4, 1, 9
64	राजसूय यज्ञ के अवसर पर आहवनीय के उत्तर में सौ या सौ से	राजसूय अर्थात् वरुण का अभिषेक	5, 4, 3, 1

	अधिक गाएँ खड़ी करने का कारण-प्रदर्शन		
65	सौत्रामणी-इष्टि के महत्त्व का प्रतिपादन	इन्द्र का अति सोमपान तथा अश्विनों का भैषज्य	5, 5, 4, 2
66	इन्द्र एवं विष्णु के लिए द्वादश कपाल पुरोडाश हवि देने का कारण-प्रदर्शन	योद्धा इन्द्र तथा सहायक विष्णु	5, 5, 5, 1
67	अग्निचयन के प्रसंग में सृष्टि-रचना-विवरण—'पुरुष रूपी अग्नि का चयन	प्रजापति की प्राण (ऋषि) सृष्टि में पुरुष रूपी अग्नि का चयन	6, 1, 1, 1
68	अग्निचयन में सृष्टि-रचना विवरण। विस्रस्त प्रजापति अग्नि द्वारा संहित अग्नि का चयन	प्रजापति की मिथुन सृष्टि	6, 1, 2, 1
69	अग्निचयन—सृष्टि-रचना-विधि-प्रदर्शन	प्रजापति की तपः-सृष्टि	6, 1, 3, 4
70	अग्निचयन सृष्टि-रचना-विधि	प्रजापति की संवत्सर सृष्टि (कुमार-जन्म)	6, 1, 3, 8
71	अग्निचयन के प्रसंग में पञ्चपशु-व्याख्या	अग्नि के आठ रूप तथा कुमार	6, 2, 1, 1
72	अग्निचयन प्रसंग में इष्टकाओं के चयन में चितियों की आर्षेयता का प्रदर्शन	तीनों लोकों की प्रतीक स्वयं मातृण्णा इष्टका	6, 2, 3, 1
73	अग्निचयन में दीक्षा-विधि के प्रसंग में अग्नि का महत्त्व-प्रदर्शन	अग्निमुख देवता	6, 6, 2, 11
74	अग्निचयन के प्रसंग में दीक्षाविधि में वैकंकती-समिधा ग्रहण करने की हेतु-कल्पना	विकंकत की उत्पत्ति	6, 6, 3, 1
75	अग्निचयन दीक्षा-विधि में उदुम्बर की समिधा ग्रहण करने की हेतु-कल्पना	देवप्रिय उदुम्बर	6, 6, 3, 2

76	अग्निचयन में उखासंभरण के अवसर पर वनीवाहन कर्म का प्रतिपादन	शालास्थित असुर तथा चक्रचलित-देव	6, 8, 1, 1
77	हस्तिघट काण्ड में सोम-क्रय के अवसर पर यजमान द्वारा चिति को सूँघने की विधि का समर्थन	अश्वरूपी अग्नि	7, 3, 2, 14
78	हस्तिघट काण्ड में स्रुक नामक दो इष्टकाओं की उपधान-विधि का हेतु-प्रदर्शन	प्रजापति के दो बाहू—कार्ष्मर्य तथा उदुम्बर	7, 4, 1, 39
79	हस्तिघट काण्ड में दूर्वेष्टका की उपधान-विधि में दूर्वा की प्रशंसा तथा निर्वचन	प्रजापति तथा दूर्वा	7, 4, 2, 11
80	हस्तिघट काण्ड में पशुशीर्ष इष्टका की उपधान-विधि में पंच पशुओं की प्रशंसा	प्रजापति तथा पंच पशु	7, 5, 2, 6
81	चिति काण्ड में पंचाशत प्राणभृत इष्टका की उपधान-विधि में प्राण की व्याख्या	प्राणों का समञ्चन-प्रसारण	8, 1, 4, 9
82	चिति काण्ड में वैश्वदेवी इष्टका उपधान का हेतु-निर्धारण	अश्विन्-चिति	8, 2, 2, 6
83	चितिकाण्ड में तृयीय चिति स्थापन-विधि में तृतीय चिति की व्याख्या	अन्तरिक्ष लोक की प्रतीक तृतीय चिति	8, 3, 1, 1
84	,, ,,	प्रजापति की आत्मा 'इन्द्र-अग्नि का देवत्व'	8, 3, 1, 5
85	चिति काण्ड में चतुर्थ चिति-स्थापन में उस चिति की व्याख्या	द्युलोक तथा अन्तरिक्ष के मध्य की प्रतीक 'चतुर्थ चिति'	8, 4, 1, 1
86	चितिकाण्ड में पंचम चिति-स्थापन में उस चिति की व्याख्या	द्युलोक की प्रतीक 'पंचम चिति'	8, 5, 1, 1
87	चिति काण्ड में गार्हपत्य इष्टका-	गार्हपत्य इष्टका	8, 6, 3, 1

	स्थापन में गार्हपत्य इष्टका की प्रशंसा	तथा पाँचों चितियाँ	
88	संचिति काण्ड में उपवसथ से पूर्व दिन की विधियों में अध्वर्यु के 'ब्रह्म ! अप्रतिरथ मन्त्रों को जप' आदेश का प्रतिपादन	देव प्रमुख इन्द्र तथा बृहस्पति	9, 2, 3, 1
89	संचिति काण्ड में दीक्षित का पयोव्रती होने का समर्थन	देवों का अमृत 'पय'	9, 5, 1, 1
90	संचिति काण्ड में समिष्ट यजुः हवि का समर्थन	असुरों का अनृत तथा देवों का सत्य	9, 5, 1, 12
91	संचिति काण्ड में उख्य-संभरण मीमांसा में महदुक्थ्य	अग्न्यात्मक प्राण तथा जातवेद अग्नि	9, 5, 1, 64
92	अग्निरहस्य काण्ड में इष्टकाओं के लिए मिट्टी तथा जल के उपयोग का कारण	प्रजापति का अर्धभाग मर्त्य तथा अर्धभाग अमृत	10, 1, 3, 1
93	अग्निरहस्य काण्ड में चित्याग्नि-मीमांसा	आत्मा-पंछी	10, 2, 1, 1
94	सुपर्ण-चित्याग्नि मीमांसा में अर्क की व्याख्या	अर्क-पुरुष	10, 3, 4, 1
95	अग्निरहस्य काण्ड में उखा की व्याख्या	प्रजापति और उखा	10, 4, 1, 1
96	अग्निरहस्य काण्ड में संवत्सर-अग्नि के अवयवों की सहस्ररूपता का हेतु-प्रदर्शन	सहस्ररूप संवत्सर	10, 4, 1, 1
97	अग्निरहस्य काण्ड में वैश्वानर की व्याख्या	अग्नि-वैश्वानर	10, 6, 1, 1
98	अग्निरहस्य काण्ड में अग्नि-वैश्वानर की मीमांसा	प्रजापति तथा वाङ्मनस्-सृष्टि	10, 6, 5, 1
99	संग्रह काण्ड में दर्शपूर्णमासयाग में अहोरात्र की उत्पत्ति-प्रदर्शन हेतु सृष्टि-रचना-वर्णन	हिरण्यांड-सृष्टि	11, 1, 6, 1
100	संग्रह काण्ड में दर्शपूर्णमासयाग में व्रत का उपगमन करने वाले	प्रजापति की प्रतिमा 'यज्ञ'	11, 1, 8, 1

	यजमान की हविरूपता तथा देवों से निष्क्रमण-विधि का समर्थन एवं प्रतिपादन		
101	संग्रह काण्ड में सामिधेनी के अनन्तर आघार-द्रव्य-विधि में 'आघारों' का समीकरण	ब्रह्म तथा नामरूपात्मक जगत्	11, 2, 3, 1
102	संग्रह काण्ड में अनुयाजों का प्रतिपादन तथा उनकी विशेषता का प्रदर्शन	देवों के शस्त्र-अनुयाज	11, 2, 7, 26
103	संग्रह काण्ड में 'तेज ही श्रद्धा है तथा सत्य ही आज्य है' कथन का प्रतिपादन	सत्य अग्निहोत्र	11, 3, 1, 2
104	संग्रह काण्ड में ब्रह्मचारी का कर्त्तव्य-निरूपण	ब्रह्मचारी तथा समिधा	11, 3, 3, 1
105	संग्रह काण्ड में दर्शपूर्णमास विधियां का शरीर-प्रक्रिया से समीकरण	दर्शपूर्णमास विधियों का दर्शन	11, 4, 1, 1
106	संग्रहकाण्ड में मित्रविन्देष्टि-प्रशंसा	'श्री' की उत्पत्ति	11, 4, 3, 1
107	संग्रहकाण्ड में मित्रविन्देष्टि की प्रशंसा तथा उसका इतिहास	राष्ट्र प्रदातृ मित्रविन्देष्टि	11, 4, 3, 20
108	संग्रह काण्ड में चातुर्मास्य याग-निरूपण के प्रसंग में अरणियों के आश्वत्थी होने का प्रयोजक इतिहास-कथन	पुरूरवा-उर्वशी	11, 5, 1, 1
109	संग्रह काण्ड में दर्शपूर्णमास के विकृति यागों का निरूपण	यज्ञों के अपशकुन तथा उनके प्रायश्चित्त	11, 5, 3, 5
110	संग्रह काण्ड में शतातिरात्र अनुष्ठान की प्रशंसा	तमनाशक शतातिरात्र	11, 5, 5, 1
111	संग्रह काण्ड में प्रायश्चित्त-आहुति की व्याख्या में सृष्टि-रचना	प्रजापति तथा त्रयी विद्या	11, 5, 8, 1
112	संग्रह काण्ड में अंशु तथा अदाभ्य-ग्रह-प्रशंसा	अंशु तथा अदाभ्य ग्रह	11, 5, 9, 3

113	संग्रह काण्ड में अग्निहोत्र में आहूत वनस्पति-प्रशंसा	वनस्पतियों का दर्शन	11, 6, 1, 1
114	संग्रह काण्ड में अग्निहोत्र की आहुतियों का दार्शनिक विवेचन	अग्निहोत्र का दर्शन	11, 6, 2, 1
115	संग्रह काण्ड में देवों का तात्त्विक विवेचन	याज्ञवल्क्य का विदग्ध शाकल्य को देव-विषयक सम्बोध	11, 6, 3, 1
116	संग्रह काण्ड में पशुबंध यज्ञ के प्रकार का प्रदर्शन	सोमयज्ञ में पलाश-यूप	11, 7, 3, 8
117	संग्रह काण्ड में प्रवर्ग्य याग से सम्बद्ध सम्राड्दुहा गाय की हत्या के प्रायश्चित्त का निरूपण	केशिन राजन्य की सम्राड्दुहा गो	11, 8, 4, 1
118	मध्यम काण्ड में सौत्रामणी याग-निरूपण में संवत्सर के दिनों का दार्शनिक व्याख्यान	संवत्सर का परिमाण	12, 2, 2, 13
119	मध्यम काण्ड में पृष्ठ्यषडह, द्वादशाह, अजः, सवम् आदि सत्रों की प्रशंसा	सहस्रसंवत्सरसत्र तथा उसका स्थानापन्न प्रतिमान	10, 3, 3, 1
120	मध्यम काण्ड में प्रातः, माध्यंदिन तथा सांय-सवन का व्याख्यान	पुरुष नारायण को प्रजापति द्वारा यज्ञ करने का आदेश	12, 3, 4, 1
121	मध्यम काण्ड में आरुणि द्वारा अग्निहोत्र गो की दार्शनिक व्याख्या	अग्निहोत्री गो तथा उसका वत्स	12, 4, 1, 11
122	मध्यम काण्ड में सौत्रामणी का सौत्रामणीत्व-प्रदर्शन	अति सोमपान का उपचार 'सौत्रामणी'	12, 7, 1, 1
123	मध्यम काण्ड में शत्रुओं के नाश हेतु सौत्रामणी यजन का उपदेश	जल के फेन से नमुचि का वध	12, 7, 3, 1
124	सौत्रामणी काण्ड में उत्तर अग्नि में पयोग्रह तथा दक्षिण अग्नि में सुराग्रहों के ग्रहण के समय ग्रहों का प्रशंसन	इन्द्र की शक्ति 'पय और सुरा'	12, 8, 1, 1

125	सौत्रामणी काण्ड में सोम यज्ञ करने के उपरान्त सौत्रामणीयाग की अनिवार्यता का प्रतिपादन	रिक्तता का उपचार 'सौत्रामणी'	12; 8; 2, 1
126	मध्यम काण्ड में सौत्रामणी की महिमा का प्रदर्शन	अश्विनों का भेषज्य 'सौत्रामणी'	12, 8; 3, 1
127	मध्यम काण्ड में प्रणीत जल का प्रणीतत्व-प्रदर्शन	भयनाशक प्रणीत जल	12, 9, 3; 1
128	अश्वमेध काण्ड में वैश्वदेव आहुतियों का प्रशंसन	वैश्वदेव आहुति तथा प्रजापति	13; 1; 7, 1
129	अश्वमेध काण्ड में अन्न-होम का प्रशंसन	प्रजापति का प्रिय, अश्वमेध	13, 2, 1, 1
130	अश्वमेध काण्ड में ग्राम्य तथा आरण्य पशु-आलभन की प्रशंसा	प्रजापति तथा ग्राम्यारण्य पशु	13, 2, 4; 1
131	अश्वमेध काण्ड में अश्व-प्रशंसन	ऊर्ध्वलोक का प्रदर्शक 'अश्व'	13, 2, 8, 1
132	अश्वमेध काण्ड में महिमा ग्रहों की प्रशंसा	महिमा ग्रहों द्वारा प्रजापति की महिमा-प्राप्ति	13, 2, 11, 1
133	अश्वमेध काण्ड में 'परिप्लव' कथन	राजा वैवस्वत मनु की प्रजा 'मानव'	13, 4, 3, 3
134	अश्वमेध काण्ड में अश्वमेध-प्रशंसा	ब्रह्महत्या का उपचार 'अश्वमेध'	13, 5, 4, 7
135	अश्वमेध काण्ड में पुरुषमेध-प्रशंसा	पुरुष नारायण द्वारा पुरुषमेध	13, 6, 1, 1
136	अश्वमेध काण्ड में सर्वमेध-प्रशंसा	ब्रह्म स्वयम्भू द्वारा सर्वमेध	13, 7, 1, 1
137	प्रवर्ग्य काण्ड में देवों के सत्र में बैठने का विवरण-प्रदर्शन	श्रम, तप तथा श्रद्धा की महत्ता	14, 1, 1, 1
138	प्रवर्ग्य काण्ड में वल्मीक-वपा-मिट्टी के संभरण में मिट्टी की प्रशंसा	एमूष वराह तथा पृथिवी	14, 1, 2, 11
139	प्रवर्ग्य काण्ड में 'मनोरश्वासि'	मनु की अश्वा	14, 1, 3, 25

	यजुर्मन्त्र का उच्चारण करते हुए भूमि के स्पर्श करने की विधि का प्रतिपादन		
140	प्रवर्ग्य काण्ड में स्वाहाकार द्वारा घर्म की आहुति का प्रतिपादन	प्रवर्ग्य की स्वाहाकार द्वारा पूर्वाहुति	14, 2, 2, 1

उपाख्यानों का स्वरूप तथा उनका वर्गीकरण

कर्मकाण्डीय विधि-विधानों की जटिल तथा शास्त्रीय व्याख्या रूपी शुष्क एवं तप्त पथ से गुजरते हुए पाठक के मस्तिष्क को ये उपाख्यान 'तरु-छाया' का सा सुख और आनन्द प्रदान करते हैं। लघु वाक्य तथा सरल वाक्य-विन्यास इन उपाख्यानों की अपनी विशेषता है। आरंभ इतना स्वाभाविक है कि प्रथम वाक्य ही उपाख्यान के सूत्रपात का संकेत दे देता है, यथा—

(1) मनोर्ह वा ऋषभ आस। तस्मिन्नसुरघ्नी सपत्नघ्नी वाक् प्रविष्टास।
(2) वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये। यदिदमन्तरेण द्यावा-पृथिवी।
(3) प्रजापतिर्ह वा इदमग्रे एक एवास। स ऐक्षत कथं नु प्रजायेयेति।
(4) देवाश्च वा असुराश्च। उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे।

अनेक उपाख्यानों में कथोपकथन शैली का अन्तर्भाव किया गया है जिनकी प्रश्नोत्तर पद्धति उपाख्यानों की रोचकता को अन्त तक बनाए रखती है। शतपथ ब्राह्मण के लिए एक धार्मिक ग्रंथ होने के कारण यह अनुमान सहज तथा स्वाभाविक है कि इसके उपाख्यान भी धार्मिक हों किन्तु इन उपाख्यानों में धार्मिक उपदेशों का नितान्त अभाव है। यहाँ तक कि अनेक उपाख्यान, यथा 'पुरूरवा-उर्वशी' आदि, ऐसे हैं जिनमें धार्मिकता का लेश भी द्रष्टव्य नहीं है। इन उपाख्यानों के प्रयोजन अवश्य धार्मिक हैं अतः यह कहना उचित होगा कि धर्म इन उपाख्यानों का विषय न होकर हेतु है। शतपथ के उपाख्यानों में पद-पद पर प्रतीकात्मकता के दर्शन होते हैं। ऐसा कोई उपाख्यान नहीं है जिसमें किसी न किसी रूप में प्रतीक स्थापित न किया गया हो। प्रथम उपाख्यान में वृत्र अवर्षण बादलों का प्रतीक है। द्वितीय में कृष्ण-मृग के श्वेत, काले तथा भूरे लोम ऋक्, यजुः, साम के प्रतीक हैं। तृतीय उपाख्यान में यज्ञ-पात्रों को बजाने से उत्पन्न आवाज, उस असुरघ्नी वाक् की प्रतीक है जो मनु के ऋषभ में सर्वप्रथम मौजूद थी। इसी प्रकार प्रत्येक उपाख्यान किसी न किसी प्रतीकात्मकता का प्रदर्शन करता है अतः कहा जा सकता है कि सभी उपाख्यान प्रतीकात्मक शैली में संरचित हुए हैं। विषय की दृष्टि से सभी उपाख्यानों को स्थूल रूप में छः भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

(1) पुराकथात्मक, (2) व्याख्यात्मक, (3) निर्वचनात्मक, (4) ऐतिहासिक (समग्रतः ऐतिहासिक कथ्यों से पूर्ण उपाख्यान), (5) इतिहास-संकेतक (वे उपाख्यान जिनमें गौण रूप से इतिहास संकेतित हो, (6) हेतु कल्पना-मूलक।

उपर्युक्त वर्गीकरण पूर्ण शुद्ध वर्गीकरण नहीं है, क्योंकि उपाख्यानों में अनेक विषयों का सम्मिश्रण पाया जाता है। अनेक पुराकथात्मक उपाख्यानों में इतिहास का भी संकेत मिल जाता है तथा निर्वचन भी प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार ऐतिहासिक उपाख्यानों में भी अन्य विषयों का समावेश दृष्टिगत होता है। किन्तु केन्द्रीय विचार-विन्दु की दृष्टि से सम्पूर्ण उपाख्यानों को विषय की प्रमुखता तथा गौणता के आधार पर उपर्युक्त वर्गों में विभाजित किया गया है।

(1) पुराकथात्मक उपाख्यान

इस श्रेणी में शतपथ के वे उपाख्यान आते हैं जिनमें प्राकृतिक तत्त्वों, अमूर्त्त भावनाओं तथा प्रवृत्तियों का मूर्तीकरण उपलब्ध है। प्राकृतिक तत्त्वों का मानवीकरण उस मानसिक दृष्टिकोण द्वारा सहज तथा संभव था जो समस्त प्रकृति को चेतनवत् अनुभव करता था। आकाशस्थित ग्रह-नक्षत्रों की गतिविधियों, अंतरिक्ष में घटित होने वाले आँधी-तूफानों तथा बादल-बिजलियों की प्रक्रियाओं और सृष्टि की उत्पत्ति तथा रचना-विधान-सम्बन्धी कल्पनाओं को जब मानवीकृत रूप देकर उपाख्यानों के माध्यम से वर्णित किया जाने लगा तो उपाख्यान का पुराकथात्मक रूप समक्ष आया। कल्पना से ज्योंही किसी प्राकृतिक शक्ति का स्वरूप व्यक्तिपरक हो जाता है त्योंही काव्यात्मक कल्पना एक परवर्ती पुराकथा का जाल बुनने लगती है जिसमें कालान्तर में ऐसी विषयवस्तु मिल जाती है जिसका मूल सृजन से कोई सम्बन्ध नहीं रहा होता।[1] शतपथ के पुराकथात्मक उपाख्यानों में यह परवर्ती विषय-वस्तु स्पष्ट दृष्टिगत होती है। उदाहरण के लिए प्रथम उपाख्यान को लीजिए। इसमें इन्द्र द्वारा वृत्र पर वज्र से प्रहार तथा फलस्वरूप जलों का बहना, नभ-मण्डल में सूर्य द्वारा विद्युतरूपी वज्र-प्रहार से अवर्षण के बादलों को नष्ट कर जल-वृष्टि-प्रक्रिया का मानवीकृत रूप है। किन्तु आगे प्रवाहित जलों का दुर्गन्धित होना तथा दर्भों का उगना आदि कथानक मूल सृजन से असम्बद्ध परवर्ती विकास है। इन विकसित कथानकों का मूल प्रकृति से सम्बन्ध ढूंढना असम्भव है। शतपथ के पुराकथात्मक उपाख्यानों का सर्वातिशायी विषय देवासुर-संग्राम है जो दिव्य तथा आसुरी प्रवृत्तियों के संदर्भ की प्रतीकात्मकता को

1. मैक्डॉनल, 'वैदिक माइथॉलोजी' (हिन्दी अनुवाद, डॉ० रामकुमार राय), पृ० 9

भी यदा-कदा प्रस्तुत करता है। देव तथा असुर दोनों प्रजापति की संतान हैं किंतु दोनों निरन्तर संघर्षरत रहते हैं। असुरों की प्रवृत्ति अभिचारीय तथा दुष्टतापूर्ण है। वे ओषधियों तथा अन्नों को विषयुक्त कर देते हैं।[1] देवों का स्वरूप धारण कर तथा उनकी क्रियाओं का ज्यों-का-त्यों अनुकरण कर, उनमें मिलकर उन्हें धोखा देते हैं[2] तथा देवों के यज्ञ में विघ्न डालते हैं। असत्यवादन द्वारा समृद्धि को प्राप्त होते हैं[3] तथा अहंकारी, प्रमादी और आलसी हैं।[4] इसके विपरीत देवता श्रम तथा तप में विश्वास रखने वाले, सत्यनिष्ठ, यज्ञोपजीवी और परोपकारी हैं। पुराकथात्मक उपाख्यानों में संख्या 3, 21, 22, 34, 61, 63, 81, 96, 97, 98, 99, 100 तथा 101 आदि उल्लेखनीय हैं। 22वाँ उपाख्यान जलप्लावन की घटना से सम्बद्ध है तथा 21वाँ काम-प्रवृत्ति पर सात्विकता तथा शिव-प्रवृत्ति की विजय को पुराकथा के रूप में प्रस्तुत करता है। सृष्टि-रचना से सम्बद्ध पुराकथाओं में अद्यपर्यन्त कल्पित सृष्टि-सर्जन विधाओं में से प्रायः प्रत्येक का उल्लेख शतपथ में उपलब्ध है जिनका विस्तृत विवरण पिछले अध्याय में किया जा चुका है।

(2) व्याख्यात्मक उपाख्यान

उपाख्यान संख्या 5, 17, 24, 25, 44, 59, 89, 94, 97, 109 आदि व्याख्यात्मक उपाख्यान हैं। इनमें कथ्य विषय को उसकी विशद् व्याख्या तथा मीमांसा द्वारा समझाया गया है। पाँचवें उपाख्यान में पशु-बलियों की प्रतीक अन्न-बालियों की व्याख्या की गई है। 24वें उपाख्यान में कमल पत्र की तरह कंपायमान पृथिवी के दृढ़ होने की व्याख्या की गई है। 109वाँ उपाख्यान अनेक यज्ञ-विधियों की व्याख्या प्रस्तुत करता है। 97वें उपाख्यान में अर्क (जल) के ऊपर के फेन के दृढ़ होने पर धरती के बनने का सुन्दर वर्णन उपलब्ध है। 94वाँ उपाख्यान अर्क रूपी अग्नि को पुरुष कहे जाने के कारण की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करता है।

(3) निर्वचनात्मक उपाख्यान

संख्या 1, 6, 11, 19, 47 आदि निर्वचनात्मक उपाख्यान हैं। शतपथ के उपाख्यानों में यों तो निर्वचन की पद्धति पग-पग पर प्राप्त है किन्तु कतिपय

1. द्रष्टव्य, विवरण तालिका की उपाख्यान संख्या 27
2. वही, 36
3. वही, 90
4. वही, 76

उपाख्यानों की संरचना का हेतु ही निर्वचन है। यथा छठे उपाख्यान में 'शर' शब्द तथा 11वें उपाख्यान में अध्वर शब्द के निर्वचन हेतु ही उपाख्यान की कल्पना की गई है। 16वें उपाख्यान में 'यूप' का यूपत्व तथा 19वें में पर्ण का पर्णत्व प्रदर्शित किया गया है। इन निर्वचनों में सामान्यतया धातु अथवा क्रिया के अर्थ से ही निहितार्थ का प्रतिपादन किया गया है। निर्वचना हेतु किए गए इन उपाख्यानों की भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी के लिए उपादेयता अपरिहार्य है।

(4) हेतुकल्पनामूलक उपाख्यान

हेतुकल्पनामूलक उपाख्यानों के उदाहरण रूप में संख्या 12, 14, 23, 30, 41, 53, 92 आदि उपाख्यानों को गिनाया जा सकता है। इन उपाख्यानों में कथ्य को स्पष्ट करने के लिए किसी हेतु की कल्पना की गई है। यथा 12वें उपाख्यान में उपांशु हवियों के समर्थन में मन एवं वाणी का झगड़ा, हेतु रूप में कल्पित किया गया है। 92वें उपाख्यान में इष्टका-निर्माण में मृद् तथा जल के प्रयोग की हेतु कल्पना द्रष्टव्य है। सर्वाधिक सुंदर हेतु की कल्पना 99वें उपाख्यान में दर्शनीय है जिसमें हिरण्याण्ड से उत्पन्न पुरुष के वर्ष भर में उच्चरित भूः, भुवः तथा स्वः शब्दों को वर्ष भर के बच्चे का प्राथमिक उच्चारण बू, बुअ आदि का हेतु कल्पित किया गया है। हेतु कल्पनामूलक उपाख्यानों में पर्याप्त बौद्धिक व्यायाम के साथ-साथ यत्र-तत्र साहित्यिक सौंदर्य भी दर्शनीय है। यथा मन तथा वाणी के झगड़े और सोम को द्युलोक से लाने से सम्बन्धित उपाख्यानों में मनोवैज्ञानिक सौंदर्य अद्भुत है।

(5) ऐतिहासिक उपाख्यान

शतपथ ब्राह्मण ऐतिहासिक उपाख्यानों का भण्डार है। संख्या 10, 15, 103, 105, 107, 108, 109, 113, 114, 115, 117, 118, 127, 134 आदि अनेक उपाख्यान प्राचीन इतिहास को प्रतिबिम्बित करते हैं। 38वाँ उपाख्यान बताता है कि अंगिरा सबसे प्रथम यज्ञकर्त्ता थे तथा उन्होंने आदित्यों को यज्ञ करना सिखाया था। 51वें उपाख्यान में शर्यात मानव तथा च्यवन भार्गव का इतिहास उपलब्ध है जिसका संकेत संहिताओं में भी मिलता है। 94वाँ उपाख्यान श्वेतकेतु आरुणेय द्वारा सम्पादित यज्ञ का इतिहास प्रस्तुत करता है। 97वें में वैश्वानर अग्नि के रहस्य के ज्ञाता अश्वपति कैकेय से किए गए अनेक आचार्यों के वाद-विवाद का विवरण दिया गया है। अनेक उपाख्यान जनक वैदेह तथा याज्ञवल्क्य का ऐतिहासिक विवरण देते हैं अन्य विदेह जनक तथा उसके पुरोहित गौतम राहूगण का। 108वाँ उपाख्यान उर्वशी तथा पुरूरवा का प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपाख्यान है जिसका संकेत संहिताओं में भी मिलता है।

केशिन राजन्य, दुष्टरीतु पौंसायन तथा पाटवचक्रस्यपति आदि अनेक नवीन ऐतिहासिक राजाओं का उल्लेख शतपथ के इन उपाख्यानों की विशेषता है।

(6) इतिहास-संकेतक उपाख्यान

उक्त ऐतिहासिक उपाख्यानों के अतिरिक्त कतिपय ऐसे भी उपाख्यान उपलब्ध हैं जिनकी सम्पूर्ण रचना ऐतिहासिक कथ्य को आवेष्टित नहीं करती किन्तु जिनमें स्फुट या प्रच्छन्न ऐतिहासिक संकेत यत्र-तत्र गुम्फित हैं। 37वें उपाख्यान का देवों द्वारा असुरों के पुरों के भंजन का विवरण आर्यों द्वारा किए गए किसी युद्ध का संकेत देता है। 66वाँ उपाख्यान जिसमें ऋक्, यजुः तथा साम का पहले वृत्र के पास होना तथा विष्णु की सहायता से इन्द्र का उन्हें प्राप्त करना आदि में आर्यों तथा असुरों के किसी अज्ञात इतिहास को ढूंढ़ा जा सकता है। 88वें उपाख्यान में वर्णित है कि देवों को दक्षिण दिशा का निरन्तर भय रहता था। वहाँ से असुर-रक्षस् आकर यज्ञ में विघ्न डालते थे और कहते थे कि यज्ञ का विस्तार मत करो। इन्द्र तथा बृहस्पति की सहायता से उन्हें भगा देने का उक्त विवरण स्पष्टतः इतिहास का संकेतक है।

पौराणिक कथाओं के मूल स्रोत

उपर्युक्त वर्गीकरण विषयवस्तु को स्पष्ट करने की सुविधा से ही किया गया है। वैसे ये विषय अनेक उपाख्यानों में परस्पर मिले-जुले भी हैं। शतपथ के अनेक उपाख्यान पौराणिक उपाख्यानों की स्रोतस्विता को प्रस्तुत करते हैं। पूर्वप्रदत्त विवरण-तालिका के अनुसार निम्न उपाख्यानों को प्रत्यक्ष ही तत्तत् पौराणिक उपाख्यानों का मूल स्रोत मानना आवश्यक है—

तालिका में संख्या	उपाख्यान
8	वामन विष्णु
16	कूर्मपुरोडाश
21	प्रजापति की कामांधता एवं रुद्र का वाण संधान
22	मनु एवं जलौघ
30	अदिति के आठ पुत्र
42	सुपर्णी तथा कद्रू का कलह
61	स्वर्भानु असुर तथा सूर्य
70	प्रजापति की संवत्सर सृष्टि (कुमार-जन्म)
99	हिरण्याण्ड सृष्टि

तालिका में संख्या	उपाख्यान
106	श्री की उत्पत्ति
108	उर्वशी पुरूरवा
120	पुरुष-नारायण को प्रजापति द्वारा यज्ञ करने का आदेश
123	जल के फेन से नमुचि का वध
133	राजा वैवस्वत की प्रजा 'मानव'
138	एमूष वराह तथा पृथिवी

आठवें उपाख्यान का संकेत-सूत्र यद्यपि ऋग्वेद में विष्णु के तीन डगों के रूप में द्रष्टव्य है किन्तु उपाख्यान रूप में वर्णन तथा विष्णु के लिए 'वामन' शब्द का प्रयोग शतपथ में ही प्रथम बार किया गया है। 21वाँ उपाख्यान शंकर के तृतीय नेत्र से काम देवता के भस्म होने की कथा का आदि स्वरूप प्रदर्शित करता है। 22वाँ उपाख्यान विख्यात जलप्लावन का इतिहास उद्घाटित करता है जो पौराणिक मत्स्यावतार की कथा का मूल है। भारतेतर साहित्य में भी उल्लेखनीय इस उपाख्यान का सर्वप्रथम विवरण-स्थल शतपथ ब्राह्मण ही है। सृष्टि-रचना-विषयक सर्वाधिक ध्यान देने योग्य पुराकथा शतपथ का 138वाँ उपाख्यान है जिसमें एमूष वराह द्वारा पृथिवी को ऊपर लाए जाने का वर्णन संकेत रूप में दिया गया है। पुराणों में विष्णु के एक अवतार के रूप में इस कथा का विकास हुआ है। 123वें उपाख्यान में जब इन्द्र नमुचि को मारने के लिए प्रतिज्ञा करता है कि 'न तो मैं उसे दिन में मारूँगा न रात में, न दंड से न धनुष से, न हथेली से, न मुट्ठी से, न सूखे से न गीले से मारूँगा' तब अश्विन तथा सरस्वती जल के फेन का वज्र बनाते हैं जिससे इन्द्र दिन तथा रात की मिलन वेला में नमुचि का शिर उड़ा देता है। प्रस्तुत उपाख्यान किस प्रकार 'नृसिंहावतार' की कथा के रूप में परिवर्तित हुआ, इसका स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है। शतपथ का पुरुष-नारायण से सम्बन्धित उपाख्यान, जिसमें साथ ही 'पांचरात्र' शब्द का भी उल्लेख मिलता है, नर-नारायण की कथा का मूल स्रोत है। मूर्तीकरण के धुंधलेपन में से प्राकृतिक तत्त्वों तथा अमूर्त्त भावों के झलकने के कारण इन उपाख्यानों की स्रोतस्विता स्पष्ट है जबकि पौराणिक उपाख्यानों में मानवीकरण अपनी विकसित अवस्था को प्राप्त कर चुका है।

शतपथीय उपाख्यानों का उत्स

इनमें से कतिपय उपाख्यान ऐसे हैं जिनका संकेत हमें वैदिक संहिताओं में मिलता है। शतपथ के उपाख्यानों में हम उन संकेत-सूत्रों के विकसित स्वरूप

के दर्शन करते हैं यथा उपाख्यान 1, 4, 8, 18, 30, 34, 51, 62, 63, 99, 108, 135 आदि। इनमें से अनेक उपाख्यान यथा पुरूरवा-उर्वशी, पुरुष-नारायण का पुरुषमेध और शर्यात-मानव आदि ऐसे उपाख्यान हैं जिनका मूल स्रोत संहिताओं में है तथा विकसित स्वरूप पुराणों में। शतपथ के ऐसे उपाख्यान निश्चय ही मध्य शृंखला की भूमिका प्रस्तुत करते हैं।

उपाख्यानों में नीति-तत्त्व

शतपथ ब्राह्मण के उपाख्यानों में हमें नीति-तत्त्व के भी प्रचुर संकेत मिलते हैं जो नैतिकता के तत्कालीन मानदंडों को प्रदर्शित करते हैं। उदाहरण के तौर पर नीचे उपाख्यानों की संख्या तथा उनमें समर्थित नीति-वाक्य दिए जा रहे हैं।

उपाख्यान संख्या	नीति
4	शरणागत की रक्षा न कर सकना महान् पाप है।
35	संगठन में ही शक्ति है।
36	लड़ाई झगड़ा हो जाने पर प्रायश्चित्त करना चाहिए।
38	अनिंद्य लोगों तथा सज्जनों के कार्य को इन्कार नहीं करना चाहिए।
59	अहंकार नहीं करना चाहिए। अहंकारी का पतन अनिवार्य है।
76	चक्र में चलते रहने वाले की जीत होती है।
90	असत्य से तात्कालिक समृद्धि आती है किन्तु सत्य की अन्त में विजय होती है।
109	सत्य बोलना चाहिए।
114	तत्वनिष्ठ व्यक्ति से वाद-प्रतिवाद नहीं करना चाहिए।
137	श्रम, तप तथा श्रद्धा से सब कुछ जीता जा सकता है।

श्रम एवं तप की महत्ता को तो शतपथ के आधे से अधिक उपाख्यानों में प्रतिपादित किया गया है।

नवीन तथ्यों के उद्घाटक

शतपथ ब्राह्मण के अनेक उपाख्यान नए तथ्यों तथा नवीन उद्भावनाओं का उद्घाटन करते हैं। तृतीय उपाख्यान में मनु के पास एक वृषभ होने का इतिवृत्त वर्णित है। यह मनु, आदि मनु ही है जिनका उल्लेख शतपथ में अनेक बार अन्यत्र भी हुआ है।[1] शिव के साथ नांदि के धार्मिक स्वरूप के अन्वेषण

1. द्रष्टव्य, इसी विवरण तालिका की उपाख्यान सं० 22, 133, 137 आदि।

को यह पुराकथात्मक उपाख्यान एक नई दशा प्रस्तुत करता है। इसी उपाख्यान में 'असुरघ्नी वाक्' के क्रमशः वृषभ से मनावी में तथा मनावी से यज्ञ-पात्रों में प्रविष्ट होने की बात कही गई है। यज्ञ-पात्रों में असुरघ्नी वाक् प्रविष्ट होना तथा देव-विरोधी असुरों को दूर रखने के लिए यज्ञ-पात्रों को बजाना ही मन्दिर में देवों की आरती के समय घण्टे-घड़ियाल तथा पात्रों के बजाए जाने का मूल कारण है। सत्रहवाँ उपाख्यान जिसमें पश्चिमी तथा पूर्वी समुद्र के पीछे हटने की बात कही गई है निश्चय ही पूर्व-वैदिक युग में राजस्थान में समुद्र होने की संभावना को पुष्ट करने वाला एक नवीन प्रमाण है।[1] उपाख्यान 106 में लक्ष्मी के अवतार की कल्पना का प्रतिबिम्ब उभर कर आता है। श्री की झिलमिलाती हुई सुन्दरता पर देवों का लुब्ध होना तथा उसे हिंसित करने की इच्छा व्यक्त करना आदि तथ्य इस उपाख्यान की आदि स्रोतस्विता को निश्चित बनाने में समर्थ हैं। इसी प्रकार उपाख्यान 121 में नृसिंहावतार में हिरण्यकश्यप की अमरता के वरदान के कारण उसे मारने के लिए विचित्र समय एवं साधन की कल्पना का मूल स्पष्ट दर्शनीय है। इतना ही नहीं, अनेक धार्मिक रीति-रिवाजों का मूल भी शतपथ के इन उपाख्यानों में वर्णित घटनाओं तथा यज्ञ-प्रक्रियाओं में ढूंढ़ना अत्यन्त सहज है यथा उपाख्यान 61 में स्वर्भानु-असुर तथा सूर्य के पुराकथात्मक उपाख्यान में शूद्रों को यज्ञ से सम्बद्ध करने की घटना-विशेष का उल्लेख प्राप्त है। संभवतः ग्रहण के अवसर पर शूद्रों को अन्न, वस्त्र आदि का दान देने की परम्परा का मूल प्रस्तुत उपाख्यान ही है।

शतपथीय उपाख्यानों की इस संक्षिप्त वर्गीकृत उद्धरणी से, जो संभवतः प्रथम बार प्रस्तुत की गई है, यह स्पष्ट है कि उपाख्यानों की दृष्टि से शतपथ अत्यन्त समृद्ध है। इन उपाख्यानों के कथ्य तथा स्वरूप के अवलोकन से यह भी स्पष्ट है कि इनमें एक ओर जहाँ सृष्टि-प्रक्रिया की प्रतीकात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गई है वहीं दूसरी ओर यज्ञ-विधाओं की अर्थगर्भिता को निरूपित करने का प्रयत्न भी किया गया है। अधिकांश उपाख्यानों का मूल ढाँचा देवासुर-संग्राम तथा प्रजापति द्वारा सृष्टि-रचना के तत्त्वों पर आधारित है किन्तु सूक्ष्म संकेत रूप में इन उपाख्यानों में ऐतिहासिक तथ्य तथा भौगोलिक संदर्भ भी पाए जाते हैं। शब्दों के निर्वचन की प्रवृत्ति भी इनमें निहित है, अतः धर्म, दर्शन,

---

1. द्रष्टव्य, 'राजस्थान स्वतन्त्रता से पहले और बाद' (हिन्द साहित्य लिमिटेड, अजमेर, 1966) में प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध-लेखिका का ही लेख 'राजस्थान, वैदिक युग से स्वर्णयुग तक', पृ० 6

पुराकथा, इतिहास, भूगोल तथा भाषा-विज्ञान के जिज्ञासु विद्यार्थी या शोधार्थी के लिए इन उपाख्यानों के अध्ययन का पर्याप्त महत्त्व है। संहिता-साहित्य में बीज रूप में अंकुरित विचार ही प्रतीकात्मकता तथा कल्पनात्मकता से मंडित होकर क्रमशः विशदतर व्यापारों से संवलित होते हुए पौराणिक वाङ्मय में समृद्ध तथा रोचक उपाख्यानों के पल्लवित पुष्पित लता-पादपों के रूप में विकसित हो गए हैं। शतपथीय उपाख्यानों का स्वरूप इस विकास-क्रम की मध्यवर्ती कड़ी है। फलतः उपाख्यानों के विकास-क्रम के अध्ययन की दृष्टि से भी शतपथ के उपाख्यानों का अपना विशिष्ट महत्त्व है।

परिशिष्ट

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

पुरातन-ग्रन्थ

अथर्ववेद (सायण भाष्य), सम्पादक : एस० पी० पण्डित, बम्बई, 1895
अष्टाध्यायी (पाणिनि), सम्पादक : श्रीशचन्द्र वसु, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1962
आत्मपुराण (शंकरानन्द), चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफ़िस, बनारस
आपस्तम्बधर्मसूत्र, सम्पादक : आर० एच० शास्त्री, कुम्भकोणम, 1895
आपस्तम्बश्रौतसूत्र, सम्पादक : आर० गारबे, कलकत्ता, 1882
आश्वलायनगृह्यसूत्र, सम्पादक : ए० जी० स्टेंगलर, लिपज़िग, 1864
ऋग्वेद (सायण भाष्य) (पाँच भाग), वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, 1933-51
ऐतरेयब्राह्मण (सायण भाष्य), आनन्दाश्रम ग्रंथमाला, पूना, 1931
कठोपनिषद्, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1930
कपिष्ठलकठसंहिता, सम्पादक : रघुवीर, लाहौर, 1932
काठकसंहिता, सम्पादक : वान श्रोडर, लिपज़िग, 1900
काण्वसंहिता, स्वाध्याय मण्डल, सतारा, वि० सं० 1997
कात्यायनश्रौतसूत्र, सम्पादक : विद्याधर शर्मा, बनारस, 1933-37
कौषीतकि उपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर
कौषीतकिब्राह्मण, सम्पादक : ई० बी० कॉवेल, कलकत्ता, 1861
गोपथब्राह्मण, सम्पादक : राजेन्द्रलाल मित्र तथा एच० विद्याभूषण, कलकत्ता, 1881
गोभिलगृह्यसूत्र, सम्पादक : एफ़० नादर डार्पेट, 1884
गौतमधर्मसूत्र (हरदत्तकृत व्याख्या), आनन्दाश्रम ग्रंथमाला, पूना, 1931
जैमिनीय उपनिषद्, लाहौर, 1921
ताण्ड्यमहाब्राह्मण (सायण भाष्य), वाराणसी, 1935
तैत्तिरीयब्राह्मण, सम्पादक : राजेन्द्रलाल मित्र, कलकत्ता, 1855
तैत्तिरीयसंहिता (सायण भाष्य), आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज, पूना, 1905
निरुक्त (हिन्दी भाष्य), छज्जूराम शास्त्री, मेहरचन्द लछमनदास, दिल्ली, 1963
पञ्चविंशब्राह्मण, सम्पादक : ए० वेदान्तवागीश, कलकत्ता, 1869-74
पारस्कर गृह्यसूत्र, सम्पादक : गोपाल शास्त्री नेने, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, 1926
बृहदारण्यक उपनिषद्, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1930
बौधायनशुल्वसूत्र, रत्नकुमारी पब्लिकेशन्स सीरीज, नई दिल्ली, 1968
ब्रह्माण्डपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1935
ब्रह्मसूत्र (शाङ्कर भाष्य), शंकराचार्य अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, 1965
मनुस्मृति, एम० वी० पटवर्धन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1968

महाभारत, सम्पादक : पी० सी० राय, कलकत्ता 1881
मार्कण्डेयपुराण, सम्पादक : के० एम० बैनर्जी, कलकत्ता, 1862
मीमांसादर्शन, डॉ० मण्डनमिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, 1922
मैत्रायणीसंहिता, सम्पादक : सातवलेकर, औंध, 1942
याज्ञवल्क्यस्मृति, सम्पादक : शिवराम शर्मा तथा जनार्दन शर्मा, आत्माराम कान्होवा प्रकाशन, संवत 1867
रामचरितमानस (तुलसी), गीता प्रेस, गोरखपुर
रामायण (वाल्मीकि), सम्पादक : पी० सी० राय, निर्णयसागर प्रेस, वम्बई, 1881
लाट्यायनश्रौतसूत्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, 1932
वशिष्ठधर्मसूत्र, पूना, 1930
वाजसनेयीसंहिता (महीधर भाष्य), निर्णयसागर प्रेस, वम्बई, 1912
वायु पुराण, सम्पादक : एच० एन० आप्टे, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1905
विष्णु पुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर, 1933
विष्णुधर्मोत्तर पुराण, मनसुखराय मोर, कलकत्ता, 1962
शतपथब्राह्मण, सम्पादक : ए० वेवर, लन्दन, 1885
शतपथब्राह्मण (हिन्दी अनुवाद), गंगाप्रसाद उपाध्याय, प्राचीन वैज्ञानिक अध्ययन अनुसंधान संस्थान, दिल्ली, 1967
शतपथब्राह्मण (विज्ञान भाष्य), पं० मोतीलाल शर्मा, श्री वालचन्द्र यन्त्रालय, मानवाश्रम, दुर्गापुरा, जयपुर, 1956
शतपथब्राह्मण (माध्यंदिन) (चार भाग), लक्ष्मी वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, वम्बई, 1940
शाङ्खायन आरण्यक, सम्पादक : ए० वी० कीथ, आक्सफोर्ड, 1909
श्रीमद्भगवद्गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर
श्रीमद्भागवत् पुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर
षड्विंशब्राह्मण, सम्पादक : वी० रामचन्द्र शर्मा, तिरुपति, 1967
सामवेद (सायण भाष्य), सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता, 1873
सामवेद, सम्पादक : सातवलेकर, औंध, 1939
स्कंदपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, वम्बई, 1810

सहायक ग्रन्थ (अ)

अग्रवाल, वासुदेवशरण, उरुज्योति, अमृतसर 1953
— मार्कण्डेयपुराण : एक सांस्कृतिक अध्ययन (प्रथम संस्करण), इलाहाबाद, 1961
— हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1964
अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासनपद्धति, अनुवादक : अनन्तसदाशिव, 1959
उपाध्याय, वलदेव, वैदिक साहित्य और संस्कृति (द्वितीय संस्करण), शारदा मंदिर, काशी, 1958

कालिदास, **अभिज्ञानशाकुन्तलम्**, टीकाकार : कपिलदेव द्विवेदी, रामनारायणलाल बेनीमाधव, इलाहाबाद, 1962

— **रघुवंश**, अनुवादक : श्री सीताराम चतुर्वेदी, अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, काशी

कीथ, ए० बी०, **वैदिक धर्म एवं दर्शन** (भाग 2), अनुवादक : डॉ० सूर्यकान्त, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1965

गुप्त, सुधीरकुमार, **वेदलावण्यम्**, भारती मन्दिर, गोरखपुर, 1959

गोपीनाथ कविराज, **भारतीय संस्कृति और साधना** (प्रथम खंड), पटना, 1963

चतुर्वेदी, गिरिधरशर्मा, **वैदिक विज्ञानम्**, अखिल भारतीय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली

जायसवाल, काशीप्रसाद, **हिन्दू राजतन्त्र**, भाग 2

त्रिवेदी, रामगोविन्द, **वैदिक साहित्य** (प्रथम संस्करण), भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1950

पाठक, नाथूलाल, **ऐतरेयब्राह्मण का एक अध्ययन**, रोशनलाल जैन एण्ड सन्स, जयपुर, 1966

फतहसिंह, **भारतीय समाजशास्त्र**, मूलाधार, कोटा, 1953

मन्मथराय, **प्राचीन भारतीय मनोरञ्जन**, भारती विद्या भवन, इलाहाबाद, 1956

मुकर्जी, राधाकुमुद, **हिन्दू सभ्यता**, अनुवादक : वासुदेवशरण अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1955

मैक्डॉनल, **संस्कृत साहित्य का इतिहास** (प्रथम भाग), अनुवादक : चारुचन्द्रशास्त्री, चौखम्बा, वाराणसी, 1962

— **वैदिक माइथॉलोजी**, अनुवादक : डा० सूर्यकान्त, श्री भारत भारती प्रा० लि०, दिल्ली, 1961

मैक्डॉनल तथा कीथ, **वैदिक इंडैक्स** (दो भाग), अनुवादक : रामकुमार राय, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1962

राधाकृष्णन्, **आधुनिक युग में धर्म**, अनुवादक : प्रयाग शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1968

— **धर्म तुलनात्मक दृष्टि में**, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1965

विन्टरनित्ज, **प्राचीन भारतीय इतिहास**, अनुवादक : लाजपतराय, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1961

वेदालंकार, हरदत्त, **हिन्दू परिवार मीमांसा**, कलकत्ता, सं० 2011

शर्मा, मोतीलाल, **सांस्कृतिक व्याख्यान पञ्चक**, श्री बालचन्द्र यंत्रालय, दुर्गापुरा, जयपुर 1956

शास्त्री, चिन्नस्वामी ए०, **यज्ञतत्त्वप्रकाश**, मद्रास, 1953

सहायक ग्रन्थ (आ)

Barnett L.D., *The Heart of India*, London, 1924

Bergaigne, *Vedic Religion*, (La Religion Vedice), Poona, 1969

Bhargava, P. L., *India in the Vedic Age*, (2nd edition), Lucknow, 1971

Dawson, John, *A Classical Dictionary of Hindu Mythology*, London

Deshmukh, P. S., *Religion in Vedic Literature*, Bombay, 1933

Eggling, J., The Shatapatha Brahmana (5 Vols), Delhi, 1963

Elliot, *Races of the North-West Provinces*

Geldner K.F., *Vedische Studien*, Stuttgart, 1889-1901

Ghosh, B., *Collections of the Fragments of Lost Brāhmaṇas*, New Delhi, 1982

Ghoshal, U.N., *Studies in Indian History and Culture*, Calcutta, 1957

Ghoshal, U.N., *Historiography and Other Essays*

Hillebrandt, A., *Vedische Mythologie* (2nd edition), Breslau, 1927-29

Hopkins, E. W., *The Religions of India*, Boston, 1895

Jayaswal, K. P., *Hindu Polity*, 1943

Keith, A. B., *Religion and Philosophy of the Vedas and Upanishads*, Harvard University Press, 1925

— *Taittirīya Saṁhitā*, Cambridge, 1920

— *Aitareya Brāhmaṇa* (English translation), Cambridge, 1920

Macdonell, A. A., *Vedic Mythology*, Varanasi, 1963

— *Vedic Index*, parts I and II, London, 1912

— *India's Past*

— *A History of Sanskrit Literature*, 1929

Majumdar, R.C., *Ancient India*, 1952

— *Corporate Life in Ancient India*, Calcutta, 1918

Majumdar, R.C. and Pusalker, A.D., *The History and Culture of the Indian People* (The Vedic age)

Max Mueller, F., *Chips from a German Workshop*, vol. II, 1867

— *India, What Can it Teach us*, Calcutta, 1934

— *History of Ancient Sanskrit Literature*, Varanasi, 1968.

McCrindle, *Ancient India as Described by Megasthenese and Arrian*

Muir, J., *Original Sanskrit Texts*, London, 1873

Powell, B., *Indian Village Community*, 1896

Piggot S. Peguine, *Pre-Historic India*, 1950

Pillai, Govind Krishna, *Hindu Gods and Hidden Mystries*

Potdar, *Sacrifices in The Ṛgveda*, Bombay, 1953
Rapson, E.J., *Ancient India*, Cambridge, 1914
Renou, Louis, *Vedic India*, Calcutta, 1957
Schroeder, O., *Pre-Historic Antiquities of the Aryan Peoples*, London, 1890
Sharma, G.R., *Excavations at Kausambi*, Allahabad, 1960
Sharma, Ramsharan, *Aspects of Political Ideas and Institutions in Ancient India*, Varanasi, 1959
Stewart and Brandis, *Forest Flora of North-West and Central India*
Tilak, B.G., *Orion*, 1893
Vandyopadhyaya, N.C., *Economic Life and Progress in Ancient India*, Calcutta, 1945
Weber, A., *The History of Indian Literature*, 1961
— *Nakshatra*
— *Indische Studien*, part I (English translation), Varanasi, 1961

कोशादि ग्रन्थ

अमरकोश (धराख्य हिन्दी टीका), बनारस, वि० सं०, 1994
एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, भाग 4, 1908
जरनल् आफ द रॉयल एशियाटिक सोसायटी, वोल्यूम 27, कलकत्ता, 1876
द स्टूडैण्ट्स संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, वी० एस० आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1963
राजस्थान स्वतत्रन्ता से पहले और बाद, सम्पादक : चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय, हिन्द साहित्य लिमिटेड, अजमेर, 1966
वाचस्पत्यम्, तर्कवाचस्पति श्री तारानाथ भट्टाचार्य (नवीन संस्करण), चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, 1962
हलायुध, अभिधान रत्नमाला, 1967
हार्वर्ड ओरिएण्टल सीरीज, वोल्यूम 18, 1914
हिन्दी विश्वकोश (वोल्यूम 11), सम्पादक : श्री नगेन्द्र वसु
शब्दकल्पद्रुम (द्वितीय संस्करण), राजा राधाकान्तदेव
सर मोनियर विलियम्स, संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, 1899
सेंट पीटर्सबर्ग कोश

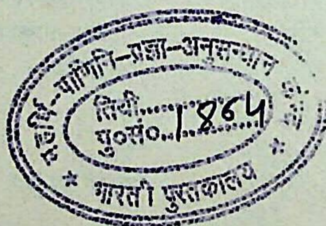
नामानुक्रमणिका

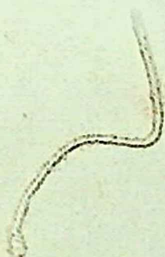
शुद्धि-पत्र

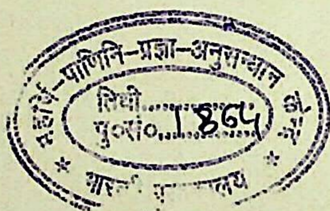
पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
1	11	'ब्रह्मम्'	'ब्रह्मन्'
1	12	'ब्रह्मम्'	'ब्रह्मन्'
3	11	को	की
4	फु०नो० 2	निरुक्त०	निरुक्त
5	फु०नो० 1	संज्ञाए	संज्ञाएँ
8	23	कौषीतकि	कौषीतकि
10	16	गृह्य सूत्र	गृह्यसूत्र
13	5	अष्टाकपालः	अष्टकपालः
13	19	हेन्द्रेतो	हेन्द्रोतो
13	फु०नो० 2	वही	वही
17	12	वांङ्मय	वाङ्मय
17	26	तथेव	तथैव
17	फु०नो० 5	डब्ल्यू० ए० रावर्ट	डबल्यू० ए० रैम्वॉट
19	5	हीं	ही
20	3	इंस्टिटीट्यूट	इंस्टीट्यूट
20	6	क्लैक्शन	कलैक्शन
23	10	चौदहवा	चौदहवाँ
23	24	प्रतिष्टास्यति	प्रतिष्ठास्यति
24	10	शिष्यो	शिष्यों
24	11	याज्ञवल्य	याज्ञवल्क्य
24	27	ढूंढ़ते	ढूँढते
25	1	पृथक	पृथक्
25	20	(अहमदावाद) के उत्तर में	अहमदावाद के उत्तर में
26	फु०नो० 2	शांकर	शांकर
30	12	एताः ह्वै प्राच्यै दिशौ	एता ह वै प्राच्यै दिशो
30	फु०नो० 1	दिशाच्यवन्ते (श०ब्रा०2,2,1,2)	दिशश्च्यवन्ते (2,1,2,3)
31	फु०नो० 1	हिस्ट्रो	हिस्ट्री
37	5	राजैनैतिक	राजनैतिक
41	9	–यञ्ज्ञो	–यञ्जो
43	3	अभ्र	अभ्रं
43	11	पञ्चति	पञ्चेति

44	1	स्वंर्गप्राप्ति	स्वर्गप्राप्ति
45	15	सम्याग्नि	सभ्याग्नि
46	16	संख्या	संस्था
48	फु०नो० 5	ग्रही	वही
49	फु०नो० 4	उपनिषद्ज्स	उपनिषद्स
50	24	हों	हो
56	20	(सोमाभिषव)	सोमाभिषव
61	फु०नो० 6	वदिक	वैदिक
63	19	पचरात्र-	पञ्चरात्र-
63	फु०नो० 2	-पुरुषमेघः	-पुरुषमेधः
66	6	विष्णु ने	विष्णु से
69	15	ब्रह्म	ब्रह्मा
72	2	यथा	यया
83	10	वह	वे
85	15	को	का
86	11	कहते हुए	करते हुए
92	3	समष्टिरूप में	समष्टि के रूप में
93	7	फ़िशनल	फ़िक्शनल
105	6	-सौभ्यः	-सौम्यः
109	फु०नो० 4	खमेध्यो	अमेध्यो
109	फु०नो० 5	चैवानृत च	चैवानृतञ्च
110	फु०नो० 5	वहो	वही
111	फु०नो० 4	वही	वहो
112	18	युयुत्त्सः	युयुत्सुः
113	फु०नो० 3	सोदवानसृजत	सोदेंवानसृजत
115	16	किरात-आकुलि	किलात-आकुलि
117	8	उद्धालकि	उद्दालकि
117	फु०नो० 8	वहो	वही
119	7	'शब्द'	शब्द
121	12	मनुष्य की	मनुष्य का
127	फु०नो० 2	पुँसा	पुंसा
136	6	उर्वाकम्	उर्वारुकम्
138	18	परिश्रुत	परिस्रुत
138	फु०नो० 7	वहीं	वही
140	8	वस्तुतः	वस्तुतः,
141	24	दुह्यु	द्रुह्यु
142	17	पुत्रों	पुत्रों
154	15	पुनर्प्रतिष्ठापान	पुनर्प्रतिष्ठापन

155	20	से लगा	सैलग
160	21	अधिकारियों	अधिकारों
175	फु०नो० 6	ककोक्ति:	कर्कोक्ति:
189	फु०नो० 2	पुल्साल्कर	पुसाल्कर
204	फु०नो० 5	मार्कंडेय	मार्कडेय
211	6	भव	भुव
212	19	भुवनाधितस्थ:	भुवनादितस्थु:
213	19	(संवत्सर:)	(संवत्सर:)
215	फु०नो० 9	वही	वही
237	19	अमिषिचन	अमिषिञ्चन
239	फु०नो० 9	डिक्शरी	डिक्शनरी
246	फु०नो० 9	द्रष्टव्य, में	द्रष्टव्य,
251	2	बेणुं	वेणु
251	3	वेणु	वेणुं
252	10	(पृष्ठ 206 में)	(पृष्ठ 206) में
259	27	'फय'	'पय'
269	13	सर्वं	सर्वं






महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
लिपी
पु०सं० 1865
भारती पुस्तकालय